प्रथम संस्करण, १९४४
द्वितीय संस्करण, १९४७
तृतीय संस्करण, १९५२

मुद्रक—
प० पृथ्वीनाथ भार्गव,
भार्गव भूषण प्रेस, गायघाट, बनारस।

क्रम-सूची

शेखर : संघर्ष

प्रथम खण्ड :

पुरुष और परिस्थिति

गाडी भडभडाती हुई दौड रही थी। नीलगिरि प्रदेश मे शेखर अपने माता-पिता और भाइयो को पाँच सौ मील पीछे छोड आया था, और अब मद्रास भी पीछे छूटा जा रहा था। नीलगिरि, मद्रास, महावलिपुर, मालावार, त्रावनकोर—सब पीछे छूट जाएँगे! वह आगे जा रहा है, गाडी उसे खीचती हुई वेतहाश उत्तर की ओर दौडी चली जा रही है, एक हज़ार मील जाकर ही दम लेगी—फिर वहाँ से दूसरी गाडी चलेगी जो एक हजार मील और परे घसीट ले जायगी सब इन अपने परिचय के स्थानो से दो हज़ार मील दूर!

लेकिन, ये सब उसके परिचित स्थान क्या है? उसे उनसे क्या है? नीलगिरि उसके लिए क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ उसके भाई-वन्द रहते है, महावलिपुर क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ वह डूवा था, त्रावनकोर भी क्या है, सिवाय इसके कि वहाँ शारदा थी और वह उससे लड आया? जब वह नही रहेगा, तब ये सब स्थान भी नही रहेगे ये सब इसीलिए है कि इनमे वह है, और अब वह इन सबसे भागा जा रहा है, अपने आपकी उन पर पडी हुई छाप से भागा जा रहा है, अपने-आपसे भागा जा रहा है

क्या यह सब सत्य है? क्या वे स्थान सत्य है? क्या वे सब लडाई-झगडे, प्यार, तिरस्कार, सत्य है। क्या वह खुद सत्य है? गाडी उसे खीचती हुई दौडी चली जा रही है, उसे लगता है कि कुछ भी सत्य नही है, शायद गाडी का दौडना भी सत्य नही है

लेकिन वह सत्य के सिवा कुछ हो नही सकता। शेखर अपनी पराजय से भाग रहा है, अपने दर्द से भाग रहा है। वह वेवकूफ है। वह जीवन से भागने की मूर्खता-भरी कोशिश कर रहा है। जीवन से भागकर वह जायगा कहाँ? जो युद्धमुख से भागता है, अपनी पराजय से भागता है, उसके लिए कदम-कदम पर और युद्ध है, और पराजय है, जब तक कि वह जान न ले कि अब और भागना नही है, टिककर लडने न लगे जीवन से भागना? आगे और जीवन है, जीवन तो रुक नही सकता, उसका तो विस्तार समाप्त नही हो सकता

होने दो। मद्रास एक हजार मील पीछे रह जायगा, पजाब एक हजार मील आगे है और वहाँ नया जीवन है, और विद्यावती है, और शशि है, और गाडी का शोर समुद्र के गर्जन की तरह है। समुद्र लेकिन यह गर्जन उसे समुद्र से परे खीचे लिए जा रहा है, परे

*   *   *
**   **   **

कद के लम्बे-तगडे, रग के गोरे, देखने मे सुन्दर और सुनने से समर्थ जँचने-वाले पजाबी लोग—शेखर ने उनकी आँखो से आँखे मिलाकर देखा, वे हटती नही है, न डर से और न अर्थहीन विनय से।

और उसने सोचा, ये आदमी मर्द है इनके साथ काम हो सकेगा, ये लडाई मे कन्धे से कन्धा भिडा सकेगे।

वह लडाई से भागकर आया था। थका हुआ आया था, इसीलिए वह इस समय अपने मे रण-तत्परता नही पाता था, तनाव नही पाता था। उसने मानो अपना कवच ढीला कर दिया था और सुस्ता रहा था। सोया वह नही था, आँखे खुली थी, लेकिन खड्गहस्त भी वह नही था, वह सिर्फ देख रहा था, उसकी आँखो मे सिर्फ पहचानने की चेष्टा का खुला भाव था, न दोस्ती का खिचाव, न दुश्मनी का सकोच।

और उसने इस नये प्रदेश के लोगो को दो वर्ष बाद फिर देखकर सोचा, ये आदमी मर्द है, इनके साथ काम हो सकेगा।

दो वर्ष पहले जब वह मैट्रिक की परीक्षा देने आया था, तब उसने इन लोगो को ठीक से देखा भी नही था। अपने मस्तिष्क को शारदा से भरे हुए वह आया था, और शशि की ही एक नयी छाप वह उस पर ले गया था, और विशेष कुछ उसने देखा नही था, लेकिन अब एक लडाई से आकर वह उन्हे योद्धा के ही माप से मापने लगा—यद्यपि थके हुए और सुस्ता रहे योद्धा के।

शेखर मे पक्षपात नही था—कुछ था तो पजाब और उसके निवासियो के हक मे ही—और वह आते ही कोशिश करने लगा कि उनके साथ एका म, एकप्राण हो सके। होस्टल के लडको से मिलकर उनके विचार जानने की, उनके आदर्श और उनकी कामनाएँ समझने की, उसने चेष्टा की। जब उसने देखा कि इसमे वह स्वय विघ्नरूप है, क्योकि वह उनकी भाषा नही बोलता है, उनके कपडे नही पहनता है, स्पष्ट दिखा देता है कि वह उनमे से नही है, तब उसने इनका भी इलाज करना आरम्भ किया। उसने दो-तीन सूट सिलवाये, कालर, टाइयाँ, मोजे, शू, कघी-ब्रुश, खुशबूदार तेल, पैंट दाबने का प्रेस और कोट टाँगने का फ्रेम, एक खाकी सोला हैट भी—ये सब चीजे वह निरीह भाव से ले आया। चीजे उसने सब साधारण ली, बहुत अधिक पैसा खर्च नही किया, पर उसकी पसन्द मे कुछ ऐसी विशेष सादगी थी कि चीजे दाम की सस्ती होकर भी सूरत की सस्ती नही जान पडती थी। भडकीली चीज इतना अधिक सामने आती है कि उसमे दृश्य महगेपन का होना लाज़िमी हो जाता है, जो चीज सामने नही आती, वह गुजारे लायक सस्ती होकर भी चल जाती है। सूट पहनकर जब वह अपने सहपाठियो मे आ मिला, तब उसने देखा कि जहाँ तक ट्रेडमार्क का सवाल है, वह उनकी पाँत मे खडा होने का अधिकारी हो गया है। भाषा का प्रश्न अभी था, वह उनकी भाषा ठीक तरह बोल नही सकता था, मुहावरा तो बिलकुल ही नही जानता था। फिर भी रग-ढग मे उन-सा होकर, और उनकी बात समझ लेने के काबिल होकर वह ऐसा गैर नही दीखता था। और उसे धीरे-धीरे उनके सम.ज मे प्रवेश मिलने लगा।

इस प्रकार वेश के सहारे जिस आसानी से उसे चारो ओर रास्ता मिलने लगा, उस पर उसे सन्देह होना चाहिए था, लेकिन वह सन्देह के लिए उपयुक्त मन स्थिति मे ही नही था। स्वीकृति पाना, स्वागत पाना, मान्य होना, कितना

अच्छा था शेखर चेहरे-मोहरे से विशेप असुन्दर नही था, और वह नया युरोपियन वेश भी उस पर वोझ की तरह नही वैठता था। चुप रहनेवाले, अपने ही भीतर रहनेवाले इस आधे जगली, आधे सन्यासी आदमी की जवान विदेशी सभ्यता की हर समय चलती ही रहनेवाली मिथ्या विनयभरी वातचीत म भले ही अटकती हो, लेकिन विदेशी वेश को निभा ले जाने मे उसे कोई कठिनाई या हिचक नही होती थी। यह वेश उसके लिए वहुत अपरिचित नही था, अग्रेजी भाषा भी उसकी मातृभाषा नही तो धातृभाषा तो थी ही—वोलना उसे एक अमेरिकन पादरी ने अपनी भाषा मे सिखाया था शीघ्र ही शेखर ने पाया कि उसे कालेज के अधिकाश लडके जानते है, और वैसे नही जानते जैसे मद्रास मे जानते थे उसे अपने आपमे सन्तोष-सा होने लगा, और इस सन्तोष से उसकी पढाई भी अच्छी होने लगी पहली तिमाही परीक्षा मे उसने देखा, वह चार विषयो मे से तीन मे प्रथम है। इससे उसकी प्रसिद्धि और फैली, उससे कुछ स्वागत और हुआ, कुछ परिचय और वढा और धीरे-धीरे यह चारो ओर से आता हुआ सम्मान एक नशे की तरह उसके शरीर मे असर करने लगा। उसने नही जाना कि कव और कैसे उसके खर्च का विल दुगने से अधिक हो गया है, कैसे उसके एक ट्रक की वजाय तीन सूटकेस कपडो से भर गए है, जव कि उसे ठीक समय पर ठीक रग की टाई तक नही मिलती है—टाई जो कुल मिलाकर दो घन इञ्च स्थान नही लेती होगी! जाना उसने तो यही कि लोग कपडे खरीदने मे उससे परामर्श लेने आते है, कालेज मे जिस दिन वह कोई नयी टाई पहनकर जाता है, उसके अगले दिन कई जगह वह देखने को मिलती है जव कि शेखर के गले से वह उतर चुकी होती है देखा उसने तो यही कि अव उसे वोर्डिगो के वाहर रहनेवाले विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो के भी निमन्त्रण आते है

और उसका कवच अभी तक ढीला ही था। कितना सुख था उसे ढीला छोडकर पड रहने मे, अपने को वायु के प्रत्येक झोके को समर्पित कर देने मे! यह वायु उसका श्रम हर लेगी, पसीन सुखा देगी, उसकी धमनियो मे थकान से दूपित हुए रक्त को ठण्डा करके ताजा कर देगी, उसका दर्द मिटा देगी अच्छा है अपने को वायु को समर्पित कर देना, झोके मे वहना

लेकिन झोके मे वहकर इधर उधर झूमने से यह लोहे का कवच चुभ जाता है जव तक कवच है, तव तक उसे कसा ही रहना होगा—या उसे उतारकर फेक देना होगा ताकि वह उलटा आघात न करे। क्या शेखर उसे उतारकर फेक दे? लेकिन वह तो अपने सव वस्त्र, वह सव झूठमूठ का आडम्वर जो राह मे वोझ होता, पहले ही उतारकर फेक आया था—अव तो कवच के नीचे उसकी नगी त्वचा है, नगी और नरम और जीवित और उसके नीचे हाड और मास और रक्त मे छिपकर रहनेवाला सूक्ष्म, निराश्रय, निस्सहाय, अशान्त जीव—स्वय शेखर तव क्या वह कवच को फिर कस ले?

लेकिन लडाई से हटकर नदी-तट पर पडी हुई नाव मे कवच ढीला करके पड रहना

जिस सारे समाज मे शेखर ने प्रवेश पा लिया था, अव वह जानने लगा कि वह समाज कई अलग-अलग टुकडियो मे विभक्त है। होस्टलो के छात्रो मे तो वह इस तरह की टुकडियाँ नही देख पाया, वहाँ या तो धन के हिसाब से वर्गीकरण था, या वुद्धि के हिसाब से, लेकिन वाहर के जिन लोगो से परिचय उसने पाया था, वहाँ की वात और थी। कभी उसे लगता कि ये टुकडियाँ सिद्धान्तो के आसरे वनी है, क्योकि किसी एक मे वह प्लेटो को आदर्श-रूप में पुजते हुए पाता तो दूसरे मे शोपेनहार को, किसी मे स्टोइक (Stoic) मत पर बहस होती हुई पाता, तो किसी मे हीडोनिज्म की चर्चा, कभी उसे लगता कि यह दलवन्दी अपने-अपने व्यसन विशेप का समर्थन करने के लिए है

शेखर ने अपने को धीरे-धीरे दो विभिन्न टुकडियो मे घनिप्ट होते हुए पाया। स्वभाव से ये दोनो टुकडियाँ एक दूसरे से काफी भिन्न थी, लेकिन शेखर का अपना अन्तर्विरोध ऐसा था कि वह दोनो ही मे आगे-आगे बढता जा रहा था।

पहली टुकडी के अधिकाश सदस्य शेखर के साथ ही छात्रावास मे रहते थे। इस छात्रावास मे जिसमे शेखर अपने पहले स्थान से इसलिए आ गया था कि यहाँ उसे छात्र-समुदाय के उन्नत अग से मिलने की आशा थी, प्राय अच्छी हैसियतवालो के वेटे रहते थे, और कालेज मे नाम भी अधिक वही का सुनने मे आता था, क्योकि खेलो मे—हाकी, फुटवाल, टेनिस आदि मे—और सभा-सोसाइटियो के वहस-मुवाहसे मे यही के लडके प्रमुख भाग लेते थे या यो कह ले कि ऐसे छात्रो को इस वोर्डिंग मे विशेप स्थान मिलता था

साथवाले कमरे मे नित्य शाम को हँसी सुनकर एक दिन शेखर भीतर गया था, तभी से इस टुकडी से उसका परिचय हो गया था। कमरा इस दल के प्रमुख सदस्य चतुरसेन का था, जिसे किसी ने देशी भापा मे वात करते नही सुना, और जो केवल इसी वूते पर वोर्डिंग के तीन मानिटरो में से एक था। वहाँ पर नित्य ही उसके साथियो का आना होता था—जिन्हे पहले दिन परिचय के समय तो शेखर ने नरेन्द्र, भूपेन्द्र और मोती के नाम से जाना लेकिन दूसरे दिन से क्रमश 'कालू' 'भोपू' 'पपी' नाम से पहचानने लगा। इस दल मे किसी को पूरा नाम लेकर वुलाना पाप समझा जाता था—तकल्लुफ था। "हम लोग तकल्लुफ नही चाहते—आदमी आदमी के सीधे सम्वन्ध मे वह विघ्न है। हम इनसान को इनसान कहकर जानना चाहते हैं, समाज के लिपे-पुते 'स्केयर क्रो' (डरौना) के रूप में नही।" यह कालू ने एक दिन कहा था। वात शेखर को वुरी तो नही लगी थी, लेकिन कालू के मुख से अजीव लगी थी क्योकि कालू सारे दल में सवसे कम वुद्धि रखता था। 'पपी' की वुद्धि प्रखर थी—कालेज मे भी उसका स्थान वहुत अच्छा था, लेकिन वह प्रत्येक वात पर एक विकृत व्यग-भरी हँसी हँस देता था, यहाँ तक कि अपने पर भी वह उसी के साथ निरन्तर कटाक्ष करता रहता था। अक्सर वह कालेज की लडकियो की वात करता था, और उसकी वात-वात से उनके—स्त्री जातिमात्र के—प्रति उसकी घोर अश्रद्धा और अवज्ञा टपकी पड़ती थी शेखर को लगता, यह आदमी तवीयत का यती है, लेकिन इसका सयम

करना अनावश्यक समझा था। केवल समय विताने के लिए सप्ताह मे चार-पाँच घण्टे एक कालेज मे अवैतनिक रूप से साहित्य पर लेक्चर देना स्वीकार कर लिया था और इस प्रकार विद्यार्थियो से अपना सम्पर्क वना रखा था। कालेजो मे यह वात प्रसिद्ध थी कि किसी कालेज का कोई भी योग्य लडका अवश्य मणिका देवी के मण्डल मे होगा, और इसीलिए अपने को योग्य समझनेवाले—या न भी समझनेवाले——लडके सदा इस ताक मे रहते थे कि किसी प्रकार उस मण्डल की सदस्यता प्राप्त कर सके

शेखर को वहाँ उसी की श्रेणी का एक लडका ले गया था। इस वगाली लडके के चपटे मगोल चेहरे और ऊँची पावर के चमकते हुए चश्मो के पीछे एकटक देखने-वाली और कुछ सूजी हुई-सी आँखो मे वेवकूफी टपकी पडती थी, किन्तु फिर भी वह था योग्य और अग्रेजी साहित्य के कुछ अगो पर उसका ज्ञान वहुत अच्छा समझा जाता था। शेखर ने अपनी परीक्षा मे रोजेटी और उसके 'प्री-रेफेलाइट' दल के कवियो पर जो निवन्ध लिखा था, उसी के कारण वह मणिका देवी के मण्डल मे जाने का अधिकारी समझा गया था और वह वगाली लडका उसे वहाँ ले जा रहा था।

शेखर चल तो पडा, किन्तु वह सोचता जा रहा था कि वह समय ठीक नही है। उस समय वह इन सव सभ्य दलो के प्रति क्षोभ और घृणा से भरा हुआ था। दिन मे नहाते समय वाथरूम मे ही उसकी कालू से लडाई हो गई थी—वाथरूम मे उसे देर करते देख वाहर खडे कालू ने गाली दी थी और शेखर ने नगे ही वाहर निकलकर उसे पीटा था—उस समय से शेखर के भीतर कुछ उवल रहा था। ऐसी हालत मे वह जाना नही चाहता था, किन्तु यह जानकर कि उसके लिए समय निश्चित किया गया है, वह चल पडा।

मणिका देवी का ड्राइग रूम सुन्दर था, किन्तु उसे उसका सौन्दर्य देखने का अवकाश न मिला।

कमरे मे वैठे तीन और व्यक्तियो को अवश्य वह एक नजर देख गया। सोफे पर लेटी हुई मणिका ने शेखर और उसके साथी को प्रवेश करते देखकर साथी पर आँख टिकाकर पूछा, "हलो, रसगुल्ला, यही तुम्हारे मित्र है?"

शेखर ने चौंककर अपने साथी की ओर देखा। हाँ ठीक तो है, रसगुल्ला, इस सोफे पर लेटी हुई दुवली औरत की तीखी जवान और उसके द्वारा चुने हुए नाम की उपयुक्तता पर वह एक हल्की-सी मुस्कराहट रोक नही सका। रसगुल्ला—एक वार यह नाम सुनकर मानो यह कल्पना करना कठिन हो गया कि इस आदमी का दूसरा भी कुछ नाम हो सकता है!

शेखर ने यह भी देखा कि जव तक रसगुल्ला उसका परिचय कराता है —'मेरे मित्र चन्द्रशेखर पण्डित,—मिस मणिका देवी' तव तक मणिका ने सिर से पैर तक उसे देख लिया है और मन ही मन यह तय कर लिया है कि यह व्यक्ति दिलचस्प नही है।

मणिका ने वाँह फैलाकर कुर्सी दिखाते हुए कहा "वैठिए। आप सिगरेट पीते है?"

"धन्यवाद—मैं नही पीता।"

मणिका के दाईं ओर बैठे एक मोटे से, गुलाबी नाकवाले एग्लो-इडियन व्यक्ति ने कहा, "मिस मानिका, यह क्यो, वह दीजिए न इन्हे, दीक्षित कीजिए।" और एक गिलास शेखर के पास रखकर पुकारा, "बेरा!'

शेखर ने उसके हाथ के इशारे का अनुकरण करते हुए देखा, मणिका के पास एक साइड टेबल पर एक ट्रे मे दो बोतले और दो-एक छोटे-बडे गिलास पडे हैं।

"धन्यवाद, नही।"

"अरे आप नही पीते? तब तो यहाँ नही चलने का! मैं तो पिये बिना नही रुकता! और सभ्यता—"

मणिका ने कुछ रुखाई से कहा, "सभ्यता को तो बख्श दीजिए, भले आदमी।"

रसगुल्ले ने कहा, "मैथ्यूज तो हमेशा यही कहता है कि शराब छोडने से ग्रीक सभ्यता बरबाद हुई—जब तक ग्रीक लोग पीते रहे, बने रहे।"

बेरा चाय ले आया था। अब तक चुप बैठे हुए व्यक्तियो में से एक ने पूछा "चाय तो आप पीते होगे मिस्टर पण्डित?"

"नही, मैं नही पीता।" प्रश्न मे एक हल्का-सा व्यग था, जिससे शेखर झल्ला-सा उठा। बोला, "इतना ही नही, मुझे इस पर भी आपत्ति है कि आप यह प्रश्न भी करे। 'चाय तो आप पीते हैं? सिगरेट तो आप पीते है? शराब तो आप पीते हैं?' मानो सभ्यता की कसौटी ही यह प्रश्न है—'आप पीते हैं?'"

मणिका के चेहरे पर पहली बार कुछ दिलचस्पी दीखी। उसने कहा, "खूब, पण्डित, आज पहली अक्ल की बात सुनने मे आई है।"

मैथ्यूज़ ने कुछ द्वेष से कहा, "मिस्टर पण्डित बोले तो। मैं तो समझा कि 'नही' और 'धन्यवाद' के सिवाय कुछ बोलते नही।"

"महात्मा लोग थोडा बोलते हैं, पर बोलते है काम का।"

शेखर ने इन बौछारो की ओर उपेक्षा प्रकट न करने के लिए रसगुल्ले की ओर उन्मुख होकर पूछा, "तुम भी पीते हो?"

मणिका मुस्कुराती हुई बोली, "तो आप उनकी सभ्यता परखने चले है?"

हँसी का कहकहा लगा। मैथ्यूज़ बोला, "अरे रसगुल्ला? वह तो स्पज रसगुल्ला है—स्पज की तरह शराब सोखता है—"और अपने श्लेष व्यग पर स्वय ही हँस दिया।

शेखर ने कहा, "पजाब का विद्यार्थी-जीवन इतना पतित है, मैं नही जानता था। मैं समझा था, इस हट्टे-कट्टे शरीर के लोगो मे कुछ सार होगा, पर सब सडे हुए है, सडे हुए।"

पालतू सुनहली मछलियो के रगीन जल से भरे पात्र मे एक केंकडा घुस आये तब मछ-

लियो की जो हालत होती है वही उस गोष्ठी की हुई। बहुत जल्दी ही सब उठकर चल दिये, और अपने को अकेले मणिका के सामने पाकर शेखर भी विदा लेने को उठ खडा हुआ।

मणिका ने भी उठते हुए कहा, "आपसे मिलकर मुझे खुशी हुई–"और इस साधारण शिष्टाचार का वैसा ही उत्तर शेखर देनेवाला था कि वह आगे कह गयी, "मेरे यहाँ आनेवाले लोगो मे वुद्धि तो है, पर चरित्र नही, इसके लिए मुझे भी दुख है। हमारे दाँत तो बडे-बडे है, पर आँते नही है–कौर बहुत बडा ले लेते है, पर पचा नही सकते। आपको खाने मे अनिच्छा दीखती है, लेकिन सिस्टम ठीक-ठीक है।" क्षण भर रुककर वह फिर बोली, "सचमुच मुझे खुशी हुई है मिलकर।" इस बार स्वर मे शिष्टाचार नही, सत्य था।

शेखर ने हल्की-सी कृतज्ञता से कहा, "नमस्कार!"

"नही, ऐसे–"कहकर मणिका ने हाथ बढाया। शेखर ने हाथ मिलाया, मणिका बोली, "फिर अवश्य आना, जान दी वैप्टिस्ट।"

शेखर को नाम अच्छा लगा –"जान दी वैप्टिस्ट।" इसमे अवश्य इस आधे पागल, पैगम्बर की-सी रूखी सद्भावना थी। और मणिका के हाथ का दवाव भी अच्छा था–उसमे वात्सल्य था, वह मानो पुरुष का हाथ था।

* * *

मणिका के चरित्र मे एक विचित्र कारुणिकता थी जिसे देखकर झल्लाहट भी होती थी दया भी आती थी और थोडा-सा आदरभाव भी होता था, जिसके कारण शेखर तीन-चार वार और उसके घर गया, प्रतिबार वह कुछ अधिक प्रभावित और बहुत अधिक खिन्न होकर आता था। मणिका मे प्रखर प्रतिभा थी, किन्तु उसको सयत रखने की दृढता न थी, पर साथ ही अपने मे दृढता न होने का करुण और उत्ताप-भरा ज्ञान भी था जिसके कारण उस पर क्रुद्ध होना सहल नही था।

पहली मुलाकात के बाद एक दिन तीसरे पहर शेखर ने मणिका से चाय का निमन्त्रण पाया था, जिसमे शिष्टाचार के निमन्त्रण-वाक्य के आगे लिखा था, "उस समय कोई अवाञ्छनीय व्यक्ति नही होगे, आप निश्चिन्त रहे।" और उस दिन शेखर ने जाना था कि मणिका का ज्ञान कितना गहरा और शक्ति कितनी कम है—यद्यपि ज्ञान ही को शक्ति कहा गया है।

दो-तीन बार और भी शेखर निमन्त्रित होकर गया, कभी भी उसने किसी अन्य व्यक्ति को उपस्थित न पाया। उसके बाद उसका परिचय ऐसा हो गया कि वह बिना बुलाए भी बेधडक जा सके।

एक दिन खाना खाकर शेखर घूमने निकला, तो उसके मन मे हुआ कि वह मणिका से मिल आये। वहाँ विलायती रीति-रिवाज का पालन होता है, तब डिनर के बाद बातचीत के लिए जाने मे कोई अनौचित्य नहीं है, यह सोचकर

वाहर ही उसे मैथ्यूज़ मिला। उसे अच्छा नही लगा—मैथ्यूज भी इस आकस्मिक मिलन से प्रसन्न नही हुआ।

शेखर ने ड्राइङ्ग-रूम का द्वार खटखटाया, फिर खटखटाया, फिर भीतर चला गया। ड्राइङ्ग-रूम खाली था, आगे डाइनिग-रूम का द्वार भी खुला था, मेज पर जूठे वर्त्तन पडे थे किन्तु कमरे मे कोई नही था। शेखर क्षण-भर असमजस मे खडा रहा, फिर ड्राइङ्ग-रूम मे एक कुर्सी पर वैठा और तत्काल उठ खडा हुआ। सामने ड्राइङ्ग-रूम के कोने की तरफ धीमे प्रकाश मे, नीले सोफे पर एक अस्त-व्यस्त नीली साडी पहने मणिका लेटी हुई थी, एक नगी वाँह लटककर फर्श पर टिकी थी।

शेखर ने पुकारकर कहा, "क्या हुआ, आप स्वस्थ तो है?" फिर पास जाकर दुवारा पूछा, "क्या वात है, मिस मणिका?"

मणिका की पलके अनिश्चय से काँपी, फिर खुल गई। क्षण-भर शेखर के चेहरे पर स्थिर रहकर फिर झिप गईं। एक वार फिर वे खुली—उन्हे खोलने का प्रयास मुख पर स्पष्ट झलक गया—और तव मणिका ने कहा, "शेखर, ओह!" एक वार उठने का प्रयास किया, हार गयी, और फिर मानो हताश-सी होकर वोली, "शेखर—I am dead drunk! (मै नशे मे धुत् हूँ।) वह मैथ्यूज कुछ लाया था—इतनी तेज शराव मैंने पहले नही पी—मै नही जानती थी—वदमाश!"

"मैथ्यूज़ लाया था? आपने पी क्यो—" शेखर कुछ सोच नही सका कि क्या कहे।

"पी! मैने पी!" मणिका हँसी। "मेरी हँसी वेहूदा है न? मै जानती हूँ। I am feeling stupid, stupid (मै होश मे नही हूँ।)", कुछ रुककर, "वह किताव उठा देना तो, नीली जिल्दवाली—और लैम्प इधर खीच देना—"

शेखर ने वैसा ही कर दिया। मणिका ने किताव लेकर काँपते हाथो से खोली और उँगली से एक जगह वताते हुए कहा, "यह कविता तुमने पढी है?"

शेखर ने विस्मय और सम्भ्रम मे वह पुस्तक उसके हाथ से ले ली, और अनमना-सा पढने लगा।

"जोर से पढो, मै सुनूंगी।"

शेखर ने पढा —

My candle burns at both ends
It will not last the night
But ah my foes, and oh my friends—
It gives a lovely light!*

---

* मेरी वार्ता दोनों सिरों से जल रही है,
वह रात भर नहीं रहेगी—
किन्तु मित्रगण और शत्रुगण,
कितनी सुन्दर है उसकी दीप्ति!

शेखर चुप हो गया।

"आगे पढो।"

पीड़ित स्वर से शेखर ने कहा, "मुझे क्षमा करे, इस समय और पढने की इच्छा नही है।"

"इच्छा नही है ? क्यो ? पर तुम ठीक कहते हो। तुम्हे मुझ पर दया आती है न ?"

शेखर ने उत्तर नही दिया।

"लेकिन मै कहती हूँ—" आवेश मे मणिका उठ बैठी—"तुम गलती करते हो। और तुम विना बुलाये क्यो आये ?—चले जाओ—मेरे एकान्त मे विघ्न बनकर मुझ पर दया करनेवाले तुम हो कौन ?"

शेखर लौटने के लिए फिरा, तब मणिका फिर हँसी—"मै नशे मे हूँ न, मै जानती हूँ। कैसी बेवकूफो-सी हँसी है मेरी। हाँ, तुम जाओ। बुलाने पर ही आना, समझे ?"

शेखर चल पडा।

"मै ठीक कहती हूँ। Burn at both ends, शरीर इसी के काबिल है। इसी के काबिल। तुम मूर्ख हो, मूर्ख, मेरे जान दि बैप्टिस्ट!"

बाहर शेखर को याद आ रहा था, एक दिन पहले बात-बात मे मणिका ने पूछा था, "आप को कोई शौक है ?" और उसने योही कह दिया था, "मुझे चित्र सग्रह करने का शौक है।"

"How uninteresting! (कितना अरुचिकर!) कोई जीव नही ?"

शेखर ने बताया कि बहुत पहले उसे पशु-पक्षी पालने या तितलियाँ पकडने का शौक था, अब नही रहा।

"बस ? I collect men! (मै तो पुरुषो का सग्रह करती हूँ!) कैसे-कैसे अजीब नमूने होते है—लेकिन—"एकाएक उसका स्वर ऊब और थकान से भर गया था—"चमडी के नीचे सब एक-से! असभ्य, असस्कृत—लोलुप पशु!"

उस दिन का यह वार्तालाप याद करके शेखर के मन ने जोडा—"चमडी के नीचे सब एक-से—सब पुरुष, सब स्त्रियाँ—पुरुष और स्त्री, स्त्री और पुरुष"

* * *

'दाँत है, पर आँत नही, कौर लेते है, पर पचा नही सकते—'

'चमडी के नीचे सब एक-से—लोलुप पशु—'

'जान दि बैप्टिस्ट—'

तुम मूर्ख हो, मूर्ख—'

मन मे दृढ निश्चय किये हुए कि अब वह विना बुलाये क्या, बुलाने पर भी मणिका के यहाँ नही जायगा, कालू से लडने के बाद चतुरसेन के दल से बहिष्कृत, अपने से कम बुद्धिवालो से अभिमान के कारण खिचा हुआ, बार-बार अधिक खर्चा माँगने पर सन्तोषजनक उत्तर न आने से घर से अप्रसन्न, शेखर जब एक विषण्ण औदास्य मे अपने

कमरे मे बैठकर दुर्दम अभिमानी घोडे की तरह अतीत की मिट्टी खूँदने लगा, और चाहने लगा कि पहले की भाँति ऐसे समय मे अपने को सान्त्वना देने के लिए गद्य मे या पद्य मे कुछ लिखे तब उसने पाया कि मणिका के कहे हुए कुछ-एक वाक्य बार-बार आकर उसके विचारो को बिखेर देते है और उसे बाध्य करते है कि आसानी से उन्हे टालने के बजाय उन पर विचार करे वह नही चाहता था वैसा करना, किन्तु उसकी स्मृति मे ही कुछ ऐसी बाध्यता थी कि वह विवश हो जाता था। चतुरसेन के दल के लोगो को और कौल बहिनो को वह बडी आसानी से मन से निकाल सका था—वे केवल एक क्षुद्र व्यभिचार के फैशनेबल रूप थे, किन्तु मणिका—वह एक शक्ति का विकृत और भ्रष्ट रूप था जो ग्लानिजनक था, पर तिरस्कार्य नही—उसकी उपेक्षा नही होती थी।—मणिका की—उसकी श्रेणी की—आत्मा रोगग्रस्त थी, किन्तु थी आत्मा, और वह रोग भी एक उसका अकेला नही था, वह आधुनिक आत्मा का रुझान ही था।

शेखर ने सान्त्वना की खोज छोड दी, गद्य और पद्य का मोह छोडकर वही लिखना आरम्भ किया जो उसके मन मे से बीत रहा था—विद्यार्थी और शिक्षक फैशन और सस्कृति, बुद्धि और वासना, प्रवृत्ति और निवृत्ति और आसक्ति धीरे-धीरे उसके लिखने की गति बढने लगी, मन भी मानो ढाँचे मे ढलने लगा, और बढते हुए विस्मय मे उसने देखा कि अब वह गद्य और पद्य, कथा और निबन्ध सभी कुछ लिखता जा रहा है, और यद्यपि वह लिखकर सृजन का सुख नही, केवल परिश्रम का सन्तोष पाता है, यद्यपि वह कल्पना के मधुर रङ्ग से नही, केवल परिचित अनुभूति के तिक्त रस से ही पन्ने रँग रहा है, और लिखकर कभी भी लिखे हुए को पढने की इच्छा का अनुभव नही करता, कागज़ उठाकर आलमारी के बडे दराज़ मे पटक देता है—तथापि उसका मन शिक्षित और विकसित होता जा रहा है। धीरे-धीरे उस पर यह ज्ञान या विश्वास हावी होने लगा कि जिनके बारे मे वह लिख रहा है, जो पुरुष और स्त्री उसे घेरे हुए है और उसकी दुनिया को बनाते है, वे सब अन्ततोगत्वा बुरे नही है, वे सदिच्छाओ के बलहीन पुञ्ज है—उनमे सत्कामना है, लेकिन कामना पर्याप्त नही है। वे इससे सन्तुष्ट है कि वे शिव की कामना करते जायँ और अशिव उन्हे घेर ले, बाँध ले, तोड ले क्या ऐसो से घृणा करने का साहस मानव कर सकता है ? किन्तु क्या ऐसो पर दया करना ही साहस का काम नही है ? एक अकेला मानव अखिल ससार को दया की दृष्टि से देखे—इतनी स्पर्धा उसकी !—और धीरे-धीरे बिना इस प्रश्न का कुछ निपटारा हुए ही उसके रँगे हुए पन्नो का ढेर बढने लगा, यहाँ तक कि उसने अपनी लिखी हुई कापियाँ एक बक्स मे भरना शुरू किया, फिर वहाँ उनको श्रेणियो मे बाँटकर रखना सम्भव न पाकर एक आलमारी भर डाली .

और उसके मित्र उसके नव-जागृत वैराग्य पर हँसने लगे। चतुरसेन-मण्डली ने इसमे अपनी भारी विजय समझी, और मौके-बेमौके शेखर के बाहर निकलने पर कुत्ते-बिल्ली की पुकारो से उसका स्वागत करके अपना विजयोल्लास दिखाने का नियम-सा बना लिया, अन्य लोगो ने समझा कि परीक्षा की तय्यारी है, कुछ ने कहा कि माँगे हुए सूट-बूट

पहनता था, अब मिलते नही इसलिए वाहर नही निकलता वदनाम उसे सब ने कर दिया, किन्तु वास्तव मे वह करता क्या है, यह जिज्ञासा सब मे बनी रही।

तब गर्मी काफी हो गयी थी--परीक्षा के दिन निकट आ गये थे। एक नशे-से मे शेखर ने दो-चार पुस्तके पढकर तय्यारी की, नशे-से मे परीक्षा दे दी और जान लिया कि वह अच्छी तरह पास हो जायगा और फिर लिखने मे जुट गया। परीक्षा के बाद उसके सहपाठी तो घर चले गये थे, लेकिन बाकी विद्यार्थियो ने उसे अब भी पढाई मे जुटे हुए पाकर आई० सी० एस० की तय्यारी से लेकर अफीम खाने तक सब तरह की अफवाहे उसके विषय मे उडाईं, पर वह जुटा ही रहा। अन्त मे शेप विद्यार्थियो की भी छुट्टियाँ आई, सब अपने-अपने घर चले गये और शेखर अकेला रह गया।

एकान्त के लिये शेखर तैयार नही था। एकान्त का एक आतक-सा उस पर छाया हुआ था। उसे आवश्यकता थी निरन्तर उससे– अपने से--भागते रहने की, निरन्तर अपने को कही केन्द्रित किये रहने की। होस्टल मे अपने को अकेला पाकर उसका मन नौकरो की ओर गया—एकाएक उनके जीवन मे उसे दिलचस्पी हो गयी। किन्तु दो या तीन दिन के बाद उसने तय कर लिया कि वहाँ कुछ अधिक नही है जो मन को उलझाए रखे--ये पहाडिये दिन-भर चिलम पीते हैं और गन्दी बाते करते है, शाम को दो-एक गीत गा लेते है ओर रात को कबड्डी खेल लेते है, बस। तब अपने निकट कही भी कुछ रुचिर न पाकर उसने योही सडक-सडक और गली-गली घूमना प्रारम्भ कर दिया। दिन मे गर्मी बहुत होती थी, अत दिन-भर वह सोया रहता, शाम से आधी रात तक घूमता रहता और दो-एक घण्टे सोकर फिर प्रात काल की सैर कर लेता।

जिन लोगो ने इस तरह निरुद्देश्य भटकने मे--विशुद्ध आवारापन मे—कुछ समय नही बिताया है, वे कल्पना नही कर सकते, इसका नशा कितना गहरा है। शेखर ने देर तक नही समझा कि जिस जिज्ञासु-वृत्ति ने उसे फुरसत के समय भटकने की ओर प्रेरित किया था, वही इसके कारण नष्ट होती जा रही है—वह क्रमश पक्का 'लोफर' बनता जा रहा है जिसे कोई भी जिज्ञासा नही है, कोई भी इच्छा, आकाक्षा, अभिलाषा, चेष्टा नही है, जो इससे अधिक कुछ भी अस्तित्व नही रखता कि 'वह है'। अनजाने ही वह ऐसी परिस्थिति के निकट आता गया जहाँ वह भूखा होने पर चोरी करके खा सकता, विना इसका ध्यान भी किये कि उसने चोरी की और भूख के लिए की; या शीत होने पर विना उसे अनुभव किए ही किसी का कम्बल चुरा ले सकता था

इसलिए जिस दिन वह एकाएक उस पथ पर जा पडा जिस पर एक दिन उसने चतुरसेन आदि का अनुसरण किया था, तो इसमे वह पूर्णतया अपराधी नही था, यद्यपि उस समय था वह होश मे और खूब सचेत।

* * *

ज्यो-ज्यो वह उस धुँधले और रग-विरगे प्रकाशवाले मुहल्ले मे घूमने लगा, त्यो-त्यो उसका मन अधिक जाग्रत और चौकन्ना होने की वजाय शिथिल और अलसाना होने लगा। इस पर उसे कुछ खीझ और क्लेश भी हुआ। उसने मानो अपने को जगाने के लिए अपने मन को झझकोरकर कहा, "शेखर, जागो, समझो तुम कहाँ हो! यह है वेश्याओ का मुहल्ला, यहाँ शरीर विकते है, यहाँ तृप्ति विकती है, यहाँ सुख विकता है। समझे?" किन्तु उसके मन ने इसे पकडने से इनकार कर दिया। शेखर ने वढते हुए रोष से वार-वार दुहराना आरम्भ किया, "वेश्या, वेश्या, वेश्या, प्रास्टिट्यूट, रण्डी, समझे? जहाँ वन्धन नही है—लज्जा नही है—रोशनी नही है, अन्धकार नही है—है रग—रँगे हुए मुँह " किन्तु इससे भी उसका मन शिथिलतर ही होता गया, जागा नहीं, शेखर का नियन्त्रण करने को राजी नही हुआ, उसे आगे वढाने को भी तय्यार नही हुआ। मानो आगे जो जा रहा है, ओर जो चेतावनी दे रहा है, दोनो से उसे कोई सरोकार नही है

एकाएक कोई औरत उससे टकरा गयी, उसने अचकचाकर देखा, वह टक्कर अचानक नही लगी है, औरत ने जानवूझकर उद्धतता से, अश्लीलता से, उसे धकेला है। शेखर एकटक उसकी ओर देखता रहा—विना क्रोध के, विना अनुभूति के, और एक ओर हटकर खडा हो गया। औरत ने अचम्भे-से मे एक गाली दी और वढ गयी। शेखर ने अपने से पूछना चाहा, वह क्यो वहाँ आया, क्या करने आया, क्या लेने आया? उसने शायद उम्मीद की थी, कोई सनसनीदार घटना होगी या तीव्र घृणा होगी, या क्रोध होगा, कोई ऐसी विराट प्रतिक्रिया होगी जो उसे भीतर आन्दोलित कर देगी, उसे दहला देगी—वह इस हल्की—वहुत हल्की! —ग्लानि-भर के लिए प्रस्तुत नही था—न इस धीमी-सी उलझन के लिए

एक चवूतरे पर दो छोटे-छोटे अधनगे लडके वैठे हुए थे। वे एक वीभत्स मुद्रा वनाये साथ सटकर वैठे हुए परस्पर गले मे वाँह डाले एक दूसरे का मुँह चूम रहे थे और प्रत्येक चेष्टा के वाद सामने एक खिडकी की ओर देखकर एक अर्थभरी हँसी हँस देते थे। शेखर ने उनकी दृष्टि का अनुकरण किया—नीले विजली के अण्डे के प्रकाश मे फालसई रग की साडी पहने एक स्त्री वैठी थी और उस रगीन प्रकाश मे उसका पाउडर मे रँगा हुआ मुँह ऐसा लग रहा था जैसे—पानी मे पडी हुई लाश का

शेखर आगे वढ गया।

एक खिडकी के नीचे चारखानी जूट की तहमते पहने चार-पाँच मुसल्मान खडे थे और एक लम्वे कद के फकीर की ओर देख रहे थे। फकीर वूढा था, गेरुआ पहने था, गले मे मोटे-मोटे दानो की कठी पहने था, और सामने झरोखे पर वैठी एक कुरूपा अधेड स्त्री की ओर उन्मुख होकर कह रहा था, "क्यो, तुम मादा नही हो? मेरे पास पैसा नही है, मै भीख माँगता हूँ, पर—" छाती ठोककर—"मै मर्द हूँ, मर्द " वह औरत उसकी तिरस्कार-भरी दृष्टि मे देख रही थी, और जुटे हुए लोग हँस रहे थे

नही। यहाँ भी नही। यहाँ भी केवल वही हल्की-सी विरक्ति, एक धर्

जूट

और मणिका के एक वाक्य की अनुगूंज—'चमडी के नीचे सब एक-से होते है'—लोलुप पशु पुरुष और पुरुष, स्त्री और स्त्री, पुरुष और स्त्री शेखर और आगे बढ गया।

एक छोटी-सी, चिथडो मे अधनगी लडकी ने उसकी बॉह खीचकर कहा, "बाबू, पैसा दो।"

"पैसा मेरे पास नही है, भाग जाओ।" शेखर ने बॉह झटक दी, स्वर भी उसका कठोर था।

लडकी उसकी टागो से चिपट गई। बोली, "दो, नही तो मेरे साथ आओ—पीछे दे देना।" कहकर उसने दूर एक कोठरी की ओर इशारा किया जिसमे एक लालटेन जल रही थी

शेखर ने अपने को छुडाया भी नही, वैसे ही यंत्रवत् आगे चलता गया। लडकी ने उसे छोड दिया।

एक ओर से आवाज आई, "किन्नो, देख तेरे देश का आदमी जा रहा है—बुला तो?"

शेखर को क्षीण-सा कौतूहल हुआ। नाम मे वह नही जान सका कि कौनसे प्रान्त की है वह जिसे सम्बोधन किया गया है और जिसका स्वदेशीय उसे समझाया गया है। पर वह रुका नही, न उसने मुडकर देखा, यद्यपि उसने उधर से उसे लक्ष्य करके उत्पन्न की गयी चुम्बन की जोरदार ध्वनि सुनी

वह मोड पर मुडा ही था कि सामने से आता हुआ कोई बोला—"फूल ले लो!"

नही, वे चमेली के गजरे नही थे। शेखर ने एक बार देखा, ऐसे लडखडाया जैसे गोली खा गया हो, फिर स्वस्थ होकर सिर झुकाए, एक हाथ से ऑखे छिपाता हुआ भागा—भागा उस स्थान पर—कुमुद के गट्ठे! कुमुद जो उसके लिये स्वच्छता का प्रतीक बन गये थे, जो

वह भागा, और न जाने क्यो एक निरर्थक वाक्याश हथौडे की चोट की तरह बार-बार उसे उद्वेलित करने लगा—ईश्वर और मानव—ईश्वर और मानव ..

उन कुमुद के फूलो ने उसके विचार की धाराओ को जिस मार्ग पर डाल दिया, और छुट्टियो मे घर न लौटने के निर्णय ने उन पर जो कैद लगा दी, उसके कारण शेखर के मन मे शीघ्र ही काश्मीर जाने की लालसा तीव्र हो उठी। उसके शैशव का वह सुन्दर क्रीडास्थल कितने दिन हो गये थे उसे कुछ भी सुन्दर देखे हुए, और कितनी तीव्र वेदना थी उसके हृदय मे कुछ ऐसा देखने के लिए—जो सुन्दर हो, सम्पूर्ण सुन्दर हो .

लेकिन क्या वह सत्य था? क्या वह सचमुच सौन्दर्य की खोज थी जिसके कारण उसका जीवन इधर इतना अशान्त हो गया था? क्या वह उसकी परि-

उसे निश्चय नही था, किन्तु युद्ध तो सम्भावनाओ का पीछा करने का ही दूसरा नाम है, और जीवन केवल सम्भावनाओ को पकडने का दीर्घ प्रयास है

*   *   *
**   **   **

चीन की एक पुरानी कविता है, जिसका भावार्थ है, "व्यक्ति क्यो यह इच्छा लेकर अलसाया पडा रहे कि उसकी हड्डियाँ भी उसके पिता की हड्डियो के साथ ही समाधिस्थ हो ? जहाँ भी कोई चला जाय, वही कोई शस्य-श्यामला पहाडी मिल सकती है।"

इसी कविता को प्रमाण-वाक्य बनाकर शेखर कश्मीर के लिए चल पडा। जाता हुआ वह अपने मस्तिष्क को अतीत की पुनर्जात स्मृतियो से भरता जाता था, किन्तु उसकी मधुरता उसे बाँधती नही थी, अतीत के साथ समाधिस्थ होने की ओर आकृष्ट नही करती थी, केवल यह चाहना जगाती थी कि वह उससे भी अधिक शस्य-श्यामला पहाडी खोज ले, चाहे जहाँ भी उसके लिए जाना पडे

कुछ हँसी भी उसे आती थी अपनी खोज पर—सत्य की खोज, ज्ञान की खोज, मुक्ति की खोज तो सुनी थी, सौन्दर्य की खोज करनेवाला जिज्ञासु वह पहला ही था !

अतीत झूठ था कोई शस्य-श्यामला पहाडी उसमे नही थी—केवल समाधियाँ !

शेखर ने श्रीनगर पहुँचकर गली-गली छान डाली—उस पर कुछ भी प्रभाव न पडा। श्रीनगर मे कुछ भी उल्लेखनीय नही था—सिवाय भिन्न-भिन्न प्रकार की गन्ध के। नगर के वाहर सुप्रसिद्ध उद्यानो की सैर भी उसने की—किन्तु वहाँ पर थी केवल रेखाये और कोण और वृत्त—और वृक्षो की कठोर शालीनता और अति-व्यवस्था केवल मृत्यु की शान्ति का ध्यान दिलाती थी। जिस व्यक्ति ने इन उद्यानो पर लिखाया था "अगर फिरदौस वररुए जमीन अस्त, हमीन अस्तो हमीन अस्तो हमीन अस्त" वह अवश्य कोई गणितज्ञ रहा होगा जिसे वागवानी का शौक चर्राया होगा शेखर ने नदी-नाले और झीले पार की, पर उनका सौन्दर्य दर्शको और यात्रियो की, और उनके धुएँदार डूँगो की वेहूदा भीड से विकृत हो गया था। तव उसने नगर छोडकर हिमालय की अक्षत शुभ्रता मे छिपी हुई एक झील की ओर प्रयाण किया, राह के दोनो ओर पार्वत्य उपत्यकाओ में खिले हुए लाल, पीले, नीले, और श्वेत पुष्पो को उडती निगाह से देखकर वह इतनी ऊँचाई पर पहुँचा कि जहाँ-तहाँ चट्टानो की ओट मे छिपी पिछले वर्ष की वर्फ दीखने लगी। एक चट्टान की आड मे से उसने अकेला खिला हुआ वह आस्मानी रग का पोस्त का फूल भी तोडा जिसे पाना सौभाग्य है—कैसा है उस फूल का भाग्य जिसका पाया जाना पानेवाले का सौभाग्य है किन्तु फूल का अन्त ! —किन्तु सौन्दर्य, सौन्दर्य उसे न मिला ! वह और भी ऊपर चला, साथ के कुली विद्रोह की तय्यारी करने लगे क्योकि जिवर वह जा रहा था उवर गये तो लोग थे पर टिका कोई नही था—किसी का खेमा वहाँ नहीं गडा था पर "वही तो मिलेगा सौन्दर्य !" कहकर शेखर उन्हे किसी तरह झील तक ले गया, झील के किनारे खेमा गाडकर वह पड़ गया और सोचने लगा, इससे आगे कहाँ ?

झील बडी थी, वीच मे जगह्-जगह वर्फ की चट्टाने तैर रही थी, ऊपर कूंजो की एक डार कभी इधर कभी उधर उड जाती थी, और हवा का झोका झील के आर-पार मानो किसी पार्वत्य देवी का प्रशस्त पथ तय्यार कर रहा था। शेखर देखा किया, फिर थकान के कारण और जाडे से कुछ काँपकर उसने खेमे का परदा डाल दिया और लेटकर सोचने लगा, यहाँ से आगे पथ नही है, पीछे ही लौटना होगा, पर उसे तो पीछे कभी पथ दीखा ही नही है, वह जायगा कैसे

झील के किनारे की एक चट्टान की आड मे खडे शेखर को जान पडा, सामने दो चट्टानो से जो अँधेरी-सी गुफा वन गयी है, उसमे खडी कोई शुभ्रवसना देवी पानी मे अपने पैर भिगो रही है। फिर उसे लगा, नही, वह देवी नही, मानवी है, और शेखर की परिचिता है। किन्तु कौन ? नही, चेहरा केवल किसी से मिलता है—शारदा ? शशि ?

शेखर एकाएक जाग पडा। वह सो गया था, सोते समय खेमे के परदे की थोडी-सी खुली जगह मे से चाँदनी उसके मुँह पर आ रही थी। स्वप्न से वह अशान्त-सा हो गया, कुछ-कुछ अपराधी होने का भी भाव उसके मन मे आया। उसने कन्धे पर कम्वल डाल लिया और खेमे से वाहर निकल गया।

वाहर खुली चाँदनी छिटकी थी, इतनी प्रोज्ज्वल कि निरभ्र आकाश मे भी तारा एक-आध ही दीखता था। झील चमक रही थी। रगो का वह खेल—केवल एक रग, श्वेत, का खेल—वल्कि केवल मात्र प्रकाश का और उसकी अनुपस्थिति का वह खेल देखकर शेखर स्तब्ध रह गया। झिलमिलाती हुई झील पर धुँधले श्यामल पहाड, और दूर पर कुहरे-सी मधुर स्निग्ध ज्योतिर्मयी हिम-श्रेणी उस विस्तीर्ण, अत्यन्त नि स्तब्ध रात मे इस दृश्य को देखते हुए वोध की लहरे-सी उसके शरीर मे दौडने लगी, मानो वह इस जीवन के स्वप्न से उद्बुद्ध होकर किसी ऊँची यथार्थता के लोक मे चला जा रहा है उसे रोमाञ्च हो आया। उसने आँखे मूँद ली, मानो आँखे मूँदकर ही वह इस दृश्य को वनाये रख सकता है, खुली आँखो के आगे वह छिन्न हो जायगा

आह सौन्दर्य

शेखर को कँपकँपी आ गयी। उसे जान पडा कि उसके मस्तिष्क पर कोई भारी वोझ है जिसे उतार देना आवश्यक हो गया है, वह धीरे-धीरे खेमे की ओर लौट पडा।

भीतर आकर उसने मोमबत्तियाँ जलाई, कागज़-कलम लिया, और क्षण-भर अनिश्चय मे कलम हिलाता रहा। फिर उसने लिखा, "सौन्दर्य और बुद्धि का सम्मिलन कभी भी वन्ध्य नही होता।" थोडी देर फिर रुककर एकाएक निश्चय मे उसने कागज़ घुटने पर रखा, और सिर झुकाकर लिखने लगा—अपने जीवन की सवसे पहली और सबसे सुन्दर कहानी

* * *

उसने अपना जीवन नगर मे विताया था—नगर की गन्दगी और भीड मे, कलह और कोलाहल मे, और उसी मे इतना सन्तुष्ट और चुप रहना वह सीख गया था कि सिवाय नगर की जनसख्या मे एक इकाई जोडने के और कोई महत्त्व उसका नही था। वह उस गन्दगी और भीड, कलह और कोलाहल का एक अग था। अडोस-पडोस मे उसकी नीरसता प्रसिद्ध थी। इसीलिए, जब उन्होने सुना कि उसने अवकी वार काश्मीर जाने का फैसला किया है, तब हँसते-हँसते उनके पेट फूल गये। 'वह कश्मीर देखने? वह तो भैंस का भी सौन्दर्य नही पहचान सकता—काश्मीर? जिस सौन्दर्य को वडे-वडे कलाकार बोध के घेरे मे नही वाँध सकें, उसको पकडने चला है वह—वह शहर की गली का रेंगता केंचुआ, जिसकी आँखे नही होती, जो इधर वढना चाहे तो उधर सिकुडे विना वढ नही सकता! यही तो है—गदहा पूछे कितना पानी!'

किन्तु नीरस व्यक्ति होने के कारण इन सब वातो का कोई असर उस पर नही हुआ। उसे जाना था, वह गया।

श्रीनगर मे वह वहुत दिन रहा। घूमा किया, भटका किया उस सौन्दर्य की खोज मे जिसे सव देख सकते थे और वखानते थे और वही एक अभागा नही पहचान पाता था। धीरे-धीरे उसका विश्वास होने लगा कि सौन्दर्य निरी कल्पना है—और ज्यो-ज्यो यह विश्वास जमने लगा त्यो-त्यो उसकी खोज भी अधिक व्याकुल होने लगी। उसने मुगलो के उद्यान देखे—सस्ती सजावट और गणित के प्रयोग—और वस! उसने पहले गाँव देखा और निराश लौटा, गुलमर्ग का उस पर कुछ भी प्रभाव न पडा—डल झील नीरस दीखी, और वुलर तो थी ही गँदले पानी का प्रसार।

अन्त मे वह फिर अपने नगर—उसकी गन्दगी और भीड, कलह और कोलाहल के लिए छटपटाने लगा। वे चीज़े सुन्दर नही थी, तो कम-से-कम ग्राह्य तो थी, पकड मे तो आती थी, समझा तो उन्हे जा सकता था! क्या वह लौट चले?

किन्तु कार्यारम्भ करके वीच मे छोड देना तो—रसिको का काम है—वह अरसिक कैसे अपनी खोज वीच मे छोडकर चल दे? वह अपने खेमे के वाहर वैठकर सोचता, "क्या मैं ही ससार मे एकमात्र व्यक्ति हूँ जिसमे सौन्दर्यानुभूति नही है? क्या मैं ही एक पगु वनाया गया हूँ। या मैंने अभी अपने को अधिकारी सिद्ध नही किया है "

उसने निश्चय किया कि वह एक वार और चेष्टा करेगा—अगर तव भी अनुभूति उसे प्राप्त नही होगी तव वह सदा के लिए अपने गदे और सकुल कोलाहल-भरे नगर को लौट जायगा . वह निर्णय कर लेगा कि वह हार गया या जीता—वह नीरस है तो इस सम्वन्ध में कठोर नीरस सत्य को जानकर ही रहेगा

उसने दो पहाडी टट्टुओ पर अपना आवश्यक सामान लादा, और टट्टुओ के मालिक

को साथ लेकर चल पडा। चार दिन निरन्तर वह चढाई चढता ही गया—जगल घना होता गया और नि स्तब्धता वढती गयी, हवा हलकी और तरल और शीतल जान पडने लगी। फिर तीन दिन और वह और उसका पहाडी साथी आगे बढते गये—असख्य छोटे-छोटे पहाडी झरनो को और मोती की लडी से झरझर झरनेवाले जल-प्रपातो को लाँघते हुए—यहाँ तक कि देवदारु और भोजवृक्ष भी चुक गये, और उनके सब ओर विस्तीर्ण उपत्यकाएँ छा गई, हरित, लोहित, नील, पीत, श्वेत निर्गन्ध पुष्पो से ढँकी हुई उपत्यकाएँ

इससे भी आगे वे वढे—तव फूल भी चुक गये—केवल कही-कही एक-आध भूला-सा नीला पोस्त दीख जाता, कही-कही तीव्र गधवाली कोई वूटी या रूखे पत्तोवाली कोई कुरूप झाडी

और उससे आगे सौभाग्यसूचक वे नीले पोस्त भी चुक गये, वूटियाँ भी चुक गई, रह गई केवल ऊवड-खावड नीरस चट्टाने और पिटी हुई-सी भावहीन नीरस दूब

उसके मन मे भावना हुई, इस दुर्गम पथ पर एक-एक करके सब रसिक रह गये है—वृक्ष रह गये, फूल रह गये, वूटियाँ रह गई, एकान्त तपस्वी नीले पोस्त तक रह गये— अब बचे है तो नीरस पत्थर, नीरस घास और नीरस जिज्ञासु वह इस वीहड़ मार्ग पर सौन्दर्य उसे दीखना ही चाहिए—पर क्या सौन्दर्य कुछ है भी? क्या रस की कल्पना, आसन्न रस-लब्धि की भावना ही को सौन्दर्य नही कह देते? 'इससे मै अभी-अभी सुख पाऊँगा', इस चिन्ता मे ही व्यक्ति इतना डूव जाता है कि सुख पाने से पहले ही रस-बोध उसे हो जाता है तव वह कहता है 'कितनी सुन्दर!' वासना की अमूर्त के द्वारा पूर्त्ति का नाम ही सौन्दर्य है न

तव क्या वह वासना से परे है? वह जानता है कि यह मिथ्या है, उसका गात भी वासना से झुलस सकता है, और झुलसा है, और झुलसेगा तव क्या ससार मे ऐसी कोई वस्तु ही नही है जो उसे सुख दे सके, या जिससे वह सुख की आशा कर सके? इतना अभागा भी होना कठिन है—इन आस-पास पडे हुए काले पत्थरो के भीतर भी तो कही-कही हरे या श्वेत रग की एक नाडी दीख पडती है।

एक घाटी पार करके वे सहसा खुली जगह पर आ गये, जहाँ सामने एक विस्तीर्ण झील थी, चारो ओर चोटियो से घिरी हुई—कोई नगी और श्यामकाय, कोई हिमावगुण्ठित

उसने घोडेवाले से खेमा गाडने को कहा, और हल्की-हल्की बूंदावाँदी मे वह भीतर जाकर कुछ खा-पीकर लेट गया—वह वहुत थक गया था। इतना थक गया था कि उसे नीद भी न आयी—वह लेटा-लेटा सोचने लगा . .

कैसा मूर्ख है वह क्या और भी कोई ऐसे सौन्दर्य की खोज मे निकला होगा? कहानियो मे अवश्य सुनते थे, अमुक राजकुमार—नीलम के द्वीप मे गया जहाँ सौन्दर्य की देवी रहती थी, या अमुक वादशाह ने अपने वजीर से कहा मुझे सौन्दर्य का सार चाहिए—लेकिन कभी किसी ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि वे कहानियाँ सच है?

भी बिठा दिया जाता है वही एक मूर्ख ऐसा है कि नही समझ पाया—यथार्थ-जीवन मे रहकर कहानी-जीवन की चीज पकडना चाहता है क्यो न लोग उस पर हँसे ? उसे मूर्ख समझे ? घर पर —नगर की गन्दगी और कोलाहल से घिरी हुई उसकी स्त्री भी उसे हँसती होगी कि मूर्ख शादी करके सौन्दर्य की खोज करने चला है

वह अचकचाकर जागा। उसने स्वप्न मे देखा था, एक काली चट्टान की गोल-गोल आँखे उस पर टिकी है और चट्टान कह रही है, 'तुमने बहुत अच्छा किया जो सौन्दर्य की खोज मे चले आये—मेरे पास।' और फिर वह एकाएक उसकी स्त्री मे परिणत हो गयी थी जो ठठाकर हँस पडी थी।

वह उठकर बाहर निकल आया और लम्बे-लम्बे डग भरकर झील की ओर जाने को हुआ—

वज्राहत-सा पथ के बीच मे वह रुक गया। कोई अनिर्वचनीय पदार्थ लहरें बाँध-बाँधकर उसकी ओर उमडा आ रहा था—कुछ तुषार-शीतल, कुछ भव्य, कुछ रोमाचकारी—उमडा ही नही, उसके मेरुदण्ड की कडी-कडी कँपाता हुआ उसके मस्तिष्क मे बैठ रहा था .

उसके आगे बिछी हुई—राका की ज्योत्स्ना, छायाएँ, बर्फ का फैला हुआ आँचल, झिल-मिल जल, लहरें, तारे

सौन्दर्य—गहरे मार्मिक आघात की तरह—अनुभूति उसकी रगो मे दौड गयी

लहरो पर चन्द्रमा की किरणो का नर्त्तन—तरल मखमल के पट पर थिरकती हुई पार्वत्य अप्सराये—और दूर उस पार—हिमस्तूपाकार और अचल मुद्रा मे आसीन ऋषिगण—शान्त और ध्यानस्थ और अडिग

प्रज्ञा के आघात के आगे वह लडखडा गया—अनन्त आकाश मे खो गया—लब्धि उसे हुई थी, किन्तु उसकी पकड से बहुत बडी—उसकी बुद्धि आहत, पराजित, खण्डित पडी थी उस प्रवाह के आगे

जो डायना को स्नान करते देख लेता है, वह अन्धा ही होकर रहता है—उस रूप के बाद कुछ देखने की सामर्थ्य भी रहना असम्भव है

उस पर उन्माद छा गया था, वह बडबडा रहा था, वह बाँहें फैलाए हुए झील और बर्फ और आकाश के सौन्दर्य को घेरने के लिए बढा जा रहा था किन्तु स्वप्न क्या बाँहो से घिर सकते है, बँध सकते है . ?

वह तन्द्रा मे ही आगे बढा जा रहा था—झील की ओर, जहाँ चन्द्रमा की किरणो पर अप्सराएँ थिरक रही थी

अगले दन जब सूर्योदय तक भी वह तबू मे बाहर नही निकला, तब घोडेवाला भीतर गया, पर वह वहाँ नहीं था। कुछ देर घोडेवाले ने प्रतीक्षा की, फिर खोज के लिए निकल पडा।

कही कुछ नही—केवल वर्फ पर कुछ-एक पद-चिह्न झील की ओर जाते हुए और झील के कनारे तक जाकर लुप्त—और उससे आगे कुछ नही, केवल अभेद्य अवगुण्ठन डाले हुए चिरन्तन सौन्दर्य—नीरव, सस्मित, रहस्यमय

* * *
** ** **

अगले दिन प्रात काल ही शेखर ने सामान वॉधा, तम्वू उखाडा और वापस चल पडा। अपनी नयी अनुभूति को गाँठ मे वॉध लेने के वाद उसके लिए वहाँ रहना अनावश्यक हो गया था—अनावश्यक ही नही, असह्य भी हो गया था।

तीन दिन के वाद वह पहले डाक घर पर पहुँचा, जहाँ उसे कई जगह भटककर आयी हुई उसकी डाक मिली। डाक मे कुछ अधिक नही था, दो-चार परिचित लिपियाँ ही थी—एक नयी लिपि देखकर उसने वही लिफाफा सवसे पहले खोला, और उसके वाकी पत्र अनपढे ही रह गये।

शशि ने तीन लाइन का पत्र लिखा था—उसके पिता का देहान्त हो गया और माँ को वार-वार गशे पडती है।

* * *
** ** **

सन्ध्या के समय निरालोक नीरव घर मे प्रवेश करते समय किसी को सामने न देखकर शेखर ने सन्तोप की गहरी साँस ली। न जाने क्यो, उसके मन मे डर वैठा हुआ था कि वह इस घर के ऊपर छाए हुए दु ख मे हिस्सा नही वटा सकेगा। यद्यपि शशि के पिता की वीमारी मे वह यहाँ आ चुका था और रह चुका था और घर से एकरस हो चुका था, तथापि उसे लगता था कि उसका लगाव मौसी विद्यावती और शशि से ही है, और इस समय वे दु ख से घिरी हुई होंगी तव वह उनके निकट नही जा सकेगा और न दु ख मे हिस्सा वटा सकेगा। ऐसा जान पडता था कि वह स्वय निर्व्यक्तिक हो गया है, व्यक्ति की अनुभूति —दु ख-सुख—उसे नही छूती, और ऐसी दशा मे समवेदना प्रकट करना असम्भव और न करना नृशसता होगी .

द्वार पर, ड्योढी मे, आँगन मे, सीढियो पर—शेखर को कोई नही दीखा। उसने चुपचाप अपना छोटा-सा विस्तर आँगन मे रखा और दवे पाँव ऊपर चढ गया।

भूमि पर विछी हुई एक चटाई पर मौसी विद्यावती मूर्छा मे पडी थी, उसके माथे पर एक हाथ रखे, दूसरे से पखा करती हुई शशि वैठी थी। शशि की छोटी वहिन गौरा हाथ मे पानी का गिलास लिए खडी थी, लेकिन पानी के छीटो की वजाय नीरव आँसुओ की वूँदे ही गिरा रही थी।

शेखर के मुँह से अकस्मात् निकला, "शशि—", फिर वह सकुचा गया।

देने लगा, शशि ने एक बार उसकी ओर देखा, एक सरल विशाल स्वीकृति मे उसकी उपस्थिति को अपना लिया और पखा झलती रही, गौरा शायद सामान देखने के लिए नीचे उतर गयी, मौसी ने धीरे-धीरे आँखे खोली ओर एक निर्वेद दृष्टि से उसे पहचानकर फिर मूँद ली, फिर करवट लेने की कोशिश की और रह गई, फिर उनके अग शिथिल हो गये और सांस नियमित चलने लगी, शशि ने धीरे से कहा, "सो गई--आज तीन दिन बाद सोई है", शेखर ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा, मानो पूछना चाहता हो, "तो तुम तीन दिन तक देखती रही कि सोती है या नही ?" पर कुछ बोला नही, शशि उठकर बाहर चली, शेखर पीछे हो लिया, उसके बाहर जाने पर शशि ने किवाड वन्द करके पूछा, "मेरी चिट्ठी मिली थी--कव ?"

"आज पाँच दिन हुए है।"

"थे कहाँ तुम ?"

"कश्मीर गया था--"

"काश्मीर कहाँ ? आते-आते पाँच दिन लगे ?"

"कही नही, शशि, मेरी अक्ल ठिकाने नही थी", कहकर शेखर एकाएक चुप हो गया।

शशि रसोईघर मे गई और धीरे-धीरे रसोई की सामग्री जुटाने मे लगी। शेखर ने कहा, "मै मदद करूँ ?" शशि ने चुपचाप आटे की परात उसकी ओर धकेल दी और एक लोटा पानी भी रख दिया, स्वय तरकारी काटने लगी।

मदद के इस प्रकार निर्विवाद स्वीकार हो जाने पर शेखर को विस्मय हुआ, उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखा। तव उसने जाना कि शशि स्वय वहाँ नही है, वहाँ केवल एक मानव-यन्त्र है जो दूसरो को चलाने के लिए स्वय चलता जा रहा है, चलता जा रहा है।

ओर तव एकाएक उसने पाया कि वह निर्व्यक्तिक नही है, कि वह विषाद मे डूब गया है, कि उनका दुख उसका दुख है--गहरी समवेदना का सोत उसके भीतर कही उमड पडा

दुख ससर्ग-जन्य है, वह उदात्त और शोधक भी है। दुख का ससर्ग परिवर्त्ती को भी शुद्ध और उदात्त वनाता है।

कुछ ऐसा ही ज्ञान वहाँ रहते हुए शेखर के भीतर से प्रस्फुटित हो रहा था, तभी उसने निश्चय किया कि वह वहाँ से न जाकर वही दुख के आँचल मे विश्राम करेगा .

मृत्यु के झझावात की चोट से क्षत-विक्षत हुए उस परिवार को एक मास से ऊपर हो चला था; घर कम-से-कम कार्य-व्यवस्था की दृष्टि से अपनी साधारण अवस्था पर आ चला था--काम-काज ही तो ससार की व्यवस्था को स्थिर, एकरूप रखनेवाली एकमात्र वस्तु है--और मौसी विद्यावती तथा शशि दिन-भर किसी-न-किसी काम मे जुटी रहती थी कभी

जब पास-पडोस की औरते हमदर्दी दिखाने आ बैठती तब भी वे कुछ न कुछ काम लिए बैठी रहती और निष्ठापूर्वक उस छिछली, कभी-कभी मिथ्या, और प्राय ही रूढिगत समवेदना के लिए आँचल पसारे रहती, क्योकि वही परम्परा थी, वही कर्त्तव्य था, भले ही उससे भाग्य के गहरे क्षत और भी गहरे होते जायँ, फूट उठे, जीवन-रस बहा ले जाँय

और शेखर इस विशाल मौन कर्त्तव्यनिष्ठा को स्तब्ध होकर देखा करता—वह दूर खडे अपलक दृष्टि से मौसी या शशि की ओर देखता रहता, जब कभी उनका ध्यान इसकी ओर खिंच जाता तब वह जल्दी से वहाँ से हट जाता कभी मौसी बुलाकर पूछती, "क्या है, शेखर ?" तब वह कुछ उत्तर न दे पाता और वे समझती कि उन्हे अपना दुख दिखाकर उसे दुखी न करना चाहिए—यह उनकी कल्पना मे न आता कि उनका दुख न दिखाना ही उसके भीतर क्रान्ति मचा रहा है, वह जो अपने दुख-सुख, आक्रोश-आवेग, राग-विराग तत्काल ही कार्य मे परिणत कर देता है, जो व्यक्ति के लिए ऊँची-से-ऊँची चोटी तक ऊबड-खाबड पगडण्डी दिखाने को तैयार है, किन्तु समष्टि के लिए थोडी-सी दूर तक भी प्रशस्त-पथ बनाने के लिए रुक नही सकता वह जिसमे सयम नही है, जिसने पानी का बहने और बहाने का धर्म तो अपना लिया है, पर सीचने का काम नही सीखा तब वह दौडकर किसी एकान्त कमरे मे छिप जाता और अपने को कोसा करता कि इतना लम्बा जीवन उसने व्यर्थ बिता दिया है, अपनी पूँछ का पीछा करनेवाले कुत्ते की तरह अपने आसपास ही चक्कर काटकर रह गया है, दूसरो का दुख, दूसरो की वेदना उसने जानी नही, जाननी चाही नही, जानने की सम्भावना नही छोडी .

न जाने इसका श्रेय किसे था कि उस दिन एकाएक बाते होने लगी थी और मौसी, शशि, शेखर तीनो ही जैसे कोई बाँध तोडकर बोलते रहे थे। शेखर को यह देखकर बहुत सन्तोष हुआ था कि उसकी एक-आध बात पर मौसी मुस्करा भी दी थी—यद्यपि वह मुस्कराहट ही किसी दूसरे की आँखो मे आँसू लाने के लिए पर्याप्त थी।

शेखर शायद अपने भावी कार्यक्रम के बारे मे कुछ बात कहते-कहते एकाएक कह गया था, "यह मुझसे नही हो सकता—इसकी तो रेखा ही मेरे हाथ मे नही है।"

और शशि ने पूछा था, "आपको हाथ देखना आता है ?"

शेखर के कुछ उत्तर देने से पहले ही विद्यावती ने हाथ बढाकर कहा, "सच ? देखकर बताओ तो मेरी आयु कितनी है ?"

शेखर प्रश्न से इतना विस्मित हुआ कि शशि के प्रश्न का नकारात्मक उत्तर भी न दे सका, मौसी का हाथ अपने हाथ मे लेकर आयुरेखा देखते हुए उसने जैसे किसी अनुक्त सशय का प्रतिवाद करते हुए कहा, "क्यो, अभी तो बहुत है—"

"नही, नही, शेखर, यह बताओ कि कम है।" मौसी के स्वर मे एक प्रार्थ-

भेदी तीखापन था—"कम बताओ, शेखर, कम !" और मानो एकाएक करुणा के प्रवाह में वह खो गया, मौसी ने चुप होकर हाथ खींच लिया

शेखर का आगे बढा हुआ हाथ वैसे ही अधखुला रह गया जैसे वह मौसी का हाथ थामते समय था—वह एकटक कटी-सी आँखो से मौसी की आँखो की ओर देखता रह गया—आत्मा के उन अतल सरोवरो मे किसी अमिताभ की ज्योति कौंधकर बुझ गयी—मौसी ने सयत, प्रकृतस्थ होकर एक झूठी हँसी हँसते हुए कहा, "यो ही, सामुद्रिक भी कभी सच होता है . "

क्या जीवन इतना कठोर होता है, और क्या जीवन के लिए एक स्पष्ट उद्देश्य इतना अनिवार्य है ? शेखर तो नही जानता कि उसके जीवन का क्या उद्देश्य है वह उठकर चला गया।

शशि ने अपने जीवन के सत्रह वर्ष पूरे करके अठारहवे मे प्रवेश किया था। घर मे कभी इधर-उधर—मानो दीवारो से—और कभी समवेदना के लिए आयी हुई स्त्रियो के मुँह से, इस बात की चर्चा शेखर सुन लेता था, "हाय-हाय, इसका व्याह कौन करेगा ? हाय-हाय, इतनी बडी अनव्याही लड़की घर मे !" पर विद्यावती कभी इसकी चर्चा नही करती थी और शशि का इधर कभी ध्यान नही गया था—यद्यपि शेखर स्पष्ट देखता कि चार वर्ष पहले की शशि और अब की इस प्रशान्त गम्भीर मूर्ति मे भारी अन्तर है।

शेखर की छुट्टियाँ समाप्त हो चुकी थी, समय आ गया था कि वह कालेज जाकर एम० ए० मे भर्ती हो जाय। किन्तु जाने का उसका मन नही था। विद्यावती ने जब उससे पूछा, "शेखर, अब छुट्टियाँ कितनी और बाकी है ?" तब यह सोचकर कि दाखिले के दिनो के बाद भी जाने पर वह तो ले ही लिया जायगा उसने कह दिया था, "अभी काफी है ।" किन्तु शशि के फिर वही प्रश्न पूछने पर उसने कहा था, "क्यो ?"

"आप आगे पढेगे नही ?"

"पढूँगा तो। पर जाने की क्या जल्दी है ?"

"पढाई तो करनी चाहिए न। यहाँ फिर आ जाइयेगा—हम लोगो का क्या है ? और आजकल तो हम लोग आपको तनिक भी सुख नही दे सकते—"

"इतना शान्त तो मै और कही नही रहता जितना यहाँ—"

"यह तो कहने की बात है—"

"नही, सच। और अबकी बार तो विशेष शान्ति मिली है आप लोगो का दुःख बटाकर—"

"क्यो ?—"

"दुःख की छाया एक तरह की तपस्या ही है—उसमे आत्मा शुद्ध होती है।"

"क्या आपको निश्चय है ?"

कुछ विस्मित-सा होकर शेखर ने कहा, "क्यो ?"

"दुख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नही।"

"तो मैं समझा नही।"

"आप हमारे दुख मे आकर मिल गये, हमे उसमे सान्त्वना भी मिली, पर आपका कर्त्तव्य क्या वही तक था? दुख सब जगह है। आप उसे एक ही जगह समझकर उसकी छाया मे रहना चाहते है, और आपका जो काम है उसमे अनिच्छा दिखा रहे है। आप कालेज जाइये—"

शेखर अचम्भे मे आ गया। शशि ने इतनी लम्वी वात उसे कभी नही कही थी—और वात लम्वी ही नही, गहरी भी थी उसने धीरे-धीरे कहा, "आप ठीक कहती है—मैं "

"और देखो, खबरदार जो अब कभी मुझे 'आप' कहा तो! मेरा नाम शशि है, और तुम्हारा शेखर।"

शायद अपने ही साहस पर कुछ झेपकर शशि एकदम लौटकर चली गयी, शेखर देखता रह गया।

*
** *
** *
**

अबकी वार पढाई के नाम से शेखर को अधिक कुछ नही करना था, क्योकि साहित्य विषय लेकर एम० ए० करने मे तो इधर-उधर की सब पढाई भी पाठ्य-क्रम मे ही आ जाती थी—दो-चार विशेष ग्रन्थ—लक्षण-ग्रन्थ, भाषा-शास्त्र, आदि पीछे भी पढे जा सकते थे

शेखर ने अपने को साधारण विद्यार्थी-जीवन से कुछ खीचकर पिछले कुछ महीनो के अनुभवो का पचाना आरम्भ किया—एक छोटे-से होस्टल का सरक्षक वन जाने से उसे यह अलगाव प्राप्त करने मे सुविधा भी हुई। इसके कुछ ही दिन वाद जब राष्ट्रीय काग्रेस के अधिवेशन के लिए स्वयसेवको की माँग हुई, तव उसने भी अपना नाम पहले ही दल मे लिखा लिया और नियमपूर्वक ड्रिल की शिक्षा लेने लगा। उसमे कोई विशेष राजनैतिक जाग्रति हो, ऐसा नही था, किन्तु ड्रिल के नियमाचरण से उसे कुछ शान्ति मिलती थी। वह यह भी सोचता था कि शायद इस प्रकार वाह्य नियम से उसके भीतर भी कही नियम की व्यवस्था हो जाय।

अपनी ट्रेनिग पूरी करने के वाद उसे वाद मे भरती होनेवाले जत्थो को ट्रेनिग देने का काम मिला। वास्तव मे यह और भी अच्छी ट्रेनिग थी, क्योकि इसमे शरीर के साथ मन को भी चौकन्ने रहकर देखना होता था कि किसमे क्या त्रुटि है, और उसे कैसे पूरा करना होगा

गोल कर, उसे वर्दी-वेष्टित कधों पर लादकर लारी मे पटक, स्वयसेवको के पहले दल के साथ कैम्प मे जा पहुँचा।

ट्रेनिंग प्राय पूर्ण हो चुकी थी, केवल देर से आये हुए कुछ-एक व्यक्तियो को जल्दी-जल्दी चार-चार वार परेड कराकर तय्यार करने की कोशिश की जा रही थी, किन्तु स्वयसेवी सेना का सगठन अभी तैयार नही हुआ था। सेनापति थे और स्वयसेवी थे। किन्तु उनके वीच सम्वन्ध स्थापित करने के लिए छोटे-वडे अफसरो का जो जाल रहता है वह नही था। उसकी ओर अभी तक विशेप ध्यान नही दिया गया था, क्योकि "चार दिन की वात है, सवको मिलकर किसी तरह काम चलाना है।" किन्तु "मिलकर काम चलाने" मे यह तो स्पष्ट होता नही कि कौन आज्ञा दे और कौन उसे पाले, अत एक दिन पॉच मुख्य अफसर—दलपति—चुने गये और अगले दिन परेड मे वाकी अफसरो का 'चुनाव' हुआ। शेखर के पास अपनी योग्यता या अयोग्यता के अतिरिक्त कोई सिफारिश नही थी, फिर भी उसे एक मातहत अफसर—'सरदार'—वना दिया गया, और काम क्या मिला कि कैम्प का प्रवन्ध वह सँभाले।

कैम्प मे चौदह सौ स्वयसेवक थे। उनकी देख-रेख की विशेप आवश्यकता न होनी चाहिए थी, किन्तु स्वयसेवको मे कम-से-कम तीन सौ कालेज के छात्र थे जिनका विचार था कि जव स्वयसेवक वन ही गये, और वर्दी के लिए भी आधी कीमत दे चुके, तव कोई कारण नही कि उनसे काम की भी आशा की जाय और काग्रेस का तमाशा न देखने दिया जाय। सप्ताह मे तीन वार उन्हे शहर मे अपने घर जाने की भी आवश्यकता थी—वे इस जगल मे ठिठुरकर मरने नही आये थे। काम दिन मे होता है, रात को वे चाहे कही सोएँ—किसी को क्या? और फिर, स्वयसेवा का भारी वोझ उठाकर उन्हे मनोरजन की भी जरूरत है, काग्रेस नगर मे सिनेमा तो है नही, शहर जाना होगा, कैम्प मे ताश या चौसर ही तो खेली जा सकती है, कभी जरा दिलचस्पी लाने के लिए दो-चार पैसे का दाव हो सकता है।

फिर कुछ वेचारे ऐसे भी थे जिन्हे यह भी पता नही था कि निवृत्ति के लिए कहाँ जाना होगा, भोजन के लिए कहाँ कैसे क्या करना होगा, कम्वल न होने पर किससे माँग करनी होगी, और जो इन सव वातो के लिए पूछताछ या 'शिकायत' करना वुरी वात समझते थे, 'भई, काग्रेस का काम है, थोडी तकलीफ से भी कर लिया तो क्या '

और कुछ ऐसे थे, जो वर्दी पहनकर अपने को उन सव कर्मो का अधिकारी समझते थे जो उन्होने गोरे सैनिको या पुलिसवालो को करते देखा था और देखकर घृणा और विवश क्रोध मे भर गये थे—राहचलतो को धमकाना, किसी गरीव पर शक हो जाने पर उसे गाली देना और सताना, आदि . उनकी समझ मे उनका यह अधिकार सीमित करना मानो 'सेना' को पगु वनाना था, क्योकि वह है किस लिए यदि हाथ जोडना और खुशामद करना ही यहाँ आवश्यक है तो...

फिर काग्रेस मे आये हुए कुछ प्रतिनिधि (और दर्शक) ऐसे थे जिन्होने सेमे

का किराया देकर सग मे सारा स्वयसेवक दल भी नौकर रख लिया था—समय-असमय पर उनकी माँग आती थी कि पेट मे दर्द है, सेक देने के लिए स्वयसेवक चाहिए, ज्वर है, रात मे पास रहने के लिए दो स्वयसेवक चाहिए, हाजमा दुरुस्त नही है, वालटियर भेजे कि कमोड साफ कर दिया करे इस प्रकार की माँगे उचित भी हो तो भी डाक्टर के पास जानी चाहिए थी जो रोगियो के लिए उचित व्यवस्था करने का उत्तरदायी था, पर ऐसा उत्तर देने पर सदा स्वयसेवक—या शेखर—को याद दिलाया जाता था कि स्वयसेवक का धर्म है किसी काम को क्षुद्र न समझे—"तुम्हे मालूम है, अफ्रिका मे महात्मा गान्धी स्वय मैला ढोते थे! तुम उनसे बडे तो नही हो—"

और कुछ वालटियर अफसर भी ऐसे थे जिनकी पात्रता का आधार उनकी योग्यता नही, उनके सम्बन्धियो का प्रभाव था, ऐसे लोगो को दूसरे कामो की कमी नही थी कि कैम्प मे आकर बेवकूफो से माथापच्ची करे। जिन महाशय का काम स्वयसेवको को काम पर नियुक्त करना था, वे दिन मे तो दो वार नियुक्तियाँ कर जाते थे, पर शाम के भोजन के वाद पौष की कडाके की सर्दी मे अपने स्थान से कैम्प तक आना उन्हे नागवार था, अत प्राय ही शाम की ड्यूटीवाला स्वयसेवक अपने स्थान पर दूसरा आदमी आता न पाकर आधी-आधी रात तक खडा रह जाता था ग्यारह वजे के वाद से शेखर के पास सदेशे आने लगते, "अमुक सेवक पाँच घण्टे से ड्यूटी पर है, कोई उसे मुक्त करने नही गया," "अमुक को छ घण्टे हो गये, वह वारिश मे भीग भी गया है," "मै आठ घण्टे से खडा हूँ, अव अपनी जगह एक आदमी को खडा करके आया हूँ, दूसरा स्वयसेवक दीजिये तो उसे वहाँ पहुँचा आऊँ"

शेखर को काफी काम था। प्रात काल छ वजे वह खेमे के दफ्तर मे आकर स्टूल पर वैठ जाता, दो वजे दिन और दस वजे रात उसका पठान 'अर्दली' किसी तरह लड-झगडकर उसका खाना ले आता, वही एक वार चाय भी पिला देता, रात के वारह वजे शेखर खेमे से निकलता, और शिकायतो से ऊबकर सोचता कि सोने से पहले एक चक्कर लगाकर देख आऊँ, कौन कब से कहाँ है, ताकि फिर निश्चित हो सो सकूँ एक समस्या उसकी और थी—नियुक्तियाँ तो वही अफसर कर सकते थे जो नियुक्ति के जिम्मेवार थे, शेखर तो अनधिकारी था, अत जब उसे स्वेच्छा से आनेवाले स्वयसेवक न मिलते तब वह अपने अधीन के स्वय-सेवको को ही भेजता जो कैम्प की सँभाल के लिए ही उसे मिले हुए थे

दो वजे रात वह थका-चुका अपनी छोलदारी तक पहुँचता, और विना वर्दी ढीली किये या वूट तक भी खोले पुआल पर अपने विस्तर पर पड जाता वूट न खोलना ठीक भी था, क्योकि ग्यारह आदमियो से भरी उस छोलदारी मे इतना ही स्थान था कि वह अपने पैर वाहर निकालकर पड सके—उसके भारी वूट और मोटी पट्टियाँ ही तब उसकी प्राणरक्षा करती थी

अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन—अनुशासन के लिए दिन-रात पिसते

कालेज के विद्यार्थियोवाले तम्बुओ मे तीन-चार वार जुआ खेलती हुई टोलियाँ पायी गयी थी। पहली वार शेखर ने केवल पाँसे जब्त कर लिए थे और चेतावनी दे दी थी कि यह काम अशोभन है, दुवारा नही होना चाहिए। दूसरी वार उसने ताश और लगे हुए पैसे ज़ब्त करने के अतिरिक्त एक परेड भी करायी थी। तीसरी वार उसने तीन व्यक्तियो को दिन-भर के लिए कैम्प से वाहर निकाल दिया था, और सारे कैम्प मे नोटिस फिरवा दिया था कि जुआ खेलने-वाले को स्वयसेवक-दल से निकाल दिया जायगा।

जो लोग परिश्रम करते थे, अपनी ड्यूटी वजा लाते थे, उनको इतनी फुरसत नही होती थी कि जुआ खेले, और फिर नियुक्त करनेवाले अफसर की कृपा से वे चूर भी ऐसे होते थे कि फुरसत होने पर भी चित पडे रहने के अतिरिक्त कुछ न करते। किन्तु कालेज के विद्यार्थी काम तो कुछ करते नही थे, और यदि नियुक्त अफसर के चगुल मे फँसकर (वह भी उनकी स्वच्छन्दता मे विघ्न नहीं डालता था, क्योकि सबसे अधिक हल्ला करनेवाले दल को अप्रसन्न करके वह अपनी निर्वाध स्वच्छन्दता कैसे वनाए रखता?) कभी कोई ड्यूटी पर भेज ही दिया जाता तो वह प्राय अपना स्थान छोडकर चल देता—"अरे यार, क्या मनहूस काम है—सडक पर पहरा दो। भला सडक भी कोई लेकर भाग जायगा।" इसी श्रेणी के पास फुरसत वहुत थी, और इसीलिए तीनो वार शिक्षा विफल हुई।

चौथी वार जब फिर एक टोली जुआ खेलती पकड़ी गयी, और उसमे दो व्यक्ति ऐसे निकले जो पहली तीनो घटनाओ मे भागी थे, तब शेखर ने आवश्यक समझा कि कोई अधिक गम्भीर कार्रवाई करनी चाहिए।

सम्मिलनी का विगुल वजा, कैम्प मे जितने स्वयसेवक उपस्थित थे सब वीच मे परेड के लिए छोडी गयी जगह मे कतारे वाँधकर खड़े हो गये। उनके चेहरे से दीख रहा था कि दोपहर के समय अकस्मात् विगुल की पुकार से वे चौंक गये है कि जाने क्या सकट कैम्प पर आया है -

कतारो को "आराम" मुद्रा मे खडे होने का आदेश देकर ध्वजदण्ड के नीचे खडे शेखर ने कहा, "स्वयसेवको, आज आपको एक आवश्यक सूचना देने के लिए वुलाया गया है। कैम्प के कलक की वात है कि यहाँ चार वार जुआ खेलनेवाले दल पकडे गये है। पहली वार—" और शेखर ने क्रमश चारो वार के अपरा-धियो के नाम और पिछली तीन वार की दण्ड-व्यवस्था की वात सुना दी। "चौथी वार के तीन व्यक्ति नये है, उन्हें वही दण्ड दिया जायगा जो पिछली वार दिया गया है, लेकिन दो व्यक्ति ऐसे है जो आज चौथी वार जुआ खेलते पाये गये है। स्पष्ट है कि वह दण्ड इनके लिए पर्याप्त नही है वल्कि किसी भी दण्ड की वात ही व्यर्थ दीखती है।"

क्षण-भर के लिए वह रुक गया। एक वार उसने चारो ओर देखा, उसका रुकना प्रभाव डाल गया था।

"इनके लिए यही उपाय है कि हम लोग खेदपूर्वक स्वीकार कर ले कि वे स्वयसेवक की वर्दी के योग्य नही है।"

क्षण-भर और रुककर, "—और—, तीन कदम आगे—मार्च!"

दोनो आगे निकल आये। शेखर ने अपने 'अर्दली' से कहा, "इन दोनो का सामान ले आओ।"

अर्दली ने सामान लाकर रख दिया—एक-एक बिस्तर, एक-एक छोटा बैग।

"तुम दोनो वर्दी उतार दो। अपने कपडे पहन लो।"

दोनो ने एक बार अवज्ञा-भरी दृष्टि से शेखर की ओर देखा, पर सारी परेड मे जो नि स्तब्धता छायी थी उसने उन्हे बाँध रखा था। उन्होने चुपचाप कपडे बदल लिए।

"सामान उठाओ—दाहिने रुख—मार्च! खान्, इनको कैम्प के बाहर पहुँचा आओ।"

तीन जोडी कदमो की थप्-थप्-थप् स्पष्ट सुन पड रही थी .शेखर उधर कान लगाए सुन रहा था और बाकी स्वयसेवको को देख रहा था और सोच रहा था, यदि ये कहा मानने से इनकार कर देते, तो मै क्या करता?

एकाएक परेड मे से तीन आदमी आगे बढ आये। तीनो कालेज के छात्र थे —शेखर ने उन्हे कही देखा हुआ था। वे भी उसे पहचानते थे।

"क्या है?"

"आपको कोई हक नही है वर्दी उतरवाने का। हम इसका विरोध करते है। आपने कालेज के छात्रो का अपमान किया है—हम हडताल करेगे।"

वह अनिश्चय दिखाने का मौका नही था। शेख़र ने कहा, "स्वयसेवको, आपमे से जो जुआ बन्द कराना अपमान समझते हो, तीन कदम आगे बढ आएँ।"

तीन-एक व्यक्ति और आगे आये। मानो अपनी सफाई मे उन्होने कहा, "हम आपके रवैये का विरोध करते है।"

"ठीक है। आप लोग अनुशासन का विरोध करना चाहते है। आप कर सकते है। आप छहो आदमी वर्दी उतार दीजिये। अर्दली, इन सबकी वर्दी माल मे जमा करा दो।"

उनके थोडे-से विकल्प मे शेखर ने समझ लिया, अनुशासन विजयी होगा। वह बोला, "जो लोग अनुशासन मानते है, वे अब भी अपने स्थान पर चले जाएँ।"

चार आदमी हट गये।

"और आप लोग—आप अब भी अनुशासन तोडना चाहते है?"

"हम सेनापति के पास अपील करना चाहते है। हम—"

"अपील दण्ड के बाद मे होती है। लेकिन आप कर सकते है। अपने स्थान पर जाइये।"

परेड बरखास्त कर दी गयी। शेखर चुपचाप अपने दफ्तर की ओर जाता हुआ सोचने लगा, बात बढाना तो वह नही चाहता था, लेकिन और चारा क्या था? और कोई अनुचित बात तो उसने नही की—

वह दफ्तर मे बैठा ही था कि बुलावा आया—सेनापतिजी बुलाते है।

शेखर ने जाकर सावधान मुद्रा करते हुए एड़ चटकाई और सलाम किया। सेनापति अपने खेमे मे गद्दे के सहारे बैठे थे। पास ही दो-एक और उच्च कार्यकर्ता बैठे थे।

"आइये, आइये, बैठिये—क्या बात है?"

शेखर ज्यो का त्यो खडा रहा।

"इन दोनो को कुछ शिकायत है।"

"जी हाँ।"

'मामला क्या है?"

शेखर ने सक्षेप मे चारो बार की जुए की बात और उस दिन की कार्रवाई बताकर कहा, "इन लोगो को मेरे फैसले पर आपत्ति है।"

सेनापति ने वादियो की ओर उन्मुख होकर कहा, "क्यो भाई, जुआ खेलना तो बुरी बात है न, फिर खेलनेवालो को सजा तो मिलनी चाहिए—"

"उसकी बात हम नही कहते। लेकिन कालेज के दो छात्रो की सरेआम बेइज्जती करना तो बहुत बुरी बात है। वालटियरो मे बहुत-से अनपढ देहाती है, वे क्या समझेगे? ऐसे अपमान कराने के लिए हम लोग नही आये है। यदि आप दखल नही देगे तो हम सब "

अब सेनापति शेखर की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखो भई, दस-पन्द्रह दिन की कुल बात है। किसी तरह मिल-मिलाकर बरतना है। किसी को नाराज करने का क्या फायदा? गुजारा ही तो करना है—"

यह शेखर से नही सहा गया। रोष से ओठ चबाकर बोला, "गुजारा? आप गुजारा करना चाहते है? तब यह सब वर्दियाँ क्यो, सगठन क्यो, ओहदे क्यो? आप क्यो सुनहरी बिल्लेवाली वर्दी कसकर और तलवार लगाकर बैठे है? परेड क्यो होती है, बिगुल क्यो बजता है? पचायत का ढग इससे कही अच्छा रहता। मै तो यह जानता हूँ कि अगर सगठन है तो अनुशासन है। मै अपने फैसले को गलत नही मानता, आप उसे रद्द करे, वह आपकी मर्जी है।"

सेनापति इस आवेश के लिए तैयार नही थे। बोले, "आप बहुत गुस्से मे मालूम होते है—"

"नही। मै क्या कर रहा हूँ, मै अच्छी तरह जानता हूँ। जानता हूँ कि जैसा अनुशासन मै चाहता हूँ, वैसा होता, तो मेरे लिए वही व्यवस्था होती जो इन जुआरियो के लिए मैने की है। लेकिन अगर वैसा होता, तो मेरे यहाँ पेश होने की जरूरत न होती। आप जैसा गुजारा करना चाहते हो कीजिए। मुझे उससे कोई सरोकार नही होगा। मुझे इजाजत दे।—"

शेखर लौटकर जाने को ही था कि सेनापति के पास बैठे हुए एक शुद्ध खद्दर-धारी महाशय बोले, "और यह तो हमारे अहिंसा के सिद्धान्त के खिलाफ है—"

शेखर ने घूमकर तीव्र स्वर मे कहा, "क्या?"

"दो आदमियो को ऐसे बेइज्जत करना और पीडा पहुँचाना हिंसा है। हमारी वालटियर सेना अहिंसक है।"

शेखर क्षण-भर निर्वाक् रह गया। फिर उसका मन हुआ कि एक बार ठठाकर हँस दे और चला जाय। फिर अपने को वश करता हुआ वह बोला, "आपके प्रश्न का उत्तर भी हिंसा ही होगा।" और बाहर चला आया। बाहर निकलते हुए उसने सन्तोषपूर्वक याद किया कि कुछ दिन पहले उसे लम्बे कद के कारण अवसर दिया गया था कि वह सेनापति के अगरक्षक दल मे आ जाय—उस दल के सदस्य को काम कुछ नही करना पडता सिवाय इसके कि दूसरे-तीसरे दिन जब सेनापति महोदय पूरी सज्जा के साथ कही निकले तब उनके आगे-पीछे कधे पर लुइसगन के नमूने पर बने हुए चरखे लेकर चला करे—तब उसने अवसर का लाभ उठाने से इनकार कर दिया था। यदि वैसा उसने न किया होता, तो आज क्या अपने को क्षमा कर सकता?

परिणाम कुछ नही हुआ। निकाले गये व्यक्ति वापस नही बुलाये गये, यद्यपि उन्हे उनकी वर्दियाँ दे दी गई क्योकि उसकी कीमत उन्होने दी थी। दो-चार बडे अफसरो को छोडकर जो केवल अफसरी करते थे, हाजिरी नही देते थे, बाकी सभी शेखर का फैसला उलटने के विरुद्ध थे।

और जो विद्यार्थी-विद्रोह होनेवाला था, नही हुआ। खाहम-खाह झगडा करके बवाल पालना और घपले मे मुफ्त तमाशा देखने का अवसर भी खोना—यह उनका मार्ग नही था।

*** *** ***

रात के नौ बजनेवाले थे। शाम ही को जो घना कुहरा छा गया था, वह अब मिटने लगा था क्योकि वर्षा होनी आरम्भ हो गयी थी। शेखर कन्धे पर ओवरकोट डाले कैम्प के द्वार पर खडा नौ बजे अपने-अपने काम पर जानेवालो की तैयारी देख रहा था और सोच रहा था, अभी थोडी देर बाद शिकायते आनी शुरू होगी कि हमारी ड्यूटी बदलनेवाला कोई नही आया न जाने नियुक्ति के अधिकारी क्यो नही उचित प्रबन्ध कर पाते?

बाईं ओर जहाँ नगर को नाम देनेवाली स्वर्गस्थ नेता की प्रतिमा पडी थी कुछ कोलाहल हुआ। शेखर ने कान देकर सुना, कोलाहल बढ रहा है और उधर ही आ रहा है। वह लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ उस ओर चल पडा।

तीन-चार दिन पहले कैम्प मे पुलिस ने छापा मारा था—कैम्प की तलाशी लेकर खाली हाथ लौट गयी थी। तब से काग्रेस नगर का वातावरण कुछ तना-सा था—प्रत्येक असाधारण दीखनेवाले, काले कोटवाले, लम्बी मूंछवाले, तुर्रेदार पगडीवाले, पुटेदार नालोवाले, या बेत हाथ मे लेनेवाले व्यक्ति पर खुफिया पुलिस के चर होने का सन्देह स्वयसेवको को रहता था। खुफिया के वहाँ होने मे हानि कोई न थी, न कोई मनाही थी, किन्तु एक तो स्वयसेवको को यह

अनुचित हस्तक्षेप मालूम होता था, दूसरे मानव प्रकृति की स्वाभाविक वृत्ति है खुफिया जाहिर बनाना, अतएव प्राय ऐसे व्यक्तियो से वालटियरो की नोक-झोक हो जाती थी और कभी उन्हे कैम्प के दफ्तर मे भी ले आया जाता था।

उस समय भी एक ऐसे ही व्यक्ति को पकडे हुए पाँच-सात स्वयसेवक घसीटे ला रहे थे। वह गालियाँ देता जा रहा था, छुडाने की कोशिश भी करता जा रहा था, और घिसटता भी आ रहा था।

शेखर ने निकट पहुँचकर डपटकर कहा, "कौन है—छोड दो इसको! क्या मामला है?"

"सी० आई० डी० है, सी० आई० डी०!"

"चोर है, चोर! भागा जा रहा था!"

"बच्चू, कागरेस का राज कोई मखौल नही है।"

एकदम इतने सब उत्तरो की उपेक्षा करते हुए शेखर ने फिर कहा, "छोड दो!" स्वयसेवक छोडकर अलग खडे हो गये। "किसने पकडा था? क्या बात थी?"

"यह प्रतिमा के पास अकेले मे घूम रहा था। मैने पूछा कि वहाँ क्या काम है तो बोला कि अपना काम देखो। मैने कहा कि प्रतिमा का पहरा ही मेरा काम है, और उसे कोई काम न हो तो वहाँ से चला जाय, तो बोला कि बहुत देखे है तुम जैसे पहरेदार। मैने फिर जाने के लिए कहा, और नाम-पता पूछा तब इसने गाली दी। फिर हम इसे पकडकर कैम्प मे लाने लगे, हल्ले मे और भी लोग आ गये, दो-एक ने इसे थप्पड भी मारे है।"

धूल झाडते हुए उस आदमी से शेखर ने पूछा, "ये ठीक कहते है?"

"मै सी० आई० डी० का इस्पेक्टर हूँ। इन सालो ने मेरी बेइज्जती की है और मेरे काम मे हर्ज किया है। मै एक-एक को मजा चखाऊँगा—"

"आपने पहले ही कह दिया होता कि मैं सी० आई० डी० का आदमी हूँ तो क्यो ज़िल्लत उठानी पडती। चोर-उचक्को की देखभाल इनका काम है। आप खुद मानेंगे कि आप का रवैया तसल्ली देनेवाला नही था। खैर आप जाएँ, आपको जो तकलीफ हुई उसके लिए हम माफी माँगते है।" शेखर ने फिर स्वयसेवको को कहा, "तुम लोगो ने नाहक एक भले आदमी को बेइज्जत किया है। जिन्होने इसे पीटा है उन्हे माफी माँगनी चाहिए और कैम्प मे भी दण्ड लेना चाहिए। और दो आदमी इन्हे नगर के बाहर तक सम्मान-पूर्वक पहुँचा आएँ।"

"मुझे किसी साले की जरूरत नही है"—कहकर वह एक ओर को बढा।

"ये आपकी हिफाजत के लिए है कि दुबारा ऐसी घटना न होने पावे।"

दो सेवक उसके पीछे हो लिए।

•

पहरे बदल चुके थे। शेखर ने सोचा कि लगे हाथ नगर का चक्कर भी लगा ले और देख ले कि कहाँ-कहाँ ड्यूटी बदली नही गयी, ताकि कुछ प्रबन्ध हो सके।

यह जानकर उसे कुछ अचम्भा हुआ कि वर्षा के कारण कई लोग अपना पहरा चुकाकर बदलीवाले के आये बिना ही चले गये थे और कैम्प से बदलीवालो को खोज-खोजकर भिजवा रहे थे। अधिवेशन का केवल एक दिन और था—कैम्प के तीन दिन—इसलिए उसने इस सम्बन्ध मे अधिक पूछताछ अनावश्यक समझी। और फिर जानेवालो को इतना तो ध्यान रहा ही था कि बदलीवाले को भेज दे। सेनापति की 'गुजारा करने' वाली बात याद करके वह मुस्करा दिया।

बारिश जोर की होने लगी थी। शेखर ने अपनी गति बढा दी।

प्रतिमा के पास पहुँचते-पहुँचते उसने सुना, कोई गा रहा है—

"किशन बसीवाले आ जा—"

और फिर कुछ अटक-अटककर मानो नया प्रयोग कर रहा हो

"मोहन बदलीवाले आ जा—"

उसके बूटो की चाप सुनकर गायक चुप हो गया। शेखर ने देखा, प्रतिमा का पहरेदार सतर्क दृष्टि से उसे देख रहा है।

शेखर ने पूछा, "नयी ड्यूटी लगी है?"

"जी नही।"

"कब से हो?"

"तीन बजे से—"

"तीन? छ बजे भी नही बदली?"

"जी नही। छ बजेवाले ने मुझे कहा था कि उसे बाहर जाना है, मै उसकी ड्यूटी दे लूँ। मैने मान लिया था।"

"और नौ बजे?"

"उसका तो पता नही। कोई बदली के लिए लगा होता तो आ ही जाता—"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "उसी को टेर रहे थे क्या?"

कुछ झेपकर, "यो ही थकान मिटा रहा था—"

"बहुत थक गये हो?"

"नही, भीग गया हूँ, और बाँह मे दर्द हो रहा है—"

शेखर इस आदमी के प्रति कृतज्ञ हो आया जो दो आदमियो का काम करके तीसरे का शुरू करते समय गा रहा है—उसे जान पडा कि चौदह सौ आदमियो मे एक ने उसके अनुशासनवाले आदर्श का समर्थन किया है—समर्थन ही नही पालन किया है। एक तो इसी से उसका जी एकाएक कुछ हल्का हो गया, दूसरे यह भी जानने की उसे इच्छा हुई कि वर्षा मे तीन-चार घण्टे अकेले खडे रहना कैसा लगता है उसने निश्चय करते हुए कहा, "अच्छा अब तुम जाओ, तुम्हारी बदली मै करूँगा।"

"आप?"

"हाँ,—मुझे भी तो देखना चाहिए, रात की ड्यूटी कैसी लगती है।"

"पर आपके पास छाता नही है—"कुछ अनिश्चित-से स्वर मे अपना एक ओर से फटा छाता बढाते हुए स्वयसेवक ने कहा

"यह ओवरकोट बहुत काफी है। जाओ, अब आराम करो तुम।"

स्वयसेवक चला गया। शेखर चुपचाप नियमित गति से टहलने लगा .

रात लम्बी थी। शेखर का मन बहुत थोडी देर के लिए ही उस स्वयसेवक पर टिका रह सका, फिर उधेडबुन मे पड गया।

उस सी० आई० डी० वाले को उन्होने पीट दिया—बुरी बात हुई। पर उसने अपना नाम-पता नही बताया—तब बिना उसे पकडे क्या होता? पहरे का मतलब क्या होता? अभी कोई अजनबी यहाँ आ जाये, तो क्या मै पूछूंगा नही, वह कौन है? हो सकता है, वह आया ही इसलिए हो कि झगडा हो जाय—यह तो इनका काम ही होता है। मार-पीट हो गयी—यह तो उसकी सफलता हुई। पर मार-पीट से बचते कैसे? यदि प्रतिमा से छेड-छाड करने लगता तो कहाँ तक सहा जा सकता? क्या बात खत्म हो गयी है, य। अभी और कुछ गुल खिलेगा? देखा जायगा

यह स्वयसेवक तो तीन बजे से पहरे पर था—यह भी उसे पकडने मे रहा होगा? तब यह क्यो नही गया? शायद प्रतिमा के पास खडा रहना जरूरी समझा हो—खडा तो ऐसे था मानो वही एक उद्देश्य रह गया हो जीने का काम तो ऐसे ही होता है क्या मै भी किसी काम के लिए ऐसी लगन दिखा सकूं? अपने मन का काम होता है तब तो जोक की तरह चिपट जाता हूँ पर ऐसा काम जिससे कोई वास्ता नही—सिर्फ काम ही काम हो? क्या मै अपने आपको अलग करके काम में लग सकता?

यही तो शशि ने कहा था, मै अपनी उलझनो मे पडा रहता हूँ, आसपास दुनिया मे जो मेरा कर्तव्य है वह नही करता 'दु ख उसकी आत्मा को शुद्ध करता हे, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। और किसी का नही।' यही तो उसने कहा था और 'दु.ख सब जगह है'—मै उसे एक जगह—समझ रहा हूँ—अपना ही दु ख लिए फिरता हूँ और शुद्धि दूसरे के साथ दु खी होने मे नही है, दूसरो के लिए दु खी होने में है

मैने जो उसकी बदली कर दी क्या उसी के लिए? मेरा भी तो मन था कुछ ऊट-पटॉग काम करने का—अपने सन्तोष के लिए तो मैने उसे छुट्टी दे दी पर इस सन्तोप से बचकर कोई कहाँ जाय? यह तो सब जगह है। अपने को नष्ट कर देने मे भी तो सन्तोप होता है—तब क्या सन्तोष के लिए ही कोई अपने को नष्ट कर देता है?

असल मे मुझे चाहिए था, पहले उस नालायक नियुक्ति अफसर को बुलाकर यहाँ लाता, फिर दो-चार सुनाता और कहता कि इस गरीब की जगह ड्यूटी तुम दो, जरा इस पौप की वर्षा मे चलो-फिरो, तोद हल्की होगी अन्याय को सह लेना उसे बढावा देना है—अनुचित परिस्थिति मे अपने को कष्ट देना कोई त्याग है?

दूर पर आधी रात के घण्टे खडके। उस वर्षा मे मानो घण्टे की आवाज़ भी भीगकर ठिठुर गयी थी—ऐसी शिथिल-सी भी वह शेखर ने अनुभव किया कि—उसका ओवरकोट पहले से चौगुना भारी हो गया है, और जो अब तक रक्षक था वही अब शत्रु हो गया—ओवरकोट के कारण वर्दी भी भीग गयी है और पानी की बहुत छोटी-छोटी धारे उसकी पीठ गुदगुदा रही है। टाँगो मे पट्टियाँ भी भीग गयी है—पानी बूटो मे भर रहा है। बूटो के तले 'वाटर-प्रूफ' है, बाहर का पानी भीतर नही घुसने देगे—और भीतर का बाहर नही निकलने देगे शेखर एक बार काँपा और फिर जल्दी-जल्दी चलने लगा

ठण्ड बढती ही जाती थी बदलीवाला अभी तक क्यो नही आया ? क्या यह पहरा भी ऐसे ही जायगा ? ठेहुनी और घुटनो तक उसका शरीर सुन्न हो गया था। अब उसे बिल्कुल अनुभव नही होता था कि बूटो मे पानी है या नही पैर भी है या नही मानो वैसाखियो के सहारे ही उसका सिर और कन्धे टिके हो उसने सोचा, अगर मै भी जमकर खडा हो जाऊँ तो इस प्रतिमा की तरह खडा ही रह जाऊँगा।

एक घण्टे का स्वर इतना मन्द था कि अगर शेखर के कान नीरवता को भी सुन लेने के लिए चौकन्ने न होते तो वह सुन भी न पड़ता।

नियुक्ति अफ़सर अनुशासन के नाम पर सब चिढ गये थे—हिसा है। यदि यह हिसा है, तो कर्तव्य की—जीवन की ही—भित्ति हिसा पर कायम है। मै कहूँ, नियुक्ति अफसर को निकालकर रात-भर इस वर्षा मे खडा रखना चाहिए, तो वह हिसा है, पर वह बिना कहे बिना सुने अनेको को रात-भर यहाँ भीगने और गलने दे तो वह हिसा नही है किसी से ऐसा कह दूँगा, तो वह कहेगा, तुम्हे किसी से क्या, तुम निष्काम कर्म करते चलो। उसकी भूल को तुम सह लो। त्याग इसी मे है। त्याग पुण्य है। त्याग धर्म है। त्याग—त्याग—त्याग ! हम नही कहते त्याग बुरा है, पर/तुम त्याग माँगने-वाले हो कौन ? अगर हमे कह सकते हो कि त्याग करे, निष्काम कर्तव्य करे, तो क्यो नही उसे कह सकते कि निष्काम या सकाम किसी तरह तो कर्तव्य करे

दो अबकी बार शेखर को क्रोध नही आया, एक नीरस मुस्कान भर उसके मुख पर दौड गयी

त्याग त्याग मापने के लिए हर एक का अपना-अपना गज होता है—और वह गज़ होता है उस व्यक्ति का अपना त्याग या त्याग करने की क्षमता जो खुद कभी त्याग नही करता, वही हर जगह, हर समय त्याग की प्रशसा करता है—'अमुक ने इतना बडा त्याग किया', 'अमुक ने उतना भारी आत्म-बलिदान कर दिया' उसका गज इतना छोटा होता है कि सैकडे से कम की कोई वस्तु ही उसे नही दीखती. और जो स्वय त्याग करता है उसे जान ही नही पडता कि त्याग है क्या चीज ? अपने को दे देना उसके लिए साधारण दैनिक चर्या का एक अग होता है, जो होता ही है, जिसे देखकर विस्मय, कौतूहल, श्लाघा, किसी से भी रोमाच नही होता, मुखर भावुकता नही फूटती

लेकिन क्या बदली रात-भर होगी ही नही, और रात क्या कभी चुकेगी नही ?

नियुक्ति अफसर यदि उन्हे स्टेज पर खडा कर दिया जाय कि त्याग पर भाषण फटकारे तो शायद नियुक्ति के मामले से कही अधिक सफलता दिखायेगे. वह तुन्दिल मनहूस लोग क्या नालायक ही अफसर बना करेगे, और ईमानदार लोग ही नौकर ? यदि ऐसे ही नेता होगे, तो और नेता पाकर हम क्या करेगे ? रोज सुनने मे आता है कि नेता नही है, नेता नही है ऐसे नेताओ के बोझ से तो समाज कुचल ही जायगा, उठेगा कैसे जो ऊपर से लादा जायगा, वह भार ही होगा, भारवाहक कैसे होगा ? भार उठाने की सामर्थ्य तो उसमे होगी, जो नीचे से उठेगा,—विघ्नो, बन्धनो, भारो, शृखलाओ की उपेक्षा करता हुआ, चोटो से दृढ हुए पुट्ठे और सघर्ष से दृढ हुआ हृदय लेकर अभिमान-भरा और मुक्त हम मुक्ति के लिए लड रहे है, पर हमारे सभी नेता—हमे आगे खीचनेवाले, हमारे भारवाहक—ऊपर बादलो से बरसे हुए तुषार की तरह, एक भी तो पददलित मिट्टी से नही उठा है, नही फूटा है कठोर धरती को तोडकर नए अकुर की तरह .

मुक्ति, स्वराज, स्वतन्त्रता—कितने सुन्दर शब्द ! किन्तु कहाँ है इनके पनपने के लिए खण्डित और खाद-युक्त मिट्टी,—जनता, कहाँ है वह मिट्टी मे ही रासायनिक क्रियाओ से बनी हुई खाद—जनता का अपना जननायक, और कहाँ है—

तीन

नही, बदली की बात सोचने का कोई फायदा नही है—अब क्या होगा ? जैसे तीन, वैसे छ, छ बजे कोई आयेगा ही या वह किसी को बुलायेगा—छ बजे उत्थान का बिगुल होगा और उसे हाजिरी लेनी होगी

हाँ, नेतागण जनता को कोसते है, किन्तु क्या यह जनता का दोष है कि वे नेता उसमे से उत्पन्न नही हुए है ?

स्वाधीनता तो प्रकृत अधिकार है—उसके चाहनेवाले आप उत्पन्न होने चाहिए —वे तो जगली वनस्पति की तरह फूटने चाहिए। क्यो मिट्टी और क्यो खाद और क्यो परवरिश ? तब क्या यह ठीक है कि जनता ही अपराधिनी है, देश की मिट्टी ही खराब है, और हम स्वाधीनता के अयोग्य है ?

पर हमारा वन-प्रदेश काट दिया गया है, हमारे स्वाभाविक सोते और जलागम सूख गये है, हमारी मिट्टी बजर हो गयी है। जगल हो या उद्यान, हमे उसे फिर से खडा करना है, इसीलिए यह आवश्यक है और ये हमारे नेता—ये नही है आवश्यक—मरुभूमि के इन कँटीले झखाडो मे नही है जीवन-रस, और नही है जीवन-रस को बाँधकर, या स्वय गलकर, भूमि को हरा करने की क्षमता

शेखर चौका—पैरो की चाप क्या बदली आखिर होगी ? अब तो उसकी आवश्यकता नही थी, वर्षा थम चली थी और सर्दी भी अब जितनी लग सकती थी, लग चुकी थी

लेकिन यह तो कई-एक पैरो की चाप है—एकाएक चार-पाँच टार्च बत्तियो के प्रकाश

से शेखर चौधिया गया—किसी ने कहा, "यही का वाकया है—यह आदमी उन वालटियरो का अफसर है जिन्होने मुझ पर हमला किया था"—शेखर ने रात-वाले सी० आई० डी० के आदमी का स्वर पहचाना और देखा कि कई-एक पुलिस के सिपाही उसके सामने है—उनके अफसर ने कहा, "गिरफ्तार कर लो, सवेरे काग्रेस के दफ्तर को खबर देना"—दो सिपाही शेखर के अगल-बगल हो गये—शेखर ने पूछा, "मै वन्दी हूँ क्या ?"—उत्तर मिला, "हॉ, थाने मे चलना होगा।"

"ऐसी जल्दी है क्या ? सवेरे गिरफ्तार कर लीजिएगा, अभी तो ठण्ड से मेरी टागे अकडी है, चला नही जाता।"

सिपाहियो ने उसकी बगल मे हाथ डाल लिए—पिटे हुए सी० आई० डी० वाले ने कहा, "देखा आपने रग-ढग ?"—सिपाही उसे खीच ले चले—एकाएक अपने को अपमानित अनुभव करते हुए शेखर ने झटका देकर अपने को छुडा लिया और कहा, "चलिये जहाँ चलना है—इतना निकम्मा तो मै नही हूँ कि सहारा चाहूँ।"

अफसर और मुखबिर ने फिर आँखे मिलाई। टोली चल पडी—और चलते-चलते शेखर ने देखा कि आस-पास के वालटियरो ने कुछ गोलमाल देखकर खबर कर दी है और लोग जुटने लगे है।

पुलिस की मोटर मे बैठते हुए उसे फिर शशि के वे शब्द याद आए—'दु ख उसी की आत्मा को शुद्ध करता है, जो उसे दूर करने की कोशिश करता है। शुद्धि दूसरे के साथ दु खी होने मे नही, दूसरे के स्थान पर दु खी होने मे है '

क्या वह पात्र है ? क्या उसकी आत्मा का एक नया परिच्छेद खुलनेवाला है ? क्या वह पूर्ण पुरुष है—विजेता—परिस्थिति का स्वामी ?

द्वितीय खंड :

बन्धन और जिज्ञासा

वन्दी होने के ठीक इक्कीस दिन वाद शेखर पहले-पहल अदालत मे पेश किया गया। उस दिन उसे मालूम हुआ कि पाँच और व्यक्तियो के साथ उस पर मार-पीट, हमला, हिसा के लिए साजिश, सरकारी अफसरो की हत्या का प्रयत्न, सरकारी अफसर के कार्य मे अवरोध और मुकदमे से सम्वन्ध रखनेवाली सामग्री छिपाने के आरोप लगे हैं। उसी दिन उसे पुलिस की हवालात से जेल मे भेज दिया गया।

शेखर को मालूम नही था कि पुलिस की हवालात मे ओर जेल मे क्या अन्तर है—इनके सम्वन्ध मे कानून क्या है यह भी वह नही जानता था। उससे अगर पूछा जाता कि 'क्या तुम जेल जाना चाहते हो?' तो वह सहज सचाई के साथ कह देता, 'नही'। अब जव उसे जेल भेज दिया गया, तव वह सोचता हुआ जा रहा था, क्या मुकदमा खत्म हो गया? न गवाही, न सुनाई, न फैसला— क्या मै जेल ही मे पडा रहूँगा? उसने दूसरे मुकदमो की वाते पढी-सुनी थी, यह काररवाई उसे विचित्र मालूम हुई वह अपने साथियो से पूछना चाहता था, पर डर रहा था कि वे हँसे नही। उस समय वह अपने को वहुत छोटा, वहुत अकिंचन, वहुत वेवकूफ अनुभव कर रहा था उसके साथी लारी मे वैठे-वैठे हँस रहे थे और वह विस्मय से सोच रहा था, इन्हे तो कुछ सोच नही है उनमे से दो पहले जेल हो आये थे, ऐसा शेखर ने उनकी बातो से जाना। तब क्या एक वार जेल हो आने से ही उनका साहस इतना हो गया है?

"लेकिन सरदार, आप कैसे इसमे आ फँसे?"

शेखर को विस्मय हुआ कि वह कैसे अनायास अपने पकडे जाने की बात कह गया है।

प्रश्नकर्ता ने हँसकर कहा "देखा आपने उसकी सफाई—यह आदमी उन वालटियरो का अफसर है जिन्होने मुझ पर हमला किया था—खूव? हमले से आपका सम्वन्ध कैसे जोडा गया है?" एकाएक उसका चेहरा गम्भीर हो गया। "आपको उन्होने ऐमे नाटकीय ढग से गिरफ्तार किया है—हम लोग तो अगले दिन प्रात काल पकडे गये—और आपको अफसर भी वताते हैं, तव हम लोग सारी ज़िम्मेदारी भी आप ही पर डालेंगे। हाँ, आपने वदली किसकी की थी?"

शेखर ने वता दिया।

"उसी ने तो पकडा था उसको। हम लोग पीछे पहुँचे थे। जव लोग पकडकर कैम्प लाने लगे तव उसने कहा कि वह तो ड्यूटी पर ही रहेगा; किसी साले सी० आई० डी० से उसे कोई मतलव नही है, हाँ, प्रतिमा से छेड-छाड करेगा कोई तो देखी जायेगी।"

"हूँ।"

"आप सफाई देगे?"

शेखर ने चुपचाप उसकी ओर देख लिया—वह नही जानता था कि इसका क्या उत्तर है।

"आप पहली बार आये है न? खैर। जेल मे आप हर बात मे हम लोगो का साथ माँगते रहियेगा। एक मुकदमे के अभियुक्तो को इकट्ठे रहने का अधिकार है। सफाई के लिए वकील आदि का कुछ प्रबन्ध होगा ही—फिर हम लोग इकट्ठे सलाह करेगे कि क्या किया जाय।"

"अच्छा।"

"और खूब अकडकर रहियेगा। अकड के विना जेल मे काम नही चलता, और फिर अभी आप कैदी नही है, केवल अभियुक्त है। आप पर शासन करने का अधिकार किसी को क्यो हो? है न?"

"ठीक।" शेखर मुस्करा दिया। उसे याद आया, कही उसने पढा था, न्याय का सिद्धान्त है कि कोई व्यक्ति तव तक निर्दोष है जब तक कि वह दोषी सिद्ध नही हो जाता। और अकड—वह तो उसकी आदत ही थी।

जब लारी जेल की ड्योढी मे जाकर खडी हुई, उतरते हुए शेखर ने देखा कि उसके आगे और पीछे लोहे का वडा फाटक है और एक हाथ मे पडी हुई हथकडी के दूसरे छोर पर सिपाही, तब एकाएक उसे स्वाधीनता का अर्थ समझ मे आ गया, और वह अपने को कोसने लगा कि क्यो अब तक—वीस वर्ष की आयु तक—वह उसके प्रति उदासीन रहा है, क्यो नही अवसे कही पहले स्वाधीनता उसके लिए भूख-प्यास और श्वास-गति की तरह एक अत्यन्त आवश्यक, जीवन-मरण की-सी महत्त्वपूर्ण वस्तु वनी

जब शेखर ने अपने को एक कोठरी मे वन्द पाया, जिसमे दाई ओर खड्डी पर उसका विस्तर पडा था, वाई ओर एक चबूतरे पर चक्की जमी हुई थी, पिछले कोने में निसर्ग के लिए कोलतार से रगा हुआ एक पतरा और मिट्टी की एक छोटी-सी टोटी थी, ऊपर छत मे प्रकाश के लिए एक जँगला-सा था सामने सीखचे थे, जिनके वीच से एक लोहे का फाटक, फाटक के एक छिद्र से और सीखचे दिखते थे, और सर्वत्र-सर्वत्र दुर्गन्ध थी—तव एकाएक अपनी भौगोलिक स्थिति का समाधान उसके लिए आवश्यक हो गया। मैं ठीक कहाँ पर हूँ, मेरे आसपास जेल का और पृथ्वी का प्रसार किस तरह है, यह जाने विना जैसे वह साँस नही ले सकेगा जेल नगर के किस ओर है, वह जानता था, जेल का फाटक उत्तर की ओर था, वहाँ से पहले इधर मुडा था, फिर उधर, फिर उधर, फिर तो उसकी कोठरी का मुख पूर्व की ओर था, पर उससे आगे

यह समस्या अगले दिन ही हल हो सकी। प्रातःकाल उसे टहलने के लिए निकाला गया, तव उसने देखा कि वह चालीस कोठरियो की एक कतार में वारहवीं कोठरी मे है, उस कतार से आगे शायद चालीस ही कोठरियो की

एक और कतार है, सामने की दीवार मे दो फाटक है जो नम्बरदार उसे टहलाने लाया था उसने बताया था कि एक कारखाने मे खुलता है, दूसरा गोरा बारक मे शेखर ने मन-ही-मन जेल पर पृथ्वी के नक्शे का आरोप किया, और तब अपनी स्थिति का खाका उसके आगे स्पष्ट हो गया—फाटक उत्तरी ध्रुव, दरोगा का दफ्तर उत्तरी हिमवृत्त, कारखाना जापान, दूर उधर फाँसी की कोठरियाँ अरब, और वह—वह कहाँ है ? वह साइबेरिया के हेमावृत्त मरुस्थल मे उसे कुछ शान्ति हुई—वह कही है तो—यहाँ तो यही डर है कि उसका अस्तित्व ही न खो जाय।

थोडी देर बाद अभिमान जागा। वह दूसरी तरफ दक्खिनवाली कतार मे होता तो भारत मे होता। वह कतार अच्छी नही है, नम्बरदार ने कहा था कि वहाँ बदमाश रखे जाते है, पर होता तो वह भारत उसे एकाएक अचम्भा हुआ कि अपने देश की मिट्टी का, उसके नाम का, नक्शे मे उसकी आकृति और स्थिति का मोह उसमे कब से जाग गया है पहले तो ऐसा नही था—सुन्दर प्रदेश थे, घर के लोग थे, पर भारत—भूगोल की पुस्तक के बाहर कहाँ था वह ? उसे याद आया, पिता कभी राजपूतो की, ऋषियो की, वीरता की गाथाएँ कहते-कहते एकाएक कह उठते थे, "इस आर्यो की भूमि से ऐसे ही रत्न उत्पन्न हुआ करते थे" और शेखर को लगता था, उस समय अपने अभिमान के तीव्र आलोक मे ही परख लेना चाहते है कि शेखर भी वैसा रत्न है या नही, पर वह तो दूर किसी पुराने देश की बात थी—आर्यावर्त्त की, और उन वीर-गाथाओ का आर्यावर्त्त उसके मन मे कभी उसके पैरो तले रौदे जाते आज के भारत से एकरूप नही हुआ था '

"खूब अकडकर रहिएगा' अकड तो उसके भीतर खाहमखाह बढती जा रही है उसने कोई अपराध नही किया है, पर जो उन कोठरियो मे है, जो 'भारत ' मे है और सजा भुगत रहे है, वह उन्ही की तरफ होगा, वह अकडेगा और लडेगा

उसका सैर का समय चुक गया।

पूरे तीन दिन बाद उसे यह माँग करने का मौका मिला कि उसे 'साथियो' के साथ रखा जाय। दारोगा निरीक्षण के लिए आय थे। तिरस्कार के स्वर मे बोले, "तो वे तुम्हारे साथी है, क्यो ?"

शेखर ने व्यङ्ग की उपेक्षा करते हुए कहा, "हमे एक ही मुकदमे का अभियुक्त बनाया गया है, हमे मिलने का अधिकार है।"

"अधिकार ! ऐ है ! यह जेल है जेल, बाबू साहब ! यहाँ का अधिकार है चक्की पीसना, समझे ? वह देखो !" दरोगा ने कोठरी के भीतरवाले चबूतरे की ओर इशारा किया। "घबराओ मत ! सब देखोगे।" उसकी माँग का उत्तर दिये बिना वे चले गये।

किन्तु शाम को जब शेखर को कोठरी से निकाला गया, तब उसने देखा कि दस-बारह कोठरियो से आगे चलकर एक और कोठरी भी खुली है जिसमे से उसे अकडने का परामर्श देनेवाला विद्याभूषण निकला है, और दूसरी ओर से बाकी तीनो साथी लाये जा रहे है।

विद्याभूषण को देखकर वह इतना प्रसन्न होगा, इसकी उसने कल्पना भी नही की थी। वह लपककर उससे गले मिला, और फिर एकाएक अपने उत्साह के लिए कुछ लज्जित-सा होकर कुछ अलग होकर खडा हो गया।

क्षण-भर के लिए दोनो एक दूसरे को सिर से पैर तक देखते रहे। विद्याभूषण कद का मध्यम, वलिष्ठ शरीर का और गोरे रग का कोई वीस वर्ष का युवक था। पीछे की ओर सँवारे हुए रूखे वाल, चौडा माथा, सीधी नाक, और पतले ओठ, सीधी और पतली ठोडी—शकल से वह अध्ययनशील हठी दीखता था, आँखो मे अवश्य उसके एक कोमल हास का चचल प्रकाश था। शेखर ने निश्चय किया कि यह व्यक्ति उसके मन के अनुकूल है। उसने पूछा, "आप पहले भी जेल आये है न? कैसे?"

"हाँ, असहयोग के जमाने मे आया था। तव मै छोटा ही था। तव कटाई भी अव से ज्यादा थी। वन्देमातरम् का नारा लगाने पर मुझे वेत लगे थे। अव तो राजनैतिक कैदी को कम ही वेत लगते है।"

शेखर ने एक वार फिर उसे सिर से पैर तक देखा। नही, इस गम्भीर युवक के आगे अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करने में लज्जा नही है। उसने कहा—"राजनैतिक कैदी अलग होते है? मै कुछ जानता-वानता नही।"

विद्याभूषण मुस्कराया। "कोई वात नही—यहाँ वहुत जल्दी सव कुछ जान जाएँगे। अच्छा कालेज है, जेल। मुझे तो जव वेत लगे थे तव टिकरी पर ही कई वाते समझ मे आ गई थी। चरित्र की डिग्री तो यही मिलती है। पर फेल वहुत होते है।" उसका चेहरा गम्भीर हो गया।

"हूँ।"

एकाएक कुछ याद करके विद्याभूषण वोला—"हाँ, हम लोगो को साथ नही रखा जायगा, पर दिन-भर हम मिल सकेगे। यही फैसला हुआ है। ऐसे भी ठीक है।"

"और मुकदमे का क्या होगा?"

"आज मेरे भाई मुझसे मिलने आये थे। एक वकील का प्रवन्ध हुआ है, वे कल हम सवसे मिलेगे। तभी आगे के वारे मे निश्चय होगा।"

शेखर एकाएक इस आकाक्षा से भर गया कि कोई—'कोई' नही, शशि!—उससे मिलने आए भाई शायद आएँ—पर यदि शशि आती—आ सकती.

वाकी तीनो साथी भी आ गये थे। परिचय हुआ, शेखर ने उनके नाम जाने, उन्हे सिर से पैर तक जाँचा और तय किया कि वे विद्याभूषण के पाये के नही है, स्वयसेवक वे भले ही अच्छे रहे हो, पर ऐसा उनमे अधिक नही है जो जेल मे आकर निखर आये। और उसने यह वहुत सहल पाया कि वातें करता हुआ भी वह शशि के आने की सम्भावना पर सोचता जाय जेल के जीवन के वारे मे उसे अधिक चिन्ता नही थी—वहाँ के दैनिक जीवन की व्यवस्था उससे कोई विशेष वुरी नही थी जो उसने वय सन्धि के दिनो अपने को दण्ड देने

के लिए अपने लिए तजवीज कर ली थी दिन बीत ही जाएँगे—शरीर उसका काफी कठोर था, हाँ, प्रारब्ध उसके वश मे नही थे और वे अशान्त इतने थे कि

* * *
** ** **

अभियोग की सुनाई आरम्भ हो गई। वकील ने शेखर को बताया कि उसे चिन्ता करने की कोई जरूरत नही है, और तो कोई धारा उस पर लगती नही—केवल एक लग सकती है, सरकारी अफसर के काम मे अवरोध डालने की, और वह भी शामवाली घटना के कारण नही, रात को गिरफ्तारी के समय की घटना से पुलिसवाले कह सकते है कि वे उस समय सरकारी काम पर गये थे जब उसने रुकावट डाली और झगडा किया, आदि-आदि किन्तु उस आश्वासन के बिना भी मुकदमे मे शेखर की दिलचस्पी मिट-सी गई थी। जेल ने उसके सामने एक नई दुनिया ही मानो खोल दी थी और उसके अपने भीतर इतने नये प्रश्न जाग रहे थे कि अदालत मे पूछे गए व्यर्थ के प्रश्नोत्तर की ओर उसका ध्यान ही नही जाता था उसे जान पडता था, वह जेल-ससार को मानो एक prism के बीच मे से देख रहा है, प्रत्येक दृश्य के कई रगो के कई रूप कई दिशाओ मे उसे दीखते थे, और यह कहना असम्भव हो रहा था कि कौन सत्य है, कौन मिथ्या उसके अब तक के बने हुए सब पैमाने निकम्मे हो गए थे, वह एक नयी ओर भीषण वास्तविकता को जान रहा था कि सभी कुछ सत्य है, सभी कुछ मिथ्या है, सभी कुछ अच्छा है और सभी कुछ बुरा है अब भी वह देख रहा था कि ऐसी दशा मे मार्ग का, कार्यक्रम का निर्णय आदर्शवाद के सहारे ही हो सकता है, लेकिन उस आदर्शवाद के आधार पुराने आदर्शों पर नही टिकते थे—उसकी आत्मा के भीतर क्रान्ति की ज़रूरत थी विद्याभूषण का साथ उसके लिए आवश्यक हो चला था। किन्तु दिन मे तो विद्याभूषण मुकदमे को देखता था—शेखर ने अपना हित उसी के सिपुर्द कर दिया था—अत शेखर प्रात काल उससे उलझता और दिन-भर उस उलझन पर विचार किया करता और उसके धागे सुलझाया करता

आरम्भ उम दिन हुआ था जिस दिन विद्याभूषण के यह कहते समय, कि हमे देश के आत्माभिमान की रक्षा के लिए एक ऐसा सगठन बनाना चाहिए जो सरकारी अफसरो ओर शासको का दिमाग दुरुस्त रखे, शेखर ने एकाएक पूछा था, "अच्छा, यह तो बताओ, तुमने उस सी० आई० डी० वाले को पीटा था भी कि मेरी तरह ही आए ?"

"पीटा तो था। इतना उद्धत व्यवहार करके वह अछूता लौट जाता तो मै आयु-भर अपने को क्षमा नही कर पाता।"

"क्यो ?"

"राह चलते तुम्हे कोई माँ-बहन की गाली दे जाय, तो तुम क्या करोगे ? तब वह क्या इसीलिए बच जाता कि कमीना होकर वह सरकार का गुमाश्ता भी है ?"

"वह सरकार का एक अंग तो था—ऐसे सरकार कैसे चलेगी? मान लो, अपनी सरकार होती, तब—"

"सरकार का अंग—तो सरकार के आतंक से हीन हम उसे पीटने से रह जाते? अगर तुम हिंसा की बात कहते हो तो क्या डर के कारण अपने गौरव की रक्षा से चूकना हिंसा नहीं है? आत्म-हिंसा सबसे बड़ी हिंसा है क्योंकि वह राष्ट्रीय अभिमान की—राष्ट्र की—रीढ़ तोड़ डालती है।"

"तुम्हारे कहने का मतलब यह हुआ कि जब भी गुस्सा आए उसे व्यक्त ही करना चाहिए, दबाना नहीं? ऐसे तो बड़ा अनाचार फैलेगा—"

"नहीं, मैं यह नहीं कहता। एक गुस्सा कमज़ोरी होता है, एक गुस्सा कर्तव्य होता है। अगर अपने राष्ट्र का अपमान होता है, तो उस पर रोष राष्ट्र के और समाज के प्रति कर्तव्य होता है—वह रोष हमें देश को देना ही है। नहीं तो हममें भीतर कहीं प्राणों की जगह कचरा भरा हुआ है।"

"अगर देश के अपमान पर रोष उचित है, तो प्रान्त के, सम्प्रदाय के, परिवार के और फिर स्वयं अपने अपमान पर भी उचित है। वही क्यों कमजोरी है?"

"ठीक है। पर सवाल उस स्थूल वस्तु का नहीं है जो देश या प्रान्त या हम है। सवाल भावना का है। हमारे देश की मिट्टी अनुर्वर है, यह सीधी-सच्ची बात भी हो सकती है, पर 'हमारा राष्ट्र नपुंसक है' यह अपमान है। आदर्शों के लिए रोष उचित है।"

"तब धर्मान्धता उचित है? धर्म आदर्श है न?"

विद्याभूषण कुछ हिचकिचाया। "न—नहीं! कहीं पर सीमा बाँधनी ही होगी। पर धर्मात्मा और धर्मान्ध हम कहते हैं और उसका अलग-अलग अर्थ भी समझते हैं, जिसका अर्थ यही है कि धर्मान्धता में कुछ ऐसे तत्त्व आते हैं जो बुरे हैं। वे क्या हैं, यह खोजना होगा। जैसे धर्मान्ध रोष में सबसे पहली बात होती है व्यक्तिगत असहिष्णुता—मैं सिद्ध करना चाहता हूँ कि मेरा धर्म तुम्हारे धर्म से अच्छा है, क्योंकि मैं तुमसे अच्छा हूँ। यह स्पष्टतया अनुचित है और इस अभिमान की तो जड़ ही उखाड़नी चाहिए।"

"हूँ।" शेखर कुछ देर तक सोचता रहा। "तब हम कहाँ पर पहुँचे?" अपने प्रश्न पर वह हँस भी पड़ा।

"जो रोष आदर्श के लिए है, वह धर्म है, यह तो तय है। रहा यह कि आदर्श क्या है, सो उसके बारे में साधारण नियम कठिन है, पर कहा जा सकता है कि जो भी भावना मानव और मानव के भेद को मिटाने की, उसकी सीमाओं और बन्धनों को अधिकाधिक प्रसारित करने की, चेष्टा करती है, वह आदर्श है।"

"तब जहाँ मानव और मानव का सवाल आए वहाँ राष्ट्रीयता भी विघ्न हो सकती है?"

"अवश्य! युरोप में ऐसा समय आ चला है कि राष्ट्रीयता पाप हो जाय—वहाँ राष्ट्रीय संगठन अब मानव की स्वाधीनता में विघ्न हो गया है।"

शेखर की 'हूँ' विचारो से इतनी लदी हुई थी कि वह आगे जिज्ञासा करना भूल गया। पूर्ण आश्वस्त तो वह नही हुआ था, लेकिन विद्याभूषण ने उसकी बुद्धि को एक गहरा आघात अवश्य दिया था—इतने बडे-बडे प्रश्नो को सामने पाकर वह उनकी ललकार से मानो तिलमिला उठी थी।

अभिमान, या अहकार एक सामाजिक कर्त्तव्य भी हो सकता है, शेखर के लिए यह एक नया दृष्टिकोण था। वैसे तो राजनैतिक मामलो मे उसको कभी अधिक दिलचस्पी नही रही थी, और प्राय राजनैतिक झगडो और हिस्सा बाँट की बाते अखबारो मे पढकर वह राजनीति की क्षुद्रता पर दु खी ही हुआ करता था। पर 'राजनीति क्यो है ?' यह प्रश्न राजनीति का नही, जीवन का था, और ऐसे प्रश्नो का आकर्षण वह कभी भी टाल नही सकता था। जब विद्याभूषण के निमित्त से उसकी बुद्धि इस प्रश्न से जा उलझी, तब उस नयी दृष्टि के धक्के से वह दो-तीन दिन अचम्भे मे पडा रहा। वह जानता था कि विद्याभूषण की बातो से वह पूर्ण आश्वस्त नही हुआ, और यह भी वह जानता था कि दूसरे की सोची हुई बातो मे कभी भी कोई आश्वस्त नही हो सकता, वे अपने ही अन्तरात्मा से निकले तभी सच होती है, दूसरा अधिक-से-अधिक यह कर सकता है कि अन्तरात्मा की उर्वर भूमि की थोडी-सी निराई कर दे

तीन-चार दिन तक वह इसी एक बात को लेकर अपने से युद्ध करता रहा। क्या अहकार एक सामाजिक कर्त्तव्य है ? तीन दिन के बाद उसके भीतर जागा हुआ वृहदाकर दानव जिज्ञासु मानो एक प्रतिद्वन्द्वी को पछाडकर नये युद्ध के लिए तय्यार हुआ, तब उसके 'युद्ध-देहि !' के उत्तर मे कई नए भीमाकार प्रश्न आ खडे हुए—शासन क्यो है ? क्या यह स्वाधीनता मे बाधक नही है ? क्या उसके बिना हम रह सकते है ? क्या उसे हम नष्ट भी कर सकते है ? कैसे कर सकते है ?

अगर मुक्ति की ओर बढना ठीक है—और ठीक वह नही कैसे हो सकता है ? तब शासन-सत्ता का होना बुरा है—है नही तो हो सकता है। कब ? और उस समय क्या आदर्श है हमारा जिसके लिए रोष करना, युद्ध करना, अहकार करना, धर्म हो जाता है ?

और रोष—युद्ध—हिसा—क्या हिसा करना उचित है ? यदि विद्याभूषण का तर्क ठीक है, तो हिसा उचित है और धर्म भी हो सकती है। पर वह विश्वास करता है, करना चाहता है, कि हिसा से मानव को घृणा है, एक स्वाभाविक प्रवृत्ति-जन्य अनिच्छा है हिसा करने मे और वह समझता है कि कोई भी मौलिक प्रवृत्ति गलत नही हो सकती—अगर हमारा आचारशास्त्र उसका समर्थन नही करता तो वही गलत है—प्रकृति नही, प्रकृति की आधारभूत एक प्राकृतिक नीतिमयता मे उसका अखण्ड विश्वास है। क्यो है, क्या प्रमाण है उसके पास, इसका जब वह कोई उत्तर नही दे पाएगा तो यही देगा कि उसमे विश्वास करने की मौलिक इच्छा होना ही उसका प्रमाण है। मनुष्य क्यो चाहे उसमे विश्वास करना ? क्योकि अपने गूढातिगूढ अन्तरतम मे वह नीतिवादी है। वह सृष्टि को नीति की कसौटी पर खरा मानना चाहता है।

और अगर मानव-प्रकृति में नीति मूल तत्त्व है, तो प्रकृति में भी आधारभूत कैसे नही है?

प्रकृति नैतिक है। तब क्या हिंसा भी नैतिक है? सदा नही, तो कभी, किसी परिस्थिति-विशेष में वह नैतिक हो सकती है? क्या कभी भी हत्या उचित हो सकती है?

और फिर व्यावहारिक प्रश्न यह कि क्या उससे कभी लाभ हो सकता है?

आह देवि जिज्ञासा—इतनी दुर्निवार कि वह दानवी दीखती है!

सिद्धान्त के प्रश्न से व्यवहार का प्रश्न सदा छोटा होता है, और इसीलिए अधिक तात्कालिक, हिंसा की व्यावहारिकता भी शेखर के लिए वैसी ही थी।

उसने विद्याभूषण से पूछा, "क्या हिंसा कभी उचित हो सकती है? क्या उससे कोई लाभ हो सकता है?"

विद्याभूषण ने मुस्कराकर कहा, "तो तुम सोचते रहे हो?"

शेखर ने खीझकर कहा, "सोचूँ न?"

विद्याभूषण हँसा। फिर गम्भीर होकर वोला, "तो सुनो। कई बार हिंसा इतनी नितान्त आवश्यक होती है कि उचित हो जाती है।—या यों कह लो कि इतनी अधिक उचित होती है कि आवश्यक हो जाती है। वास्तव में वह तब हिंसा रहती नही। नासूर होता है, तो उसका इलाज यही है कि नश्तर लगा दिया जाय। उससे दर्द होता है तो क्या वह हिंसा है? वह हिंसा इसलिए नही है कि रोगी के भले के लिए है, चिकित्सक का स्वार्थ उसमे नही है। और लाइलाज रोग का रोगी अगर दर्द से तडप रहा हो तो उसे मारकर मुक्ति देने मे भी हिंसा नही है, यद्यपि उसकी जान ले ली गई होगी। यहाँ फिर हिंसा एक सामाजिक कर्तव्य के रूप मे आती है। रहा उपयोगिता का प्रश्न—सो मैंने जो उदाहरण दिये हैं, उनमे उसकी उपयोगिता ही उसका प्रमाण है—हाँ, यह ध्यान रखना है कि व्यक्तिगत स्वार्थ नही, सामाजिक उपयोगिता ही उसका प्रमाण हो सकती है।"

"तुम्हे यह भेद करते देखकर सन्देह होता है। क्या सचमुच सामाजिक होने से हिंसा क्षम्य हो जाती है? एक समाज दूसरे समाज पर अत्याचार कर सकता है—?"

"मेरी बात को गलत मत समझो। सामाजिक से मेरा मतलब किसी एक समाज का नही है। मेरी मतलब उस सारे संगठन से है जिसका एक अंग हम—मानव मात्र हैं। इस दृष्टि से जहाँ हत्या अहिंसा हो सकती है, वहाँ राह चलते, गेहूँ की एक वाल तोडकर फेंक देना हिंसा होगी क्योंकि वह कर्म उस विश्व-समाज का कोई हित नही करता, उलटे थोडे-से हित की सम्भावना को नष्ट कर देता है।"

शेखर ने अब भी सन्दिग्ध स्वर से कहा, "अच्छा, उसे जाने दो। जहाँ से बात शुरू हुई थी, वहीं लौटें। तुमने जो उस सी० आई० डी० वाले को मारा, उसमे क्या लाभ हुआ या हो सकता है?"

"एक तो मैंने बताया--अपने आत्म-सम्मान की रक्षा जरूरी थी, और उसे पीटे बिना वह असम्भव था। अगर तुम इसे बहुत काल्पनिक लाभ समझते हो, तो दूसरा यह कि इससे और सी० आई० डी० वालो को सबक मिलेगा कि किसी का अपमान करना हँसी-खेल नही है।"

शेखर ने मुस्कराकर कहा, "यही सबक तो वह तुम्हे सिखाने चला है।"

"हाँ, पर ऐसा सबक हर एक सी० आई० डी० वाला हमेशा हर एक को नही सिखा सकता। एक मुकदमा करने मे सरकार के कई हजार रुपए लगते है। अगर सौ ऐसी घटनाये हो जायँ तो सरकार को कुछ दूसरा इलाज सोचना पडेगा।"

"दूसरे शब्दो मे तुम यह चाहते हो कि सरकार के दिल मे डर बैठा दिया जाय कि ये लोग सम्मान के पात्र है। अगर मै गलती नही करता—मेरा इधर का ज्ञान कम है—तो यह उन लोगो की दलील है जो आतकवादी कहलाते है।"

"ऊँ--हाँ। और इतना अन्याय किसी के साथ नही होता जितना उनके। सबसे पहले तो उन्हे आतकवादी कहना ही अन्याय है, यद्यपि आतक को वे अपने कार्यक्रम से बाहर नही निकालते। आजकल के जमाने मे जिस आदमी का राजनैतिक दर्शन आतक-वाद तक जाकर समाप्त हो जाता है वह मानसिक विकास की दृष्टि से सात साल का बच्चा है। साफ बात यह है कि उसमे इतना नैतिक बल ही नही हो सकता जितना कई आतकवादी कहलानेवालो मे सब लोग मानते है।"

"तुम तो ऐसे सफाई दे रहे हो जैसे स्वय आतकवादी होओ!" विद्याभूषण को सिर हिलाता देखकर शेखर फिर बोला "पर मुझे यह दीखता है, यह सब गलत है। हिसा से कुछ नही हो सकता। वह नकारात्मक है। वह निरा सहार है, उससे सृजन नही हो सकता। यह नश्तरवाली ही बात लो, रोग का इलाज तो चिकित्सा है, स्वस्थ तो वही करती है। नश्तर नगण्य चीज है, स्वास्थ्य-लाभ तो बाद की महीनो लम्बी शुश्रूषा से होता है। इसी तरह परिस्थितियो का सुधार स्वाभाविक विकास द्वारा ही होगा।"

"यो ही सही। नश्तर नगण्य ही सही, अप्रधान ही सही, पर अनिवार्य तो है न? समाज के लिए की गई हिसा के बाद भी सामाजिक चिकित्सा होती है—चाहे तो मुख्य चीज उसी को समझ लो। उससे पहली आवश्यकता नही मिट जाती।"

शेखर को एक और बडा कौर मिल गया था—इसे काफी चबाने की जरूरत थी। तसल्ली उसे नही हुई थी। उसे लगता था, तर्क मे कही कुछ त्रुटि अवश्य है। आपद्धर्म--एक अनिवार्य बुराई—इस तरह की बाते उसने पहले सुनी थी—विश्वामित्र की कुत्ते का माँस खाने की बात उसने बहुत पहले सुन रखी थी—पर उसे लगता था, यह आदर्श की कोई कमजोरी है जिसे हम हेतुवाद द्वारा छिपा लेना चाहते है। हिसा-कर्म को तात्क्षणिक भी मानना सब कुछ मान लेना है, हिसा को स्वीकार कर लेना है। अगर हत्या द्वारा मानवता अपनी रक्षा कर भी लेती है तो अन्तत वह एक पाप-कर्म की आड मे ही जीती है। प्रश्न

सीधा है—हिंसा उचित है या नहीं है, या तो पूर्णतया अनुमोदित हो सकती है या पूर्णतया वर्जित। किन्तु दोनों ही अवस्थाओं में आगे का मार्ग नहीं दीखता

*
**   *
**   *
**

शेखर के बड़े भाई ईश्वरदत्त के साथ शशि उससे मिलने आई।

शेखर ने इच्छा की थी पर आशा नहीं। वह नहीं जानता था कि आशा करने का कोई कारण हो सकता है नहीं शशि वहीं शहर में होती, तब तो आशा होती, पर दूर गाँव से, और अकेली

पर वह आ गई। शेखर का अन्तर इतना भर उठा कि उससे बात भी न कर सका, और भेंट का समय समाप्त हो चला वह ईश्वरदत्त से बात करते-करते बीच में क्षण-भर स्थिर होकर उसकी ओर देख लेता, और फिर भाई से बात करने लगता

जब बिल्कुल ही समय आ गया, तब अन्त में शशि ने पूछा, "शेखर, क्या तुम सचमुच शामिल थे?"

शेखर ने भेदक दृष्टि से उसकी ओर देखा। वह जानना चाहता था कि उसके मन में क्या है—डर, चिन्ता, प्रशंसा—क्या कुछ नहीं दीखा। उसने सरल गाम्भीर्य से कहा, "नहीं।"

शशि कुछ बोली नहीं। शेखर को लगा मानो और कोई जिज्ञासा या माँग शशि को नहीं है। उसे विस्मय हुआ। इसीलिए अपने भावों के तूफान से कुछ अलग होकर उसने पूछा, "क्यों, शशि? तुम्हें तसल्ली हुई क्या?"

"कैसी तसल्ली?"

"कि मैं निर्दोष हूँ?"

"ऊँ—हाँ, कुछ तो हुई ही—"

"क्यों, अगर मैं अपराधी होता तो?"

"तब भी तसल्ली होती, मैं जानना चाहती थी। तुम्हारी बात जान लेने ो से मुझे सन्तोष हो जाता है, डर नहीं होता।"

कितना चाहता था शेखर यह पूछ उठना, "क्यों शशि, इतना विश्वास है ्म्हारा मुझ में " पर भाई की उपस्थिति ने उसे साहस नहीं दिया। एकान्त में ो वह इतना निजी प्रश्न उससे उस समय पूछ सकता, वह नहीं जानता, पर ्शि ने मानो वह अव्यक्त जिज्ञासा पढ़ ली, तभी तो चलते-चलते उसने शेखर ो ओर स्थिर आँखों से देखकर कहा, "वीर कभी अपराधी नहीं होते " और ढ गई—शेखर ने उसकी आँखों की वत्सलता से रोमांचित होकर मन-ही-मन उस आदिम बहन को प्रणाम किया जिसने पहले-पहल भाई के लिए 'वीर' शब्द का आविष्कार किया था कितना महत्त्व था जेल में वात्सल्य का! प्रेम—प्रेम अन्तत एक वासना है और वासना की तो क्रीडास्थली ही है जेल, पर वात्सल्य

मुकदमा अत्यन्त नीरस हो गया था। आज के बाद कल, कल के बाद परसों—नित्य वही कहानी नये-नये गवाहों के मुख से नये-नये रूप में सुनना, एक ही सत्य को उलटा कर दिखाने के लिए वकीलों के दाँव-पेंच और कलाबाजियाँ एक दिन ऊब-ऊबकर ही अन्त में शेखर ने अपने लिए मनोरंजन की सामग्री पैदा कर ली थी—उसने वकील की दलीलों की विडम्बना लिखकर पहले अपने मित्रों को दिखाई थी और फिर लिफाफे में बन्द करके हाकिम के आगे रख दी थी। उस समय मजिस्ट्रेट साहब वकील की बातें सुन रहे थे, उन्होंने लापरवाही से पूछा था, "क्या है, दरखास्त ?" और सुनते रहे थे। पर दुपहर की छुट्टी के बाद जब इजलास फिर बैठा तब उन्होंने एक तीव्र दृष्टि से शेखर की ओर देखा था, जिसमें थोड़ी-सी दया-सी थी, थोड़ी-सी खीझ, और उनके दबाकर प्रभावोत्पादक बनाए गए ओठों पर एक हल्की-सी मुस्कराहट खेल गई थी शेखर निश्चय से नहीं कह सका कि उनके मनोभाव वह समझ गया है, पर अपनी दलीलें याद करके वह भी मुस्करा दिया था "जनाब, गवाह कहता है, अमुक चीज ऊपर थी, अमुक नीचे, अमुक दाईं ओर लेकिन अगर हम सिर के बल खड़े होकर देखें—और स्पष्ट है कि वैसे देखे बिना न्याय की रक्षा नहीं हो सकेगी—तब जो ऊपर बताया गया वह वास्तव में नीचे होगा, और जो दाँए बताया गया है वह निर्विवाद रूप में बाईं ओर ऐसा विकृत और झूठा बयान देनेवाला गवाह बिगड़ा हुआ ही हो सकता है, आपसे निवेदन है कि उसके बयान को महत्त्व न दिया जाय और हमें अनुमति दी जाय कि हमी जिरह कर सकें "

लेकिन इस तरह की बात नित्य नहीं हो सकती थी, और अदालत में बैठे-बैठे प्राय शेखर पाता कि उसका ध्यान शशि की ओर चला गया है। वह उसके कहे हुए एक-एक शब्द को याद करता और मानो मन का प्रकाश उन पर केन्द्रित करके उनका चित्र लिया करता, फिर विस्मय से सोचा करता कि क्यों यह लड़की उसके भीतर इतना महत्त्व पाती जा रही है वह उसकी बहन लगती थी ? अवश्य, पर शेखर की बड़ी बहन सरस्वती की तरह वह क्यों नहीं थी ? सरस्वती को भी शेखर पर बड़ा स्नेह रहा था—अब भी था, यद्यपि अब शादी हो जाने के बाद, और दो-तीन-बच्चों की माँ हो जाने के बाद वह उसके लिए कुछ दूर की वस्तु हो गई थी—और सरस्वती से भी शेखर ने बराबर का सहज विश्वासी बन्धुत्व पाया था, पर वह नहीं जानता कि वह उस भेद को कैसे कहे, और जब कह नहीं सकता तो कैसे अपने को समझाए शशि को जैसे वह उस सहज स्वीकृति में नहीं ला सकता था जिसमें सरस्वती को उसने पाया था—सरस्वती तो 'थी' ही। शेखर ने होश सम्भालने के समय से ही उसको अपने आसपास देखा था—पर शशि मानो उसकी अपनी खोज का परिणाम थी, असख्य प्राणियों के उस उलझे ससार में से उसने उस एक को खोज निकाला था अपने स्नेह के दायरे में बिठाने के लिए, वह बहिन, यानी अपनी होकर भी नयी, कुछ अपरिचित, कुछ आयास-सिद्ध थी जैसे उसे अपनाने के लिए हमेशा सतर्क रहना पड़ता था नहीं यह बात नहीं थी—वह नहीं समझ सकता था कि क्या बात थी

शशि फिर मिलने आई थी। इस बार शेखर ने अपने मे बात करने का साहस पाया था, और उसे जेल की कई एक बाते सुनाई थी, वह चुपचाप सुनती गई थी, उसकी विस्फारित आँखे शेखर पर टिकी थी बहुत देर बाद शेखर ने एकाएक जाना कि आँखे वही स्थिर होने पर भी मन उनके पीछे नही है, जैसे शशि उसकी अर्थहीन बाते सुनती हुई उसे कुछ कह रही है।

"क्यो—कुछ कहना है?"

शशि चौकी नही, मुस्करा दी।

"जिन लोगो ने उस सी० आई० डी० वाले को मारा था उन्हे तुम जानते हो?"

"हाँ, क्यो?"

"सब पकडे गए?"

"नही, अधिकाश बाहर है।"

"अच्छा? और तुम्हारे अलावा बाकी सब थे?"

"हाँ, ये ही, यद्यपि—पर खैर वे कानूनी बाते है।'

"तो, तुम पकडे कैसे गये?"

शेखर ने सक्षेप मे बता दिया कि घटनास्थल पर ड्यूटी दे रहे होने के कारण वह फँसा लिया गया है।

"तुम ड्यूटी देते थे—क्यो?"

शेखर ने परिस्थिति समझा दी।

शशि कुछ देर तक चुप रही। फिर बोली, "तुम सन्तुष्ट हो?"

शेखर ने उससे आँख मिलाकर कहा, "मै सुखी हूँ। कालेज आते समय तुमने जो बात कही थी, वह मै भुला नही सका।"

शशि ने कुछ विस्मय से कहा, "मैने? क्या कहा था—मुझे तो याद नही।"

"अच्छा है। श्रेष्ठ दान दे तो भूल ही जाना चाहिए। शशि—"

शशि की आँखो मे जो प्रश्न था वह धीरे-धीरे मिट गया। उसकी मुद्रा देखकर शेखर को भी न जाने कैसा लगा—जैसे दूर के भाई-बहन होकर भी एक ही धमनी का रक्त दोनो मे प्रवाहित हो रहा है, और उस सम्पूर्ण ज्ञानैक्य मे कथोपकथन को स्थान नही है क्या ऐसा ही भाव शशि के मन मे था? वह कैसे जाने?

शशि जाने लगी तो उसने पूछा, "पर तुमने बताया नही—"

"क्या?"

"तुम कुछ बताना चाह रही थी न—मुझे दीख गया।"

शशि की मुस्कराहट मे वेदना थी। उसने रुकते-रुकते कहा, "हाँ, चाहती थी। पर कह नही सकती—यहाँ नही। और लिख भी नही सकती—मै नही चाहती कि ऐसी बेहूदा चिट्ठी लिखूँ जो जेलवालो को पढने दी जा सके।"

"मैंने भी एक लिखकर फाड डाली थी। तव ?"

"देखो—" कहकर वह चली गई। यदि वह जानती कि जेल मे किसी का मन उकसाकर उसे अतुष्ट छोड जाना क्या होता है, तो

उस रात शेखर ने वह किया जो जेल के अन्य कैदियो को करते सुनकर वह झुँझलाहट से दाँत पीसकर रह जाता था—वन्द होने के कुछ समय बाद जव गिनती हो चुकी और ताले ठोके-वजाए जा चुके और "सव—अच्छा—आ-आ" की पुकार उस 'सव-बुराई' के रौरव की विडम्वना कर चुकी और कुछ शान्ति हुई, तव उसने दोनो हाथो से कोठरी के द्वार के दो सीखचे पकडे ओर अपने तन के समूचे जोर से उसे झकझोरने लगा उसका शरीर झनझना उठा, दाँत जैसे रेत की रडकन से किचकिचा उठे, ताला, सीखचे चौखट सव खडक उठे और सहानुभूति मे बाहर आँगन के पार का लोहे के पत्तर का किवाड भी क्रुद्ध फुँफकार-सी कर उठा उसके तने हुए शरीर के हिलने से उसकी ऐन्द्रिक अनुभूति ने मानो पृथ्वी के ही कम्पन का रूप ले लिया, वह असह्य कर्कश कोलाहल मानो किसी सहारक शक्ति के ताण्डव-सा गूँज उठा वह उसे सह नही सकता था—सह नही सकता था इसलिए ओर भी जोर मे फाटक को झझकोरता था मै इस वन्धन को तोडना चाहता हूँ, मुक्त होना चाहता हूँ, क्योकि किसी को मुझे कुछ कहना है और वह जानना मेरे लिए आवश्यक है, सुख से अधिक आवश्यक, शान्ति से अधिक आवश्यक, जीवन से अधिक आवश्यक, मेरे वल से, पुरुषार्थ से भी अधिक आवश्यक विवश, विवश, विवश, मूर्ख क्रोध व्यर्थ, व्यर्थ, व्यर्थ उद्भ्रान्त अहकार

उसकी विवश उदभ्रान्ति ने ही अन्त मे सान्त्वना दी—पसीने से ,तर, थकान से लडखडाता, दूसरे कैदियो की अवमानना के लिए लज्जा से डूवा हुआ वह खड्डी पर जा गिरा और निस्पन्द, निरश्रु आँखो से छत की ओर देखा किया

उसे कुछ कहना है, मै जानना चाहता हूँ, मै जानना चाहता हूँ, मै

एकाएक वह तडपकर औधा हो गया, एक आँधी-सी उसके तन को हिला गई, आधे घण्टे वाद खजूर की चटाई के नीचे से ताजे कीचड की वू ने ही उसे वताया कि वह अभी तक अवश सिसकता जा रहा है

* * *

एक निर्वुद्ध कुहासा शेखर के मन पर छा गया—जड मनहूसियत का एक पर्दा-सा। उस रात उस तरह रोने के वाद से ही जो घनीभूत कुछ उसे दवाए जा रहा था, उसे किसी तरह भी वह उतारकर न फेक सका।

धीरे-धीरे एक डर-सा उसे लगने लगा—क्या मै हार रहा हूँ ? क्या जेल का जीवन मुझे तोड रहा है ? क्या मै कायर हूँ ? जैसे किसी भीतरी घाव मे ककड चुभे, ऐसे ही यह सशय उसके भीतर चुभता था नही तो मै क्यो ऐसे वेवस होकर रोया ? जो समर्थ है, जो वीर है, वे क्या रोते है ? ऐसे कोठरी मे अकेले वन्द पडकर भेड की तरह मिमियाते है ?

उसने कही पढा था, जो रो नही सकता वह अवश्य विश्वासघात करता है, रो सकना अपने प्रति—अपने हृदय के प्रति—सच्चे रहने का लक्षण है शायद वह ठीक है पर यह—यह और चीज है, यह तो निरी निपट निर्बल बेबसी है

किन्तु रोने के बाद उसे क्यो लगा था कि वह हल्का है, साफ है, और हाँ, समर्थ भी है हारने मे तो ऐसा नही होता, हार मे तो प्रत्येक बार आदमी अपने को कुछ अधिक निर्बल, कुछ पतित अनुभव करता है क्या वह पतित हो गया है—हो रहा है ?

उसका आहत व्यक्तित्व इस प्रश्न पर विद्रोह से चीत्कार कर उठा, पर निर्दय परीक्षक की तरह वह पूछता ही जाता, क्यो, अगर झूठ है तो तुम्हे चुभता क्यो है ? बोलो, बताओ, क्या तुम अपराधी हो, पतित हो ?

अगर उसे जरा भी सन्देह होता कि जेलवालो ने उसका यह रूप देखकर उसे 'पराजित' समझकर ही कुछ अधिक स्वाधीनता दी है, तो वह उसे लेने से इनकार कर देता। अब उसे कहकर तो कुछ नही दिया गया था, किन्तु टहलते समय वह अपनी कोठरियो की कतार से आगे बढकर दूसरी कतार—'भारतवर्ष'—तक चला जाता तो वार्डर उसे रोकता नही था और प्राय कैदियो से बात भी कर लेने देता था।

ऐसे ही एक दिन शेखर एक कोठरी के बाहर के आँगन मे घुसा, तो वार्डर ने कहा, "बाबूजी, दारोगा साहब हमारी जान को आ जाएँगे—" पर उसके स्वर से ही शेखर ने जान लिया कि दारोगा की ओर से कोई मनाही नही है, वार्डर स्वय ही उसे उस विशेष कोठरी मे जाने से रोकना चाहता है। वह कैदी अवश्य ही कोई खास आदमी होगा। वह वार्डर की उपेक्षा करके भीतर घुस गया।

"आप शायद कुछ ही दिन से यहाँ है ?"

प्रश्न की आत्मीयता और उसकी ध्वनि की सहज प्रसन्नता से शेखर ने चौककर देखा। सीखचो मे सटा हुआ एक वृद्ध चेहरा, ऊपर शुभ्र जटा और नीचे धवल दाढी से आवृत एक निर्मल मुस्कान से उसका स्वागत कर रहा था। मानो हिमशृङ्ग पर धूप खिल आई हो

शेखर ने विस्मय से कहा, "आपने कैसे जाना ?"

"आपके चेहरे पर दीखता है। नया चेहरा हमेशा प्रश्नो से भरा हुआ होता है—वह जानना चाहता है। पुराने पापी तो ताक मे रहते है कि कोई सुननेवाला मिले। जीवन समाप्त होने पर एक ही बात तो बची रहती है—उसकी कहानी !"

शेखर ने नए विस्मय से भरकर पूछा—"आप कौन है ?" इस व्यक्ति के आगे शिष्टाचार मानो स्वय झर जाता था—प्रश्न या तो सीधा-सीधा पूछा जा सकता था, या नही-ही पूछा जा सकता था।

"मेरा नाम मदनसिह है। सन् '०९ मे पकडा गया था। तब से जेल मे हूँ।"

इक्कीस वर्ष जेल मे रहकर यह आदमी ऐसे हँस सकता है ? शेखर को लगा कि वह कुछ छोटा हो गया है, या उसके सामनेवाला व्यक्ति कुछ ऊँचा उठ गया है।

"मै तो अभी आया हूँ, यह आपने जान ही लिया। कालेज मे पढता था, वहाॅ से यहाॅ पहुँच गया।"

"कौन-सी श्रेणी मे ?"

"एम० ए० मे। पिछले साल बी० ए० पास किया था।"

"भाग्यवान् है आप! मै तो बिलकुल अनपढ था जब आ गया था—यही मैने पढना-लिखना सीखा और यही रो-रोकर उन बडी बातो को जानने की कोशिश की है जिनके बिना कोई जी नही सकता। और आप —आप विद्या लेकर आए है। आपके सामने भारी दुर्ग है, लेकिन, उसकी चाभी आपके पास है।"

शेखर कुछ सोचता हुआ-सा बोला, "पता नही—मै तो अपने को बहुत छोटा अनुभव करता हूँ।"

"है भी मनुष्य कितना छोटा! पर आप मेरी बात माने न माने, है वह ठीक। मैने अपने लिए चाभी स्वय अपने कष्ट से बनाई थी। आपने सुना है न गरीब की साॅस वह धौकनी होती है जो लोहा गला दे ? उसी से मैने काम लिया" एक मधुर हँसी फिर कोठरी मे गूंज गई।

शेखर के मुख पर स्पष्ट अविश्वास का भाव दीख गया। कोशिश करने पर भी वह उसे नही छिपा सका।

"हाॅ, मैं समझ रहा हूँ—आप सोच रहे है, यह आदमी बन रहा है। लेकिन सच मानिए, जहाॅ मेरी बुद्धि रह गई, वहा आॅसुओ के जोर से, हाॅ, आॅसुओ के जोर से मै जिया—" एकाएक कोठरी के भीतर की ओर घूमकर उन्होने कहा, "वह देखिए, मेरे पास सबूत भी है। यह आप पढ सकते है ?"

सामने की दीवार पर जहाॅ मदनसिह ने उँगली रखी थी, कुछ कठिनाई से शेखर ने लिखा हुआ वाक्य पढा—'दासता क्या है ? अप्रिय तथ्य का ज्ञान नही, असत्य का ज्ञान भी नही, दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शान्त करने मे असमर्थ होना, वह बन्धन, वह मनाही, जिसके कारण हमारा ज्ञान माॅगने का अधिकार छिन जाता है।'

"और यह देखिए।"

शेखर ने फिर परिश्रम से पढा—'हमारी सभ्यता मानव की शैशवावस्था को बढाने का अनन्त प्रयास है। वह चाहती है सुरक्षा, पुरुषत्व माॅगता है साहस।'

"और इधर अँधेरे मे है, आप कहे तो मै सुना सकता हूँ। पर आप शायद ऊब जाएँगे। खैर, काम की बात यह कि इनमे एक-एक नुस्खा पाने के लिए मै घण्टो रोया हूँ। मुझे दीखता है कि शान्त बैठ रहना तपस्या नही है, शान्त न बैठ सकने से ही तपस्या शुरू होती है।" एकाएक उनका चेहरा फिर खिल गया। "देखिए,—विद्यावान् के निकट आने से ही मैने बिना रोए यह बडी बात जान ली।"

शेखर झेंपा-सा चुप रह गया। मदनसिंह कहते गए, "ऐसे सौ-एक सूत्र लिखे पडे है। यह तीन साल का काम है—तब कोठरी मे सफेदी हुई थी। उससे पहले के मिट गए—एक-आध शायद दीख सके—" वे एक कोने की ओर झुके, "हाँ यह देखिए, "क्रान्ति का प्रमाण यह है कि उसके लिए चारित्र्य आवश्यक है।"

सीधे होकर उन्होंने शेखर की ओर देखा, वह कुछ कहने को उतावला हो रहा था। "आप कहेगे कि यह सब मैं किताबो मे पढ चुका हूँ? आपके पास विद्या की चाभी थी—मैं तो अभी सीख रहा हूँ।"

शिष्टाचार इस आदमी के आसपास कही नही फटकता था—उसकी विनम्रता भीतर के किसी झरने से फटी पडती थी। अपने को और भी तुच्छ अनुभव करते हुए शेखर ने कहा, "आपको तीन साल इसी कोठरी मे हो गए?"

"तीन? मैं तो नौ साल से इसमे हूँ। लेकिन आपने उस पठान की कहानी सुनी है न जो जेल मे तीस साल काटकर अपनी आयु अठ्ठाईस बताता था।" शेखर का सिर हिलता देखकर—"जब वह जेल से लौटा तो किसी ने पूछा, खान, तुम्हारी उम्र कितनी है?" बोला, "अठ्ठाईस।" पूछनेवाले ने फिर कहा, "जेल मे कितनी देर रहे!" तो जवाब दिया, "पता नही।" "जेल गए तब कितनी थी?" बोला, "अठ्ठाईस" पूछनेवाले ने जब उसके गणित पर आपत्ति की तो बोला, "जेल क्यो जोडते हो? उन दिनो तो कुछ हुआ ही नही तो उम्र कैसे बीत गई?" वही हाल मेरा है। पर बाल तो पक ही जाते है—" एक हल्की-सी उदासी उनकी उनकी आँखो मे दौड गई।

शेखर के भीतर तीव्र कामना जागी कि वह इस धवल-जूट शिशु को हाथ जोडकर अभिवादन करे किन्तु किसी मिथ्या अहकार ने कहा—'नही, यह नही करना होगा—'उसने सोचा, विदा लेकर चले।

"आप ऊब तो नही गए—फिर आएँगे न? मैंने कहा था, खूसट बुड्ढे सुनाना ही चाहते है, कोई मिल जाय सही सुननेवाला!" मदनसिंह फिर मुस्करा दिए।

शेखर का आन्तरिक तनाव मानो दूर हो गया। उसने हँसकर कहा—"और मैं तो जिज्ञासु हूँ ही!" फिर एकाएक गम्भीर स्वर में उसने कहा, "आपकी बातो से अभी ही कई प्रश्नो का उत्तर मुझे मिल गया जिन्हे पूछने का साहस मुझमे नही था। मालूम होता है कि अहकार स्वाभाविक होता है, विनय सीखनी ही पडती है।"

"सूत्र बोलने का रोग आपको भी लगा क्या? जेल मे बातचीत ही अस्वाभाविक हो जाती है।"

आँगन के फाटक तक पहुँचकर एकाएक शेखर ने अपना सारा साहस बटोरकर लौटकर कहा, "पिछले हफ्ते मैं भी खूब रोया था—" और तब एकाएक कृतज्ञता और लज्जा से भरकर जल्दी-जल्दी अपनी कोठरी की ओर बढ गया.

फिर एक दिन घूमता हुआ वह 'भारतवर्ष' वाली कतार की परली सीमा तक चला गया था। आखिरी चार कोठरियो मे शायद फाँसी के कैदी थे—उनके आँगनवाले पत्तर के फाटक वन्द थे और भीतर सन्तरी वन्दूक लिए पहरा दे रहा था। शेखर लौट पडा।

कुछ-एक कोठरियाँ लाँघकर वह सोच ही रहा था कि किसी से वात करे, कि एकाएक पुकार आई, "ओ मौलवी!"

शेखर कल्पना नही कर सकता था कि यह पुकार उसके लिए थी, पर उसके साथ का वार्डर सिख था, और पुकार फिर आई, "वात तो सुन जा, ओ मौलवी।'

शेखर ने आँगन मे खडे होकर पूछा, "मुझे पुकार रहे थे क्या ?"

"हाँ, और किसे। मौलवी तो वने हुए हो, कितने दिन से हजामत नही वनाई है। उस्तरा नही है क्या ?"

"है तो, पर यहाँ कौन देखता है, यो ही नही वनाई।"

"अरे भले आदमी, कोई नही देखता तो क्या अपने भी नही चुभती ? और खुद तो वाहर जाने लायक वने ही रहना चाहिए—फिर कोई छोडे न छोडे वला से!" वह अपने वडे-वडे पर सुघड और उज्ज्वल दाँत निकालकर हँस पडा।

शेखर तय नही कर सका कि इस सहज परिचय का सामना किस तरह करे। अगर यह आत्म-विश्वास से उत्पन्न हुई है, तव तो इसका सम्मान करना चाहिए, अगर ओछेपन से तो—

"न हो तो एक पतरा मुझे ही भेज देना। मुझे तो हर समय रिहाई के लिए तय्यार रहना अच्छा लगता है।"

शेखर ने हँसकर कहा, "अच्छा, कल ला दूँगा।"

"तुम उन्ही नए पोलिटिकलो मे से हो न जो सी० आई० डी० वाले को पीटने के जुर्म मे आए है ?"

"हाँ।"

"ठीक। अच्छा, मै तुम्हे मौलवी कहा करूँ न ?"

"तुम्हारी मर्जी है।"

"मौलवी होते तो मक्कार है, पर मेरा मौलवी हिन्दू होगा तो निभ जायगी।"

शेखर चुप रहा।

"और सुनो, मुझे यहाँ अकेला-अकेला लगता है। शाम को अच्छा नही लगता। तुम कौन-सी कोठरी मे हो ?"

"परली कतार मे—वारहवी मे।"

"अरे इतनी दूर! खैर। मै शाम को तुम्हे गाना सुनाया करूँगा। गाना वुरा तो नही लगता ?"

"गाना हो, तव तो वुरा नही लगता।"

वह ठठाकर हँसा। "यह तो तुम जानना कि गाना है या नही, मै तो गा दूँगा। अच्छा अब जाओ।"

शेखर चलने लगा।

"मेरा नाम है मोहसिन–मुहम्मद मोहसिन। पर तुम मुझे क्या पुकारोगे?"

शेखर ने शरारत से कहा, "पडित।"

"वाह वा! ठीक है। तब मै हजामत करके तिलक भी लगाया करूँगा।"

लौटते हुए शेखर को वार्डर ने बताया कि यह लडका मोहसिन अजब लफगा है–हर किसी को तुम कहके बुलाता है–दारोगा और साहब को भी–और हर वक्त ठट्ठा करता रहता है। लावारिस है, बाप-माँ, भाई-बन्द कोई नही है, तभी ऐसा उलग हो गया है। एक मौलवी ने पाल रखा था और पढाया था, पर पीछे स्कूल मे बिगड गया, और बगावत फैलाने के जुर्म मे एक साल की सजा पाकर आया है। पाँच महीने काटे है। हरदम, हरवक्त शरारत ही उसे सूझती है, और बराबर सजाएँ पाता रहता है–आजकल भी रात को हथकडी लगती है।

"रात को हथकडी?"

वार्डर ने बताया कि जेल के दण्ड विधान मे यह भी एक सजा है। शाम को बन्द करते समय कैदी के हथकडी लगा दी जाती है, सवेरे खोली जाती है जब मशक्कत का वक्त होता है। बदमाश हो तो उल्टी भी लगाते है–पीठ के पीछे। तब रात-भर औंधा पडे रहना पडता है। "पर, बाबूजी यह लडका अजीब बेशरम है कि पिछले पन्द्रह दिन से उलटी हथकडी भी लग रही है पर शरारत से बाज नही आता।"

"क्या करता है?"

"एक तो मशक्कत नही करता। कहता है, मैने बगावत फैलाई, तुमने जेल मे डाल दिया। अब मशक्कत क्यो करूँ? तुम मेरे लिए चक्की पीसो तब मै भी बादशाह के लिए पीस लूँगा। दूसरे जो मशक्कत दे फेक देता है। चक्की पीसने को दी गई थी, सब कबूतरो को चुगा दी। पूछने पर बोला, कबूतर मेरे भाई है, मुझे खुश रखते है! साहब ने बेडियाँ डलवा दी तो बेडियो से चक्की उखाड डाली, ईंटो से एक बडा-सा थाला बनाकर उसमे मिट्टी भर दी और पानी डाल दिया। फिर पेशी हुई तो कहने लगा कि खेती करूँगा–उसमे मक्की बोई है! लडका क्या है, शैतान की औलाद!"

शेखर का कौतूहल जाग गया था। उसने मोहसिन से फिर मिलने की ठानी, और कोठरी मे चला गया।

शाम को वह बैठा न जाने क्या सोच रहा था कि दूर कही कोठरी का 'जँगला' खडकने की आवाज उसने सुनी। उसका शरीर तन गया–उसे वह अवस्था याद आई जब उसने भी सीखचे पकडकर झझकोरे थे उसका हृदय समवेदना से भर आया–इस समय कोई वैसी

ही अवस्था मे से बीत रहा है जिसमे से वह निकला था वह कान देकर सुनने लगा। एकाएक वह कोलाहल बन्द हो गया, और शेखर ने सुना, जैसे कोई पुकार रहा है--

क्या उसने ठीक सुना था ? पुकार फिर आई--हॉ, मोहसिन पुकार रहा था--उसने भी दोनो फेफडे वायु से भरकर, मुँह उठाकर, स्वर को घना करने के लिए हाथो की आड देकर बचपन मे सुनी हुई किसानो की पुकार की नकल करते हुए पुकारा--"पण्डित हो--ओ !"

इस बार मोहसिन ने सुना। "गाना सुनाऊँ ?"

"हॉ सुनाओ।"

"क्या करते थे ?"

"बैठा था।"

"अच्छा सुनो।"

शेखर ने कल्पना से ही अठ्ठाइस कोठरियो की दूरी नापी और वहॉ ध्यान केन्द्रित किया। कहते है कि इन्द्रियॉ अपना काम अलग-अलग करती है, शेखर ने जैसे पॉचो-छहो इन्द्रियो की घनीभूत ग्रहण शक्ति से मोहसिन का गान सुना--

" आया तो क्या
"

मोहसिन का गला अच्छा था। स्वर मे तीव्रता भी थी और घनत्व भी। इतना अधिक चिल्लाने से उसमे कभी-कभी कर्कशता आ जाती थी--वह फट-सा जाता था--पर फिर भी उसका स्वाभाविक तरगित कम्पन श्रोता मे भी एक सिहरन पैदा करता था--जैसे उसमे चुपचाप सही हुई यातना का 'धक्--धक्' स्पन्दन गूँज रहा था

"मिट गई जब सब उम्मीदे मिट गए सारे खयाल--
उस घडी फिर नामाबर लेकर पयाम आया तो क्या।"

गीत बन्द हो गया। शेखर का तनाव कुछ ढीला हुआ--

"है गाना ?"

"है। बडा अच्छा है।"

"और सुनाऊँ ?"

"थक नही गए ?"

"गाते नही थकता मै !"

"अच्छा सुनाओ।"

मोहसिन फिर गाने लगा। किन्तु दो-तीन कडियॉ गा लेने के बाद उसका स्वर कुछ मन्द पडने लगा, और क्रमश उसे सुनना असम्भव हो गया। शेखर ने नही चाहा कि उसे सूचित करे--वह उस पागल साहसिक के प्रति झुँझलाहट, प्रशसा और कृतज्ञता से भर रहा था

दस-एक मिनट के बाद फिर पुकार आई, "मौलवी ओ-ए !"

"पण्डित हो।"

"अब सो जाओ। कल और सुनाऊँगा।"

"अच्छा।"

नीरवता। शेखर को याद आया, अभी अभियुक्त होने के कारण उसके पास लालटेन है, वह पढता रहेगा, फिर सो जायगा। पर मोहसिन कैदी है, उसके पास प्रकाश नही है, है घनी रात। शेखर ने बत्ती नीची कर दी, उठकर कोठरी के द्वार पर जाकर जँगले पकडकर बाहर अँधेरे आकाश की ओर देखता खडा रहा।

ऊपर बादल घिरे थे, अकाल मेघ—अर्थहीन और बेढगे

जेल मे इस समय चौदह सौ बन्दी होगे—और कम-से-कम सात सौ के पास प्रकाश नही होगा, और नीद का विस्मृति-जनक अन्धकार भी नही होगा

नीरवता—सन्तरियो की पदचाप से, नम्बरदारो की 'सब अच्छा।' से और दूर कही उल्लुओ के 'हू-हू' कराहने से कर्कश नीरवता—शेखर अनझिप आँखो से अदृश्य काले आकाश को देखा किया

टप्-टप्—वैशाख की पहली बूँदें एकाएक शिथिल होकर शेखर जाकर लेट गया, और लालटेन के बहुत छोटे-से अधनीले प्रकाश को, और उसके कारण छत पर बने हुए अँधेरे वृत्त को, देखता रहा

बन्धन

* * *
** ** **

शेखर को एक पत्र मिला।

उसके पत्र पढे जाकर और कट-छँटकर भेजे जाया करें, यह उसे असह्य था, अत उसने पत्र लिखना ही छोड दिया था। बाहर से भी पत्र बहुत कम आते थे, आते तो ऐसे जिनका उत्तर देना आवश्यक न होता। पर एक दिन वकील ने उसे कुछ कागज दिए और कहा, "इन्हे सँभालकर ले जाइएगा, आपके मुकदमे के आवश्यक कागज है। घर पर—क्षमा करें, जेल जाकर ध्यान से पढिएगा।" और शेखर ने रख लिए, जब जेल आकर वह बन्द हो चुका और रात घनी हो गई तब उसने उन्हे निकालकर पढना शुरू किया। कागजो पर केवल मुकदमे की टाइप पर छपी हुई कार्रवाई का विवरण था जिस पर कही-कही पेंसिल से कुछ नोट लिखे हुए थे, पर बीच मे एक सुई से नत्थी किए कुछ पन्ने थे जिन्हे देखकर शेखर चौक पडा—शशि का पेंसिल से बहुत बारीक लिखा हुआ पत्र था

क्षण-भर तक शेखर सब कुछ भूलकर बेबस रह गया—उसका हृदय इतनी ज़ोर से उछल पडा था कि मानो अब डूब ही जायगा फिर वह भूखी आँखो से पत्र निगलने लगा

शशि का विवाह हो रहा था। वर का चुनाव हो गया था, आषाढ मे तिथि

भी नियत हो गई थी। और शशि नही चाहती थी विवाह—अभी कुछ वर्ष वह उसका विचार भी नही करना चाहती थी।

अगर शेखर बाहर होता तो वह उसकी सहायता माँगती बातचीत को स्थगित कराने मे, पर वह जेल मे है, और—और कोई इस इतनी बडी दुनिया मे है नही जो उसका पक्ष ले। माँ है पर वे अकेली है, समाज के विरुद्ध वे क्या करेगी? अधिक से अधिक यह कि आषाढ से अगहन तक स्थगित कर देगी, पर उससे क्या? वचन-बद्ध ही होगी, तो कुछ नही कर सकेगी

एक धुन्ध-सी मे शेखर को ध्यान आया कि पत्र रखना नही है, यन्त्रवत् उसने दुबारा उसे पढकर मानो मन मे बिठा लिया, परिश्रम से उसके छोटे-छोटे टुकडे किए, चक्की के एक ओर गेहूँ रखने के थाले मे पानी भरकर उसमे उन टुकडो को मसलकर लिखत मिटाई और फिर गोली-सी बनाकर बाहर फेक दिया, तब वह पैर पटककर उठ खडा हुआ, कोठरी मे चक्कर काटने लगा और सोचने लगा

वह क्या करे? कैसे शशि की सहायता करे? वह सचमुच नही चाहती विवाह, उसने स्वय पत्र मे लिखा है कि आम तौर पर लडकियो को जो डर और अनिच्छा होती है उससे शशि की अनिच्छा बहुत भिन्न है, वह अनिच्छुक भी है, अप्रस्तुत भी है और वह अपने को अन्याय का शिकार भी अनुभव करती है.

मै बाहर होता, तो कुछ करता ही। लडता-झगडता, बहस करता। शायद लडका भी अच्छा न हो। उसे कालेज के अपने परिचित लडके याद आए जो भविष्य मे सरकारी पद पाएँगे, सफल और यशस्वी, और कन्याओ के पिताओ की विशेष अभिधा मे 'योग्य' ठहरेगे—क्या वह अपनी बहन को वैसे किसी की गृहिणी देख सकेगा?

अगर वह नही चाहती विवाह करना, तो कौन-सी मजबूरी है विवाह की? समाज कौन है मजबूर करनेवाला? सम्बन्धी कौन है? माँ कौन है? कोई भी कौन है उस पवित्र यज्ञभूमि मे, जिसमे आत्मा सकल्प लेकर अपने को दे देती है—'इद कृष्णार्पणमस्तु इदन्न मम—' नही, "इद अग्नये इदन्न मम अग्नये " अग्नये यही है सत्य—पत्नी की आत्मा सदा हुतात्मा है

क्या मौसी को लिखा जाय? पर अपनी अनिच्छा तो शशि माँ पर प्रकट कर चुकी है। क्या मौसी उसकी भावनाओ की उपेक्षा कर सकती है? पर बात-चीत तो वे आगे बढा रही है। क्या शशि ने काफी जोर नही दिया?

अगर मौसी उसकी बात मानकर विवाह से इन्कार कर दे तब क्या परिणाम हो सकता है? एक तो जो लोग वर खोजने की दौड-धूप कर रहे थे—मामा, चाचा, यह, वह—सब कहेगे कि नही मिलता था तो रोती थी, अब मिलता है तो दिमाग आसमान पर चढा जा रहा है, ऐसा है तो अपना काम आप देखो, हमे कोई वास्ता नही। कहेगे तो कहे, बला से! बल्कि छुट्टी पा लेगी मौसी।

दूसरे वर-पक्ष नाराज होगा—हो। तीसरे—तीसरे—तीसरे क्या? आगे के

लिए कठिनाई होगी—वर मिलेगा नही। जिस पुरुष-जाति मे शशि जैसी स्त्री की कद्र नही होगी, वह पडे चूल्हे मे—शशि उसमे शादी किए बिना मर नही जायगी।

क्यो नही मौसी इनकार कर देती ? क्या शशि के प्रति उनका उत्तरदायित्व नही है ? वे अनुभव नही करती ? मौसी विद्यावती न अनुभव करे तो कौन करेगा ? वे अवश्य करती होगी। पर—लडकी व्याहना भी तो उत्तरदायित्व ही है। वह भी तो माता-पिता को करना होता है। दायित्व है या नही, कम-से-कम वे अवश्य मानती है और सारा समाज मानता है। सस्कार ही ऐसा है—परम्परा यही है। पर व्याहना कर्त्तव्य है तो क्या अच्छी तरह व्याहना कर्त्तव्य नही है ? क्या यह 'अच्छी तरह' व्याहना है ? अच्छी तरह क्या होता है ? शिक्षा हो, धन हो, कुल हो, शील हो, चरित्र हो, रूप हो, यश हो और इनकी कसौटी क्या है ? डिगरी हो, बँधी नोकरी या जायदाद हो, सम्बन्धी हाकिम हो, बातचीत सलीके से करे, कही निन्दा न सुनी गई हो, रग गोरा और नाक-आँख भले हो, यार-दोस्त प्रशसा करे या शायद अखबार मे नाम छपे ! क्या ये चीजे आदमी बनाती है ? क्या ये और केवल ये आदमी को देवत्व का वह अश दे देती हैं कि वह किसी की आजीवन तपस्या का पुण्य अपने खाते मे लिखने का हकदार हो जाय ? शेखर का मन फिर अपने कालेज के अनेक साथियो की ओर लौट गया—उफ ! इन सब वस्तुओ मे भी तो कोई गारण्टी नही है कि कल्पना का देव-पुरुष वास्तविकता का यज्ञ-ध्वसक राक्षस नही होगा ?

सारा प्रश्न यह है कि व्याह पहले किसका दायित्व है ? माँ-बाप का, या वर-कन्या का ? कौन-सा धर्म पहले है—कि व्यक्ति गृहस्थ बने, या पितर सास-ससुर बने ? पितरो का काम सहायक का है, विधायक का नही। क्या शशि ही को इनकार करना चाहिए ?

उसका परिणाम ? सम्बन्धियो का क्रोध तो है ही। माता का भी हो सकता है। निन्दा भी है—'लडकी का चरित्र अच्छा नही है' 'माँ ने ही बिगाडा है' और जो लडकी चरित्र-हीना घोषित हो चुकी, उसकी चरित्रहीनता के प्रमाण खोजते कितनी देर लगती है ? और उसके बाद ? जिसे 'समाज के लिए खतरनाक' कह दिया जाता है, उसके लिए समाज तत्काल खतरनाक हो जाता है 'लडकी ने शादी नही की। क्यो नही की ? आजाद तबीयत की होगी—और ऐसी तबियत की लडकी क्या बीस वर्ष की उम्र मे भी पुरुषो की उपेक्षा ही कर जायगी ? असम्भव !' और निन्दक समाज निन्दित का प्रसाद पाने भी आ जुटेगा—नृशस, राक्षस !

शेखर की बुद्धि मे मानो गाँठ पड गई, इससे आगे वह नही सोच सका वह द्रुत गति से चक्कर काटने लगा, और हर कदम पर मुट्ठियाँ बाँधकर पूछने लगा, क्या करूँ—क्या करूँ—क्या करूँ ? गति द्रुततर होती गई, कदम भी पाँच की बजाय तीन पडने लगे, इतनी जल्दी-जल्दी रुख बदलने से सिर भी घूम गया, पर प्रश्न का उत्तर नही मिला उसका आवेश, उसकी पराजित बुद्धि का आक्रोश बढने लगा—उसने दोनो हाथो से सिर पकडकर मीज लिया, फिर मुट्ठियाँ

मे वाल भरकर मुट्ठियाँ जोर से घोट ली बाल खिचने लगे, उनकी पीडा से सिर को कुछ शान्ति मिली, पर प्रश्न क्या करूँ क्या करूँ ?

"ओ मौलवी ओ—ए।"

मोहसिन बुला रहा था। उत्तर देने की शेखर की इच्छा नही थी। उस समय वह शशि की समस्या के और अपने प्रयास के अतिरिक्त और कुछ नही जानना चाहता था—किसी भी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान नही चाहता था। वह ओर शशि की समस्या

"मौलवी ओ—ए। ओ मौलवी।"

उस शाम मोहसिन ने उसे नही बुलाया था, न जाने क्यो ? अब वह वार-वार पुकारता ही जा रहा था, उसका स्वर ऊँचा ही उठता जा रहा था—

"मोलवी ओ—ए। मर गए ? ओ मौलवी।"

नही, वह पीछा नही छोडेगा। शेखर ने पुकारा, "पण्डित हो।"

"क्या कर रहे हो ?"

"कुछ नही।"

"वोले क्यो नही ?"

"ध्यान नही था।"

"रो रहे हो ?"

"नही—"

"अच्छा सो जाओ, मै नही वुलाता।"

क्या उसे दु ख पहुँचा ? और क्या शेखर के स्वर से ही वह भाँप गया कि शेखर अशान्त है ? उसे कुछ परिताप हुआ। उसने अपने को मजबूत करके आवाज़ दी—"पण्डित हो।"

"हाँ, ओ—ए।"

"गाना नही सुनाओगे ?"

"अच्छा ? तुम्हारा जी नही है—"

"नही, सुनाओ।"

"अच्छा।"

मोहसिन गाने लगा —

शेखर ने दो-एक कडियाँ सुनी और सोचने लगा, मोहसिन को इस समय यह गाना क्यो याद आया ? क्या मेरे लिए ही वह गा रहा है ? किन्तु शीघ्र ही उसका मन भटकने लगा, गाना सुनना वह भूल गया।

पूछता था, 'रो रहे हो ?' उसने कैसे जाना ? वह भी रोया होगा कभी—पर मोहसिन ? असम्भव। रोना आया होगा तो किसी से लड पडा होगा, वस। वावा मदनसिह कहते थे, रोना अच्छा है—रोने से प्रकाश मिलता है। तीन वर्ष मे सो वार—वरस मे तेतीस—महीने मे करीव तीन वार इतना रोए है

बावा ? कितनी स्वच्छ है उनकी हँसी ! कोई कल्पना करेगा कि यह आदमी रोता है ? और मैं—

एक क्रुद्ध झपेटे से शेखर ने आँख मे आई हुई बडी-सी बूँद पोछ डाली। फिर वह बैठ गया।

नही रोऊँगा—नालायक ! प्रकाश मिलता है तो मिले ! मुझे नही चाहिए रोकर पाया हुआ प्रकाश। मैं अपना रक्त जलाकर प्रकाश पैदा करूँगा रक्त के आँसू—रक्त के आँसू—क्या मतलब ? रोना ही रक्त जलाना है ? बकवास। कमजोरी के बहाने है।

—और मैं—ऐसा हूँ कि मोहसिन ने इतनी दूर से पहचान लिया कि मैं रोनवाला हूँ इससे तो रोकर स्वच्छ रहना अच्छा—

नही, मुझे जवाब खोजना है। शशि के लिए मार्ग खोजना है

वह उठकर जँगले पर चला गया, आकाश की ओर देखने लगा। इधर-उधर दो-चार तारे बिखरे हुए थे। अनजाने उसकी देह तन गई थी, उसके हाथ सीखचो को पकडकर घुट गए थे—उसने चौककर उन्हे छोड दिया।

नही, भीतर के इस उबाल को किसी तरह भी बिखरने नही दूँगा, किसी की सहायता नही लूँगा, स्वय मार्ग खोजूँगा, अपने लिए और शशि के लिए, शशि के लिए और अपने लिए

और चक्कर काटना फिर आरम्भ हुआ—एक, तो, तीन, चार, पाँच—एक, दो, तीन, चार, पाँच

और रात भी ढलती चली ग्यारह, सब अच्छा ! बारह, सब अच्छा ! एक, सब अच्छा ! दो, सब अच्छा ! शून्य—धुन्ध—शून्य उसके आगे शेखर को बोध तब हुआ जब उसने देखा कि उसके मुँह पर धूप पड रही है, आठ बजे है, और वह थका-चूर खड्डी पर पडा है।

क्या हुआ था ? स्मृति की लहर आई—शशि

वह जान गया कि वह उसे क्या लिखेगा।

* * *

चिट्ठी लिख चुकने के बाद शेखर जैसे किसी तन्द्रा से जाग उठा, एकाएक उसके आसपास का जीवन फिर उसके सामने आ गया, उसकी सब जिज्ञासाएँ पुन जाग उठी, मुकदमे की ओर भी कभी-कभी उसका ध्यान जाने लगा। न जाने क्यो मुकदमे की अब लम्बी-लम्बी तारीखे पडने लगी थी। शायद सबूत कमज़ोर समझा जाने लगा था और सरकारी पक्ष नयी तय्यारी का प्रबन्ध चाहता था। शेखर कभी-कभी अदालत में बयान सुनकर सोचा करता कि उसका कितना प्रभाव किस ओर पडा है। पर प्राय उसका ध्यान सिद्धान्त या व्यवहार के ऐसे प्रश्न लिए रहता जिनका दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नही—ऐसे प्रश्न जो विद्याभूषण से टक्कर होने पर बार-बार जाग उठा करते

बाबा मदनसिंह से मिले शेखर को कई दिन हो गये थे। एक दिन अकस्मात शेखर को विचार आया कि जो प्रश्न वह विद्याभूषण से पूछा करता है वह बाबा से पूछे--बाबा की बातो से जान पडता था कि वे जो उत्तर देंगे वह शास्त्रीय चाहे हो चाहे न हो, उसके पीछे गम्भीर विचार की शक्ति अवश्य होगी

दूसरी बार मिलने पर भी बाबा मदनसिह का आनन्दित विस्मय और स्वागत-भाव उतना ही सरल था जितना पहली बार, पर उसके बाद फौरन ही उन्होंने गम्भीर होकर पूछा था, "आप चिन्तित दीखते हैं--क्या बात है ?"

बाबा से बात करना, प्रश्न करना कठिन नही था। शेखर ने सक्षेप मे अपने और विद्याभूषण के विवादो की बात उनसे कह दी, और फिर पूछा, "मै आपकी राय जानना चाहता हूँ। पहले हिंसा का प्रश्न लीजिए। क्या हिंसा उचित है? और क्या वह लाभकर है?"

बाबा मदनसिंह ने आँगन के फाटक की ओर देखकर पूछा, "आप अकेले है ?"

इधर कुछ दिनो से वार्डर ने अपने कामो मे काफी ढील देनी आरम्भ की थी--केवल बन्द करने का समय वह नही भूलता था। बाकी उसने शेखर पर छोड दिया था--"बाबू साहब, आप समझदार है, मुझ गरीब पर कोई मुसीबत न लाइएगा।"

बाबा मदनसिंह बोले, "देखिए, मै आपसे कह चुका कि मै पढा-लिखा आदमी नही हूँ। मेरी बात मे कुछ सार होगा तो इसीलिए कि मैंने जो पढकर नही जाना उसे सहकर जानने की कोशिश की है। यह भी मै कह चुका हूँ कि जेल मे आदमी स्वाभाविक ढग से नही रहता या सोचता, उसका तर्क विकृत होता है। तब मेरी बात का क्या मोल ? मेरे तो कुछ-एक सूत्र है जो मैंने अपनी तसल्ली के लिए गढ लिए है। एक सूत्र यह भी है कि हरएक को अपना रास्ता खुद बनाना चाहिए। यह सूत्र तो आपके शास्त्र मे भी होगा ?"

शेखर ने कहा, "मै भी तो जेल मे हूँ--अस्वाभाविक अवस्था मे। तभी ये प्रश्न भी मेरे लिए इतने बडे बन गए है--स्वाभाविक जीवन मे इतनी बाते कहाँ सूझती ? बाहर तो प्राय पाँचो ही इन्द्रियो से जीना होता है, यहाँ छठी ही पीछा नही छोडती। तो समाधान भी अगर अस्वाभाविक हो तो क्या बुरा है ? मुझे लगता है कि आपकी बात ही ज्यादा सच होगी, क्योकि आप उसकी कमजोरी भी दिखाते जाएँगे।"

"आप पूछते है, तो मै कहता हूँ। पर मेरी बात सुनकर भूल जाइएगा, मानिएगा नही ! कभी--अगर आपको यही रहना पडा--तब आप खुद सब बाते जान लेगे--आप तो पढे-लिखे भी है--तब चाहे इस बुढऊ की बाते याद करके मिलान कर लीजिएगा कि कहाँ क्या फर्क है।"

"अच्छा।"

"सूत्र कहने से आपको अच्छा नही लगेगा--आप ही की बात लेकर चलता हूँ। मै प्रकृति को बडी चीज मानता हूँ। यह भी मानता हूँ कि उसके नियम एक बहुत विशाल बुद्धि पर, प्रज्ञा पर, टिके हुए है। और मझे मानव-जाति के भविष्य मे गहरा विश्वास है। ये बाते

मैंने जान-बूझकर कही है—अभी आपको शायद व्यर्थ लगेगी।" क्षण-भर रुककर वे आगे कहने लगे, "आपको लगता है, हिसा नकारात्मक है, निरा सहार है, उससे सृजन नही हो सकता। बिल्कुल ठीक। पर यह आप कैसे जानते है कि जिस चीज मे सृजन नही होता वह गलत ही है? और यह भी आप कैसे मानते है कि सृजन करना आप ही के हाथ मे है?"

शेखर कुछ बोला नही, अपनी मुद्रा से ही उसने यह दिखाया कि वह समझा नही, बाबा का इशारा किधर है।

"आपने किताबो मे पढा होगा, जब घर मे स्वच्छ हवा का सचार करना होता है तब केवल हवा निकलने के मार्ग बनाए जाते है। प्रवेश उसका अपने-आप हो जाता है। जब आप साँस लेते है, तब उसे निकालने मे जोर लगाते है, फिर फेफडे भर अपने-आप जाते है। इसको सूत्र मे बाँधकर वैज्ञानिक कहते है कि शून्य प्रकृति को नापसन्द है। हाँ, यह सूत्र आपको याद आया दीखता है। मेरा सूत्र यह है कि सबसे आवश्यक देवता रुद्र है—ब्रह्मा तो आवश्यकता-अनावश्यकता के फन्दे से परे है। हमें विनाश के गणो की रचना करनी होगी, सृजन, जन्म—आपके शब्दो मे रचनात्म चीज—तो अनिवार्य है। क्षति-पूर्ति स्वयभू है। यह मेरा दृढ विश्वास है। इसीलिए मै आज सहारकारी युग मे भी मानव के भविष्य मे विश्वास करता हूँ—भविष्य वर्त्तमान् की क्षति-पूर्ति है, इस-लिए वह स्वयभू है, उससे निस्तार नही है।"

बाबा ने रुककर शेखर की ओर देखा। मानो कुछ सन्तुष्ट होकर वे फिर कहने लगे, "इस तर्क से शायद हमारे अभिमान को चोट पहुँचती है। अगर सहार और सृजन प्रकृति का भाटा और ज्वार है तो हम कहाँ है? क्या हम प्रकृति की उद्देश्यपूर्ति के निमित्त से अधिक कुछ नही है? क्या हम भाग्य-बद्ध है? क्या आत्म-निर्णय झूठ है? इन प्रश्नो का उत्तर नही है, क्योकि ये प्रश्न हर किसी के मन मे नही उठते। और जिसके मन मे उठे वह अपने सूत्र खुद ढूंढे।"

वे फिर कुछ देर के लिए रुक गए।

"नश्तर की और चिकित्सा की बात मुझे नही जँची। मुझे लगता है कि प्रश्न को इस ढग से रखना ही गलत है कि 'हिसा हो या न हो।' प्रश्न यह है कि अहिसा क्या है? क्योकि यह आपकी बात मै मानता हूँ कि 'हिसा के लिए हममे स्वाभाविक घृणा है तो उसका कारण होना चाहिए।' यह आपका सूत्र—" एक मुस्कराहट उनके चेहरे पर दौड गई—"बहुत महत्त्व का है। हाँ, तो अहिसा क्या है? यह तो स्पष्ट है कि निष्क्रियता वह नही है। निष्क्रियता, कायरता, सब से भीषण और घृणित प्रकार की हिसा है। तब अहिसा क्या है? अगर आत्म-पीडन, आत्म-बलिदान अहिसा है, तब हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि 'अहिसा-त्मक' रक्तपात भी हो सकता है। इस बात को मान लेने पर फिर यह क्यो कहा जाय कि सब रक्तपात हिसा है?"

बाबा मदनसिंह ने फिर एक बार स्थिर दृष्टि से शेखर की ओर देख लिया।

"यह तर्क अच्छा नही है। आपके कहने से पहले ही मैं स्वीकार कर लेता हूँ। मै इसे पेश कर रहा हूँ तो इसलिए कि आपका ध्यान एक और बात की ओर जाय—कि रक्तपात कभी सामाजिक कर्त्तव्य हो जाता है। अगर ऐसा है तो, वह रक्तपात अनुचित नही रहता, और अहिंसात्मक वह हो ही सकता है। मेरा अभिप्राय यह है कि अगर आत्म-संहार अहिंसात्मक हो सकता है, तो फिर रक्तपात के हिंसा या अहिंसा होने की कसौटी सामाजिक—या कह लीजिए आध्यात्मिक—आवश्यकता ही होगी। यह नही कि गिरा हुआ रक्त मेरा है या दूसरे का। मेरा रक्त किसी के रक्त से पतला नही है।"

शेखर का मन विचलित हो गया था। उसे बाबा का तर्क पसन्द नही था, परिणाम भी पसन्द नही थे, पर वह सोचने का समय चाहता था। वह बोला, "यह आज के लिए काफी है। इसे चबा लूँ, फिर आगे सही। अगर इसमे गुठलियाँ निकलेगी तो आप ही के पास लाऊँगा फोडने के लिए।" वह हँस पडा।

"ठीक है। मै अपनी गुठलियाँ अपने लिए फोड़ूँगा। आज अपने फल स्वयं पकाइए और खाइए। मैं तो एक कलम के नमूने पेश कर रहा हूँ।" बाबा भी हँस दिए। फिर कहने लगे, "जब आप गुठलियाँ मुझी से चबवाएँगे, तो एक फल और लेते जाइए। मैंने कहा था न बुड्ढो को कोई सुननेवाला चाहिए।"

"कहिए—"

"मैंने कहा कि अहिंसा ठीक है, पर उसकी परिभाषा ठीक हो तभी। सफल भी वह तभी हो सकती है। मुझे लगता है, अहिंसा उपयोगी तभी होगी जब वह आक्रामक अहिंसा हो—यानी जब वह केवल पारिभाषिक अहिंसा रह जाय। जैसे बहिष्कार मे—बहिष्कार तभी सफल होता है जब उसे अस्त्र के रूप मे किसी विशिष्ट व्यक्ति या संगठन के विरुद्ध बरता जाय—सारी दुनिया का बहिष्कार अपना ही बहिष्कार होगा। अब भारत चाहे कि सारी दुनिया का व्यापारिक बहिष्कार कर दे, तो वह असम्भव भी है और व्यर्थ भी, क्योंकि वह ब्रिटेन के विरुद्ध नही पडेगा और हमे उससे स्वाधीनता नही दिलाएगा। सफल वह तब होगा जब कि उसे ब्रिटेन के विरुद्ध केन्द्रित किया जाय, यानी आक्रमण का साधन बनाया जाय। यह स्पष्ट है कि अहिंसा केवल पारिभाषिक अहिंसा है क्योंकि अहिंसा मे तो आक्रमण की भावना नही होनी चाहिए, आत्मरक्षा के लिए भी नही। है न?"

उत्तर मे शेखर ने एक अनिश्चित "हूँ" किया, मानो अभी वह किसी तरफ उत्तर देने को तय्यार नही है।

"और अगर परिभाषाओ पर लडना है तो 'सच्ची' अहिंसा आत्मपीडन है जो अन्ततोगत्वा एक प्रकार की हिंसा ही है। पर इस फिजूल के शब्द-कलह को छोडकर काम की बात सोचे। यह मैंने कहा कि अहिंसा सफल तभी होगी जब वह आक्रामक हो, यानी केवल शाब्दिक अहिंसा हो, दूसरी ओर हिंसा आक्रामक हुए बिना भी, केवल

स्वरक्षात्मक होकर भी सफल हो सकती है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि उदाहरण बेकार है। आप जानते हैं कि कानून भी स्वरक्षात्मक हिंसा को मानता है। तो नतीजा यह निकला कि हिंसा स्वरक्षात्मक भी सफल हो सकती है—यानी केवल पारिभाषिक हिंसा, क्योंकि बिना आक्रमण के हिंसा कैसी ? अब पारिभाषिक अहिंसा और इस पारिभाषिक अहिंसा के बीच में लकीर खींचना मेरा काम नहीं है—निकम्मों का काम है।"

बाबा मदनसिंह चुप हो गए। कुछ देर शेखर प्रतीक्षा करता रहा कि वे शायद आगे बोलेंगे, जब वे नहीं बोले तब शेखर ने सोचते-सोचते कहा, "तो परिणाम क्या निकला ?"

"परिणाम ?" बाबा जोर से हँसे। "मैंने अपनी बातें कह दीं। अब इनको एक सूत्र में आप बाँधिए!"

शेखर कुछ कहने को था कि उसने बाहर पैरों की आहट सुनी—शायद वार्डर उसे बुलाने आया था। स्वयं उसी को विस्मित करनेवाली प्रत्युत्पन्न मति से उसने, ऊँचे स्वर से कहा, "यह मजे की रही। फिर साहब ने क्या कहा ?"

बाबा ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर मुस्कराकर कहने लगे, "आप बहुत जल्दी सीखने लगे—यह है स्वरक्षात्मक हिंसा या झूठ!—हाँ तो—" फाटक पर खड़े वार्डर की ओर देखकर, "साहब, क्या कहता! अपना-सा मुँह लेकर चला गया।"

वार्डर ने कहा, "बाबू साहब, आप यहाँ हैं, मैं तो—"

शेखर ने अनसुनी करके कहा, "अभी दूसरी बात तो रह ही गई। खैर, बाकी फिर किसी दिन सुनूँगा।"

वार्डर ने अपनी बात समाप्त की, "मैं तो खोजता-खोजता हैरान हो गया। अब चलिए न!"

शेखर चल पड़ा।

बाहर वार्डर ने पूछा, "बाबा आपको अपने झगड़े की बात सुना रहे थे क्या ?"

"क्यों ?"

"वही सबको सुनाया करते हैं। पहले साहब से झगड़ा हो गया था। साहब की नाकों दम कर दिया बुड्ढे ने।"

"हूँ।"

वार्डर ने मानो पुरानी बातें याद करते-करते कहा, "बुड्ढा कभी तूफान ही रहा होगा। पर है बिचारा बड़ा सन्त आदमी—तबीयत का बिल्कुल गरीब है।"

"हूँ।"

शेखर बन्द हो गया। वार्डर ताला बन्द करके खड़काकर चला, तो शेखर धीरे से हँस दिया—एक मीठी हँसी!

* * * * * * * * *

जो आदमी जीवन द्वारा जीने का आदी है, उसे यह असह्य है कि उसे जीवन के बचे-खुचे बासी टुकडे ही मिले, जीवन का उच्छिष्ट मिले—किन्तु बन्दी शेखर के लिए यही विधान हो गया था यह विचार ही उसको असह्य था, पर आता था वह बार-बार, और हर बार मानो उसको बाँधनेवाले लोहे के किवाडो का एक सीखचा उसकी अन्तर्ज्वाला से ही तप्त होकर उसके हृदय मे घुस जाता था

बाहर के समार से——शशि से——उसका एक सम्बन्ध रह गया था निर्जीव कागज के पन्ने, उस पर निर्जीव लिपि के अक्षर भाषा सजीव होती है, दर्द सजीव होता है, पर क्या उनके प्राण इस ज्ञान के आगे टिक सकते है कि आज जो उसके सामने है, उसमे जीवन का स्पन्दन तीन दिन, या सात दिन, या दस दिन पहले था ?

शेखर को शशि का पत्र मिला, तो ऊपर तारीख देखकर उसे अनुमान नही हुआ कि चिट्ठी उस तक पहुचने मे जो नौ दिन लग गए है, वे उसके जीवन-प्रवाह के एक युग का अधिकाश एक ही घूँट से पी गए है। वह बढती हुई वेदना से सारा पत्र एक बार पढ गया, फिर दूसरी बार पढ गया—हाँ, वेदना बहुत थी पर इतनी नही कि वह फूट जाय, निर्वेद हो जाय——वह पीछे आई जब बॉया हाथ उठाकर उसने तारीखे गिनना शुरू किया, और जाना चौदह मे से नौ जायँ तो पाँच बचते है

अबकी बार शशि का पत्र छोटा था। शेखर से वह सहमत थी कि जीवन मे हरएक को अपना मार्ग स्वय खोजना होता है, हम किसी को मार्ग नही बता सकते, किसी को प्रकाश भी नही दिखा सकते, हम कर सकते है तो इतना ही कि पथिक के पैर दाब दे, उसका कवच कस दे, अगर उसके पास दीया है तो उसकी बत्ती कुछ उकसा दे। और इसलिए वह शेखर के प्रति दुगुनी कृतज्ञ है कि वह उसके लिए इतना करके उसके आगे भी जा रहा है, वह उसके दीपक मे स्नेह भी भर रहा है। "भविष्य क्या है, नही जानती, और मैने जो मार्ग अपने लिए निर्धारित किया है, उसमे भविष्य होने न होने का प्रश्न भी नही है। वह इतना ज्वलित है, पर इतना मै आज तुम्हे कहती हूँ कि तुमने जो मुझे दिया वह मै उसमे नही भुलूँगी। तुमने लिखा है निर्णय मेरा है, पर उसका आदर करना तुम्हारा है, तुमने लिखा है कि एक निश्चय मे मुझे तुम्हारा आन्तरिक आशीर्वाद, स्नेह और सद्भावना प्राप्त होगी, दूसरे निश्चय मे तुम्हारा सहयोग और सरक्षण और आवश्यक होने पर तुम्हारे हाथो का परिश्रम और तुम्हारे पसीने की रोटी, तुम्हारी उदारता मे मैने दोनो पा लिए है, और अब चुनने के नाम पर तुम्हारा आशीर्वाद ही चुनती हूँ। मैने माँ से कह दिया है कि मुझे इस मामले मे किसी तरह की कोई दिलचस्पी नही है, उनकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।"

कठोर और कड ुवा और स्वय नारी की तरह चिरन्तन शशि का निर्णय—कठोर और कड ुआ चिरन्तन उसका यह अपनी आहुति दे देने का निर्णय—कठोर और कड ुवा और चिरन्तन नारी का अभिमान कि जो समाज उसका आदर नही करता उसी के हाथो नष्ट-भ्रष्ट, छिन्न-त्रस्त-ध्वस्त होकर वह उसकी अवमानना करेगी आशीर्वाद ? क्या आशीर्वाद हो उस नारी

को क्षुद्र पुरुष का ? कि तू हृतात्मा हो, तेरी ज्वाला उज्ज्वल और सुगन्धित और निर्धूम हो !

लज्जा, क्षोभ और आत्मग्लानि से शेखर ने अपनी बँधी हुई मुट्ठी छाती मे मार ली

क्यो उसने शशि को अपनी सम्मति नही दी थी ? क्यो नही उसे कहा था कि समाज पर अपने को बलि देना अपनी और समाज की भी विडम्बना है ? क्यो नही कहा था कि समाज उसकी विविक्त इकाइयो का समूह है, और इकाई की अवहेलना समाज की अवहेलना है ? क्यो नही कहा था कि अन्याय को सहना उसका भागी बनना है ? क्यो स्वाधीनता दी थी निर्णय की ? क्यो दोनो सूरतो मे सहानुभूति का वचन दिया था ?

उसे याद आया कि उसने क्या लिखा था कि यह मामला शशि का है, शशि के अतिरिक्त किसी का भी नही है, और इसमे परामर्श भी किसी का ग्राह्य नही है, माँ का भी नही, शेखर का भी नही शशि, निपट अकेली शशि, इस समस्या से लडे और किसी निष्पत्ति तक पहुँचे, बाकी यही कर सकते है कि सहानुभूति-पूर्वक देखे, अपनी इच्छा-शक्ति से उसे इतनी प्रेरणा दें कि वह ठीक ही परिणाम पर पहुँचे, यह आश्वासन दे कि निर्णय जो भी हो, वे उसके साथ है 'और मै तुम्हारे साथ हूँ, शशि तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य मे मिटा दो, तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुए मार्ग मे अडिग रहो और वैसा तुम नही करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो, तो भी मै तुम्हारे साथ हूँ। वह तुम्हे अलग कर दे, घर-बार भी तुमसे छूट जाय, तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हे मिलेगा, अगर अपने हाथो के परिश्रम मे मुझे तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पडेगी तो वह मेरा गौरव होगा मै जानता हूँ कि तुमने मुझे जो सीख दी है उसका मूल्य मै किसी तरह नही चुका सकता, उसके लिए कृतज्ञता भी दिखा सकता हूँ तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते, या चलने की चेष्टा करते-करते समाप्त हो जाऊँ। इतनी भी कृतज्ञता न दिखा सकूँ ऐसा बुरा मै नही हूँ—पहले रहा भी होऊँ तो तुम्हारी सीख का मुकुट पहनकर अब नही हूँ। मै तुम्हारे साथ हूँ चाहे जिधर भी तुम जाओ, किधर जाओ, इसका उत्तर तुम्हे तुम्हारे भीतर का आलोक दे '

शशि ने मार्ग चुन लिया। 'आज के ठीक दो सप्ताह बाद, आज ही के दिन,—मै ओह शेखर, वह वाक्य अधूरा ही क्यो नही रह जाता !' और यह नौ दिन पहले का पत्र है—केवल पाँच दिन और !

क्यो, किस चीज ने बाधित किया शशि को यह निर्णय करने के लिए ? क्या बुद्धि ने ? विवेक ने ? क्या डर ने ? अक्षमता ने ? क्या हृदय ने ? चाह ने ? क्या आत्मा ने ? अभिमान ने ?

"मै जानती हूँ, मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का, अधिकार है ? समाज का मै अङ्ग हूँ उसके प्रति मेरी जवाबदेही है, पर उसकी मै उपेक्षा कर सकती हूँ क्योकि वह मेरे प्रति कर्तव्यशील नही है और फिर उसके आदर्श भी

बदलते रहते है और रहेगे। पर माँ—माँ तो सनातन है, सदा माँ है, उसके प्रति भी तो मेरा कर्तव्य है माँ विधवा है, फिर उनके अपने सस्कार है। मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, यह तो अभी नही कह सकती, पर स्वय अपने ही सामने उन्हे तोड देगी। वे कुछ नही कहेगी, मै जानती हूँ, पर क्या उससे मुझे कुछ दीखेगा नही ? उनका मौन उनकी व्यथा को धार दे देगा जिस पर मै हर समय कटती रहूँगी मै अपना युद्ध लड सकती हूँ, पर मुझे क्या अधिकार हे, मै उनसे अपना युद्ध लडवाऊँ ? और अगर किसी को मूक होकर जलना ही है, तो वह कोई मै ही क्यो नही होऊँ ? मै तो विवाह के वाद चली जाऊँगी, माँ या कोई भी मेरा होम नही देखेगा—मेरे अतिरिक्त कोई भी नही देखेगा उसे ! इस दुख को अपने वन्धुओ के घेरे से वाहर ले जाने का यही एक तरीका है शेखर, यही मेरा निर्णय है, आशीर्वाद दो कि मै साभिमान इसे निभा ले जाऊँ "

क्या शशि ठीक कहती है ? क्या वह ठीक ही कहती हे ?

पर सच वह अवश्य कहती है कि दुख किसी का अवश्य है, प्रश्न यह है कि कोन बढकर उसे अपने कधो पर ले ले, कौन उसे झेलने मे इतना विशाल अभिमान जुटा सके कि वह आसानी मे झिल जाय

उसे अपनी ही लिखी हुई दो-चार पक्तियाँ याद आई जो उस समय तक केवल एक शव थी किन्तु इस समय प्राणोन्मेप से दीप्त हो उठी—

I have burned in solitude
And burning has brought its own solace
In more quenchless burning

(मै एकान्त मे जला किया हूँ, और जलना अपना ही शमन लाया हे और भी अनबुझ जलने के रूप मे)

क्या यही है प्रातिनिधिक यन्त्रणा का वह सिद्धान्त, जो उसने कही पुस्तक मे पढा था और अग्राह्य मानकर छोड दिया था—कि हमारी यातना किसी दूसरे के पाप का प्रायश्चित्त हो सकती हे ? क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे का ईसामसीह है, किसी दूसरे का क्रूस ढोनेवाला हे ? क्या यही है यातना के इस कुम्भीपाक मे आलोक की प्रथम और अन्तिम किरण

व्यथा से शेखर को रोमाच हो आया

दूसरा पत्र आने मे उतना समय नही लगा—पर जितना समय लगा था, उतना क्या कम था ? शशि ने लिखा था, "आज मेरी उस अवस्था का अन्तिम दिन है जिसमे अपने आत्मीयो से अलग एक सम्बन्धी मेरा था—मेरे बहिनापे मे घिरे हुए तुम ! कल से मेरा पहिला परिचय होगा, अमुक की स्त्री, और सव सम्बन्ध उसके वाद आएँगे। न जाने यह पत्र तुम्हे कव मिलेगा, पर जव भी मिले, तुम उस शशि को आशीर्वाद देना जो आज तक

तुम्हारी बहन थी और उसके अतिरिक्त किसी की कुछ नही थी, किन्तु कल वैसा नही रहेगी, और जो आज इस पद से अन्तिम बार तुम्हे प्रणाम करती है ”

शशि ने शेखर के अभ्यन्तर का कोमलतम मर्म छू लिया था—दर्द इतना था कि शेखर आह भी नही कर सकता था अन्तिम बार प्रणाम मेरे बहनापे मे घिरे हुए उसके अतिरिक्त कुछ नही.

यह सच था—उफ कितना सच !—कि शशि ने ही उस 'न कुछ' को खीचकर सगेपन का गौरव दिया था—ऐसे दिया था जैसे कभी किसी ने नही दिया था—उसकी अपनी दो सहोदरा बहनो ने नही शशि ने उसके जीवन को अर्थ और उद्देश्य दिया था, एक ऐसी निधि दी थी जिसके गौरव के लिए जीना और लडना और मरना स्वय पुरुष का गौरव है तब क्या यह भी सच है कि आज उस निधि के रक्षकत्व का अन्तिम क्षण है ?—आज क्यो, आज तो शशि को नये सरक्षण मे गए हुए भी दो दिन हो गए !—क्या जो आरम्भ ही नही हुआ था वह आज समाप्त होने जा रहा है ?

वेदना कोई उसके भीतर कहता है, वह नही थी सहोदरा, नही थी बहिन, जो हुआ है वह होना ही था उसे दुख का अधिकार नही है हाँ, नही है अधिकार, अधिकार होता तो दुख क्यो होता ? दुख उसको मेरी स्नेह की भेट है, जैसे बहिनापा उसका मुझे स्नेह का दान था ! नही है वह सहोदरा, वह सहजन्मा है, एक खण्डित आत्मा दो क्षेत्रो मे अकुरित हुई है तभी तो तभी तो शेखर अपने को देखता है, और नही समझ पाता कि कहाँ वह अपग हो गया है—यद्यपि एक गहरी टीस उसमे उठती है और एक मूर्च्छना भी उसके बचे हुए गात पर छाई जा रही है

किन्तु कर्त्तव्य अभी बाकी है—यन्त्रवत् शेखर ने कागज और कलम उठाया, एक छोटा-सा आशीर्वाद का पत्र लिखकर लिफाफे मे बन्द किया, पता लिखा और वार्डर को बुलाकर दफ्तर मे भिजवा दिया। दूसरा मार्ग नही था—और किसी तरह पत्र भेजने मे बडी देर लगती।

तब एकाएक क्षत-विक्षत और शून्य-निष्प्राण शेखर चक्की पर सिर टेककर खडा हो गया। उसकी निविड वेदना मे ज्वाला की तरह उसके अन्तरङ्ग को फोडता हुआ कुछ फूट निकला

जल, ऊर्ध्वगे, जल यज्ञ-ज्वाले जल ! उत्तप्त जल, उज्ज्वल ओर सुवासित जल, क्षार-हीन और निर्धूम और अक्षय जल ! यह मुझ अभागे का तुझे आशिर्वाद हो ! तब आँसू आए, घने और झरझर

* * *

फिर एक बार कुहासा शेखर के प्राणो पर छा गया। पर अबकी बार उसमे जैसे विरोधभाव नही जाग्रत हुआ। अपने रोने पर क्षोभ नही हुआ, परास्त हो जाने के ज्ञान का प्रतिकार करने की भी इच्छा नही हुई। वह मानो अस्तित्व के किसी निचले स्तर पर उतर आया। जीवन शिथिल हो गया, और शैथिल्य स्वाभाविक धर्म मालूम पडने लगा।

शेखर ने 'साहब' से अनुमति माँगी कि उसे पहले सिरे की एक कोठरी मे रखा जाय। 'साहब' ने विस्मित होकर कारण पूछा, और यह जानने पर कि शेखर एकान्त चाहता है, मुस्कराकर अनुमति दे दी। "तुम स्वय अपनी आज़ादी कम करना चाहते हो तो तुम जानो। वहाँ पर तुम्हे वही के नियम मानने पडेगे--वन्द भी रहना पडेगा। हाँ, अगर फाँसीवाले अधिक हो गए तो वहाँ से हटना पडेगा।" शेखर ने मौन स्वीकृति दे दी।

फाँसी की कोठरी साफ-सुथरी थी। पक्का फर्श था, चक्की कोई नही थी, पतरे के लिए फाटक के पास कोने मे अलग जगह बनी हुई थी जहाँ से पानी बाहर को बह जाता था, अत. कोठरी मे बदबू नही थी। शेखर दिन मे वन्द रहता, सुबह-शाम टहलने बाहर निकलता और तलाशी के बाद वन्द हो जाता। ये नियम उसे पसन्द नही थे, पर वह मानो अपनी देह से हटकर कही रहता था, ये उसे छूते ही नही थे। दिन-भर वह अर्धसुप्त-सी अवस्था मे रहता-- जैसे अफीमची अफीम न मिलने पर रहते है। केवल साय-प्रात जैसे उसकी तन्द्रा टूट जाती, वह जानता कि वह जीवित है।

उष काल से लेकर टहलाई के लिए द्वार खुलने तक, और शाम को टहलाई के बाद वन्द होने से लेकर दिनावसान तक--ये दो मुहूर्त्त न जाने कैसे थे कि दिन-भर मुरझाए रहनेवाले प्राण उसके भीतर एकाएक प्रदीप्त हो उठते थे--चार साढे चार वजे उसकी नीद खुलती, तब वह पलटकर सिर फाटक की ओर कर लेता, और आकाश की ओर देखकर मन के मनके फेरा करता, कभी वर्षा हो रही होती तो बूंदो का स्वर उसके विचारो पर ताल देता चलता

फूटते आलोक की पहली किरण के साथ, मिटते आलोक की अन्तिम दीप्ति के साथ, तीर-सा एक प्रश्न शेखर के हृदय को वेध जाता, 'क्या आत्माहुति देकर वह सुखी है?' उसका पत्र फिर नही आया था, जानकारी के लिए शेखर के पास कुछ नही था सिवाय अपनी समझ के--कितनी क्षुद्र समझ!--और अपनी समवेदना के--कितनी असमर्थ समवेदना!

क्यो नही लिखा उसने? क्या दु ख मे है इसलिए? या सुखी है इसलिए?

कभी व्याकुलता इतनी उग्र हो उठती कि वह दाँत भीचकर, मुट्ठी बाँधकर, फर्श पर, जँगले पर, दे मारता, एक बार, दो बार, तीन बार जब तक कि जोडो पर से खून न फूट आता--तब उस रक्त को वह माथे पर पोछ लेता और उसकी ललाई से उसे कुछ शान्ति मिलती! कभी अपने ही कार्य से घबराकर पूछ उठता, क्या मै पागल हो गया हूँ? पर तत्काल ही पहला प्रश्न इस दूसरे प्रश्न को निकाल देता, और मानो इस अल्पकालीन विस्मृति के दण्ड-स्वरूप स्वय अधिक तीव्र हो उठता

किन्तु दिन मे इतनी शक्ति का सचय कभी न होता, वह केवल एक क्षीण-सी चिन्ता मे सोचा करता, क्या वह आत्मबलिदान उचित हुआ? कौन कह सकता है? कोई नही

जानता—जाननेवाली, कहनेवाली, निश्चय करनेवाली एकमात्र शशि है। यह प्रश्न उसका प्रश्न है. बाबा मदनसिंह ने भी तो कहा था, हरएक को अपना रास्ता खुद खोजना होता है

कभी उसे इसमे भी सन्देह हो आता। क्या सचमुच यह व्यक्तिगत प्रश्न है ? क्या सामाजिक उत्तरदायित्व इसमे शामिल नही है ? व्यक्ति अपने को रखे या बलि दे, अच्छे काम में बलि दे या बुरे मे, क्या इसका एकमात्र निर्णायक वह व्यक्ति स्वय है और समाज को कुछ भी कहने का अधिकार नही है ? उसका मन भटकने लगता यह तो वही पुराना हिसा और अहिसा का प्रश्न है .

चाहे यह अपने प्रश्न का उत्तर पाने की उत्कट इच्छा रही हो, चाहे केवल कुछ घूमने-फिरने की शेखर बाबा मदनसिह से मिलने गया। ओर न जाने क्यो उसकी पुरानी जिज्ञासाएँ उबल पडी, शशि का प्रश्न भी बीच मे उलझ गया और शेखर हिसा-अहिसा और सामाजिक दायित्व के पचडे फिर ले बैठा।

बाबा बोले, "देखिए, आजकल न जाने मन क्यो बहुत दु खी रहता है। शायद मै कोई नया सूत्र पानेवाला होऊँ,शायद केवल बुढापा ही हो। इसलिए आपके सवालो का जवाब सूत्रो मे ही—पुराने सूत्रो मे ही—दूँगा। प्रश्न अवश्य सामाजिक भी है। मुझे दीखता है कि हमारा भारतीय जीवन और दर्शन अन्तर्मुखी और व्यक्तिवादी है,—जैसे, हम मुक्ति का साधन यही मानते है कि जहाँ तक हो सके अपने को समाज से अलग खीच ले और 'आत्मान विद्धि।' इस व्यक्तिवाद का परिणाम है कि हम पाप-पुण्य भी व्यक्तिगत ही समझते है। तभी तो हमारे धर्मात्मा लोग साँपो को दूध पिलाना भी पुण्य समझते है। सामाजिक दृष्टि से यह हिसा है। दूसरी ओर पश्चिम का जीवन और दर्शन हमारे बिल्कुल विपरीत है। वह बहिर्मुखी और समाजवादी है। उसका मानदण्ड भिन्न है, उसकी समझ मे हमारा दृष्टिकोण आध्यात्मिक कलाबाज़ी और कायरता है। हम उन्हे निकृष्ट पदार्थवादी कह सकते है, वह हमे थोथे अध्यात्मवादी कह सकते है। पर इस गाली-गलौज से भी यह बात नही छिपती कि हम दोनो एक दूसरे के आदर्श नही भूल सकते। खासकर हम लोगो को अपने आदर्शो मे सुधार की जरूरत है क्योकि हम नीचे है।" कुछ देर चुप रहकर बाबा मुस्कराए, "भेडो की तरह झुण्ड बाँधकर रहेगे, तो भेड-चाल चलनी पडेगी। भेड-चाल का सभ्य नाम सस्कृति है।"

शेखर कुछ देर तक चुपचाप खडा रहा। चेहरे पर एक साथ पडी दो बूँदो ने उसे चौका दिया। उसने ऊपर देखा, आकाश मे सावन के घने बादल थे, और पश्चिमी क्षितिज पर एक मटमैला धब्बा क्रमश फैलता हुआ बढ रहा था—उसके भीतर से मानो किसी तरह का प्रकाश फूट रहा था।

"अन्धड आ रहा है।"

"अच्छा ही है, मुझे आजकल इसकी जरूरत थी।" बाबा की आँखो पर भी एक बादल छा गया। "वह कहानी का पठान बाहर चला गया था, तब जेल की अवधि नही गिनता

था, पर मेरे लिये तो 'कुछ न होना' ही स्थायी हो गया है। ये इक्कीस वर्ष मुझ पर बोझ हो गए है। इसीलिए आँधी-तूफान से कुछ सहारा मिलता है।"

शेखर ने विस्मय से उनकी ओर देखा, उस क्षण में बाबा उसे पहली बार बूढे लगे—उनकी आँखे बूढी हो गई थी, और धवल जटा और धवल दाढी से भी कितनी अधिक बूढी! मानो शाप-ग्रस्त प्रथम मानव का शाप उनमे चमक गया हो!—'अपने दु ख के सहारे ही तू जिएगा।'

वह सहमा हुआ-सा धीरे-धीरे लौट पडा।

कोठरी की ओर लौटते हुए शेखर के भीतर सहसा ग्लानि उमड आई। कितनी घोर लज्जा की बात है कि वह इस समय कोरी बौद्धिक उलझनो मे पडा हुआ है जब कि शशि पर न जाने क्या बीत रही होगी मानसिक क्लेश, शायद शारीरिक यातना—वह चलते-चलते ठिठक गया—कौन जाने क्या अवस्था होगी इस समय शशि की!

क्या अवस्था होगी? किस बात को डर रहा है वह? वह नामहीन कौन-सा डर है जो उसके भीतर है?

मानो उसके प्रश्न के उत्तर मे, वायु का एक झोका जेल के असख्य सीखचो, लौह-द्वारो और वातायनो मे से कराहता हुआ निकल गया—वह कराह फिर ऊँची उठी और फिर धीमी पड गई, फिर उठी और एक अपार्थिव पीडित प्राणी की चीख बन गई, उसकी व्याकुल साँस शेखर को धकेलने-सी लगी—आँधी का पहला वातचक्र उसे घेरे ले रहा था

वह फिर चल पडा। किन्तु सोचने से कैसे रुका जाय—सोचने से नही, प्रश्न पूछने से कैसे रुका जाय! और प्रश्नो का अन्त कहाँ—जिज्ञासा के घूँट नही होते, वह तो भीम-प्रवाहिनी कूलहीना नदी है, स्वय जीवन की तरह दुर्निवार

मदनसिह ने कहा था, पीडा तपस्या है, किन्तु असली तपस्या तो जिज्ञासा है—क्योकि वही सबसे बडी पीडा है।

वह कोठरी मे पहुँच गया था। सन्तरी पहले ही वहाँ मौजूद था, शेखर के भीतर जाते ही उसने ताला बन्द कर दिया और स्वय आँगन से बाहर निकलकर कुछ दूर पर सामने बने हुए कठघरे मे जा खडा हुआ—आँधी के साथ ही बडी-बडी बूँदे वर्षा की पडने लगी थी

जिज्ञासा—जिज्ञासा—यह मर्मान्तिक पीडा

पर मै जानना चाहता हूँ—शशि की अवस्था जानना चाहता हूँ क्या वह सुखी है?

'जहाँ अपना वश नही है वहाँ दु ख करना ही मोह है।' कहाँ पढा था उसने यह? या यह मदनसिह के शब्दो में 'सूत्र' है, दु ख की चोट से पाया हुआ? वेदना के बिना ज्ञान नही है, तभी तो ज्ञान अपौरुषेय है—पुरुष की बुद्धि से वह नही पाया जाता, वेदना मे, तपस्या मे, वह उदित होता है। वह मन्थन से मिलनेवाला अमृत नही है, वह अवतीर्ण

होनेवाला कोई अप्रमेय है इसी तरह कभी प्राचीन ऋपियो ने वह सूत्रबद्ध ज्ञान पाया होगा जो अब वेद है—जो 'जाना हुआ' है, किसी भीतरी आलोक से सहसा प्रकट हुआ—इसी तरह पीडा की तपस्या से सहसा जागकर उन्होने प्रज्ञा के बोझ से लडखडाकर कहा होगा, 'अपौरुषेय !'

एक चौंधियानेवाले प्रकाश ने घिरती रात के अन्धकार को फाड़ डाला, भीपण गड-गडाहट ने जेल के लोहे और पत्थर को कँपा दिया, आकाश का बोझीला पर्दा मानो अपने भार से फट गया और धारासार वर्पा होने लगी, शेखर के पैरो मे कुछ आकर लगा तो उसने देखा एक बडा-सा ओला है, वह जँगले के पास जाकर खडा हो गया, शीत से काँपता हुआ, बादल के गम्भीर घोष और बिजली की तडपन से हतबुद्धि, आँधी और पानी के क्रुद्ध थपेडो से पिटता हुआ खडा रहा कितना अच्छा था यह सामने की मार खाना, कितना अच्छा था इस तरह पिटते हुए खडे रहना, उस, नामहीन, आकारहीन शत्रु द्वारा असहाय लील लिए जाने की अपेक्षा

किन्तु उससे निस्तार कहाँ है ? प्राकृतिक तत्त्वो की इस उथल-पुथल मे भी आत्मा कहाँ चुप है जेल मे दूसरे भी तो है, वे क्या कर रहे होगे इस समय ? उसे याद आया, एक दिन उसने देखा था, जेठ की दुपहरी मे एक कैदी वर्षा मे भीगे और ठिठुरे हुए बन्दर की तरह कोठरी के जँगले के नीचे उकडूँ बैठा था, और बिल्लौर के मनके-सी उसकी आँखे उत्तप्त सफेद आकाश पर टिकी थी क्या वह जीवन था ? उस समय उसका जीवन मानो स्थगित था, प्राणीत्व भी मानो स्थगित था, उस समय उसके भीतर से वह कई अर्ब वर्षो का जडत्व झाँक रहा था जो विकास-गति द्वारा जीवोद्भव से पहले उसकी मिट्टी का रहा होगा बाबा मदनसिंह की कहानी का पठान ठीक ही कहता था—जेल मे आदमी जीता नही, वृद्धि नही पाता . पर वृद्ध अवश्य हो जाता है—गात सूख जाते है और बाल पक जाते है ..

और स्थगित जीवन के उस भीषण अन्तराल मे क्षुद्र बुद्धि ही एकमात्र सम्बल है, जिज्ञासा ही एकमात्र सम्बल है . वही स्थानापन्न प्राण है

शेखर एक बार काँपा, और फिर लिखने बैठ गया । हाँ, "

*
**

ईश्वर ने सृष्टि की ।

सब ओर निराकार शून्य था, और अनन्त आकाश मे अन्धकार छाया हुआ था । ईश्वर ने कहा, 'प्रकाश दो ।' और प्रकाश हो गया । उसके आलोक में ईश्वर ने असख्य टुकडे किये और प्रत्येक में एक-एक तारा जड़ दिया । तब उसने सौर-मण्डल बनाया, पृथ्वी बनाई । और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है ।

तब उसने वनस्पति, पौधे, झाड-झंखाड, फल-फूल, लता-बेले उगाई, और उन पर मँडराने को भौरे और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बनाए ।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाए। और उसे जान पडा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शान्ति न हुई। तब उसने जीवन मे वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेह, धूप-छाँह इत्यादि बनाए, और फिर कीडे-मकोडे, मकडी-मच्छर, बर्रे-बिच्छू और अन्त मे साँप भी बनाए।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नही हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य मे देखा। अन्धकार मे, पृथ्वी और सौर-लोक पर छाई हुई प्राणहीन धुन्ध मे कही एक हलचल, फिर उस हलचल मे धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर जिसमे असाधारण कुछ नही है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है, एक आत्मा जो निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नही, बढती ही जाती है, एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है, नया ही होकर, अधिक प्राणवान् होकर उठ खडा होता है

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठाई और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमे अपनी विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गई।

ईश्वर ने कहा—'जाओ, मेरी रचना के महाप्राणनायक, सृष्टि के अवतस!'

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नही प्राप्त हुआ, उसमे का कलाकार अतृप्त ही रह गया।

क्योकि पृथ्वी खडी रही, तारे खडे रहे। सूर्य प्रकाशवान् नही हुआ, क्योकि उसकी किरणे बाहर फूट निकलने से रह गई। उस विराट् सुन्दर विश्व मे गति नही आई।

दूर पडा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यो सृष्टि नही चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सम्भालकर अपनी गुजलक मे लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला, और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उसकी देन को स्वीकार कर लिया, सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन मे अब भी कोई अपूर्ति न आई और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक मे लपेटे बैठा हँसता रहा।

[२]

साँप ने कहा, 'मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो। अभी बहुत कुछ है जो तूने नही पाया, नही देखा, नही जाना। यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मै ईश्वर का समकक्ष हूँ, चिरन्तन हूँ।'

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा, और फिर स्त्री के केशो से अपना मुँह ढँक लिया। उसे कोई कौतूहल नही था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता, पुरुष और स्त्री प्रकाश मे मुग्ध दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार मे लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता, और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखे नीची कर ली, पुरुष की ओर नही देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो ऐसा नही है, वह किसी की ओर भी नही देख रही है, उसकी दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गई है, अपने भीतर ही कुछ देख रही है, और उसी दर्शन मे एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है तब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव से लेट गई, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नही थे, भाव नही थे, दीक्षा नही थी। लेकिन शब्दो से, भावो से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो सम्बन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमे से फूट निकलने लगी

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पडा रहा, गति उसमे नही आई।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कही दर्द की एक हूक उठी। वह पुकारकर कहने लगी 'क्या होता है मुझे ! मैं बिखर जाऊँगी, मैं मिट्टी मे मिल जाऊँगी '

पुरुष अपनी निस्सहायता मे कुछ भी नही कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और भी विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गई, और जब वह स्त्री का दु ख नही देख सका, तब उसने नेत्र खूब जोर से मीच लिए

निशीथ के निविड अन्धकार मे स्त्री ने पुकारकर कहा—'ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरुष—यह देखो !'

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी, उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद मे रख लिया

फूटते हुए कोमल प्रकाश मे उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाए है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकाण्ड विस्मय से, एक दुस्सह उल्लास मे भर आया और उसके भीतर से एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है जो तूने नहीं की !'

ईश्वर ने कोई उत्तर नही दिया। तब मानव ने साँप से पूछा—'ओ ज्ञान के रक्षक साँप, बताओ यह क्या है जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ !'

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी विश्व चल पडा !

साँप ने कहा, 'मै हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया।' और उसकी गुजलक धीरे-धीरे खुल गई।

ईश्वर ने कहा—'मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मै ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ।' मै कुछ खोजता नही। मानव मे जिज्ञासा है, अत वह विश्व को चलाता है, गति देता है '

लेकिन मानव मे उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। वह पुकार-पुकारकर कहता जाता था,—'मै जानना चाहता हूँ!'

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेजी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पडता था। और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

× × × ×

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ वैठता है, तव अनहोनी घटनाएँ होने लगती है।

* * *

शशि का एक और पत्र—वह लिखती है कि शायद उसका जीवन चल जाय—उसमे सुख नही तो दुख भी नही है, किसी तरह की कोई गहरी अनुभूति नही है, केवल उनीदे रहने से हो जानेवाले सिरदर्द की तरह एक हल्का-सा वोझ हर समय उसके ऊपर पडा रहता है "कभी सोचती हूँ क्या जीवन ऐसे ही वीतेगा? गाजर-मूली की तरह वढना और उखाड लिए जाना, वस? पर फिर ध्यान आता है, कई ऐसे जीते है और दर्जनो वरस निकाल जाते है और यहाँ ऐसे यन्त्र-तुल्य जीवन के सभी साधन है, किसी को मुझमे इतनी भी दिलचस्पी नही है कि तिरस्कार भी करे यह वह जीवन नही है जिसकी मैने कल्पना की थी, पर शायद सवका उदाहरण देखकर मै भी ऐसी वन जाऊँ कि अपनी अवस्था का तिरस्कार न कर सकूँ और शान्त, सन्तुष्ट, निर्वेद होकर जीना जी डालूँ। दुख तो मुझे अव भी कोई नही है।." और फिर एकाएक वदलकर "तुम कव आओगे?"

कव जाएगा वह? वह नही जानता। मुकदमा मालूम होता है कभी समाप्त नही होगा। गवाही प्राय समाप्त हो गई थी, वकील ने कहा था कि शेखर के विरुद्ध कुछ नही है, तव नये गवाह लाने की अनुमति माँगी गई थी और अदालत ने उन्हे वुला भी लिया था।

पर अव जाए न जाए, कोई वात नही है। विवाह शशि का हो चुका, और अपना घर जैसे उसके मन से ही निकल गया है। और शशि अव निराग्रह होकर जी रही है, जीवन से कुछ माँगती नही है अत दुख भी नही पाती है। वह भी उपराम है, शून्य है, जेल और वाहर सव वरावर है।

भादो आश्विन कार्त्तिक प्रकाश होता है और धुँधला पड जाता है; जेल के

चौदह सौ आदमी गिनते है कि एक दिन और बीत गया, लोग मानते है कि अस्तित्व का छकडा एक मजिल और कर गया, सभी समझते है कि वे जी रहे है इसी प्रकार तीन महीने---शेखर सुनता और देखता है, पर जीवन उसका भी स्थगित है

मोहसिन पर दारोगा का क्रोध होता है, हजामत बनाने के अपराध मे उसे सजाएँ मिलती है, कडा पहरा विठाया जाता है, पर न जाने कैसे प्रति सोमवार परेड के समय उसकी दाढी साफ और चिकनी होती है और वह कही से निकालकर उस्तरे की एक पुरानी बत्ती दारोगा के आगे पेश कर देता है ऐसी खुली अवज्ञा असह्य है---दारोगा सजाएँ बढाते जाते है---बेडी के बाद डडा बेडी, फिर खडी हथकडी, फिर रात हथकडी, फिर दो-दो और तीन-तीन सजाएँ एक साथ---रात को उलटी हथकडी और दिन-रात डण्डा-बेडी, फिर 'कसूरी खूराक' यानी भोजन की बजाय पानी मे घुला हुआ आटा फिर एक दिन उसे बेत लगने की आज्ञा हुई, वार्डर उसे पकडकर शेखर की कोठरी के सामने से ले गए, मोहसिन ने उसे देखकर हँसकर कहा, "देख, मौलवी, मै हज्ज करने चला हूँ !" पन्द्रह मिनट बाद वह उसी तरह अकडता हुआ चला आया---पर अबकी बार बिलकुल नगा और कमर तक खून मे लथपथ--शेखर को देखकर बोला, "मौलवी, मुझे तेरे पास ला रहे हैं, अब गाना सुना करना !" और बढ गया---घसीटकर आगे ले जाया गया स्तम्भित शेखर को वार्डर ने बताया, बेत कसूरी थे, अदालती नही---यानी जेल के अपराध के कारण जेल अधिकारियो द्वारा लगवाए गए थे, इसलिए तेल मे भिगोकर रखे गए थे और जल्लाद के पूरे जोर से लगवाए गए थे . जब मोहसिन तीस बेत खा चुका और टिकटी से उतारा गया, तब दारोगा को देखकर बोला, "बस ? अब तो मै खलीफा हो गया, अब क्या है !" इस पर छोटे अधिकारियो को मुस्कराता देखकर दारोगा आपे से बाहर हो गया था, मोहसिन को एक और नया दण्ड मिला टाटवर्दी का ! बेत लगाने के लिए मोहसिन को नगा तो किया ही गया था, जब उसके बाद पहनने के लिए उसे टाट-बोरिए का एक जाँघिया दिया गया तब उसने उसे पहनने से इन्कार कर दिया, इसलिए उसे नगा ही कोठरी मे भेजा गया---कोठरी भी बदलवा दी गई कि पहरा और कडाई से हो सके। अब वह पूरबवाली फाँसी की कोठरियो मे रखा गया है

किन्तु न जाने कैसे, मोहसिन को परास्त नही किया जा सका। अगले परेड मे उसकी ठोढी फिर चिकनी थी, और वह साभिमान नगा ही साहब के सामने खडा था

उसके बाद दारोगा ने अपना दैनिक अपमान देखना असम्भव पाकर मोहसिन को परेड मे पेश करना ही छोड दिया, फाँसी कोठरी से हटाकर एक और कोठरी मे डाल दिया जो जेल मे कब्रिस्तान के नाम से प्रसिद्ध थी---उसमे प्राय भीषण छूत रोगो के रोगी ही रखे जाते थे या लाइलाज बदमाश। जब ऐसा कोई व्यक्ति नही होता था तब वह खाली पडी रहती थी। मोहसिन ने हजामत करना नही छोडा, और टाटवर्दी नही पहनी। दारोगा शायद इस आशा मे रहे कि सर्दी आने पर वह स्वय हार मानेगा---अगर टाटवर्दी ही पहन लेगा तो वही हार होगी। पर कार्तिक भी आया और मोहसिन में कोई परिवर्तन नही आया, केवल उसकी

दुबली देह मे हड्डियाँ और निकल आई, सूखी त्वचा और साँवली पड गई तब एक दिन शेखर ने सुना कि उसके शरीर पर कई-एक फोडे निकल आए है, और डाक्टर ने कहा कि उसे क्षय हो गया है

एक दिन अपराजित मोहसिन को दफ्तर मे बुलाया गया, वहाँ उसको उसके अपने कपडे पहनाए गए, पाँच मिनट बाद उसे पुलीस की लारी मे बिठाकर चलता कर दिया गया। मालूम हुआ कि उसकी रिहाई समीप आ गई थी इसलिए उसे घर के जिले की जेल मे भेज दिया गया

और बाबा मदनसिंह भी अस्वस्थ रहने लगे, शेखर अब प्राय नित्य ही उनसे मिलने जाता और देखता कि उस अत्यन्त बूढे चेहरे मे तो कोई परिवर्तन नही आया है, पर उसका वह अश जो अभी तक युवा था, वह तीव्र गति से वृद्धत्व का मार्ग तय कर रहा है—बाबा की आँखे इक्कीस-बाईस वर्ष के स्थगित जीवन का अन्धकार मानो एकाएक ही उन चमकीली आँखो की ज्योति को छा लेना चाहता है इस वन्दी ऋषि के लिए शेखर के मन मे गहरे आदर का भाव हो गया था, और जब से उसने सुना था कि बाबा को सग्रहणी हो गई है तब से एक गहरी चिन्ता हर समय उसे सताती रहती थी दिन-भर वह चिन्ता लिए रहता और साय-प्रात नियमपूर्वक वह बाबा के पास जाता, यही उसकी दिनचर्या हो गई थी।

इसी तरह भादो बीता, आश्विन बीता, कार्तिक भी बीत चला। तब एक दिन सहसा शेखर के स्थगित जीवन मे एक गहरा आघात हुआ और उसने पाया कि स्थगित कुछ नही है, उसके मर्म के ऊपर बहुत ही हल्का आच्छादन है जो कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकता है और मर्मस्थल को किसी भी चोट के लिए नगा छोड दे सकता है

फाँसी कोठरियो की जिस कतार मे शेखर था, उसमे कुल चार कोठरियाँ थी। उनके वासी प्राय बदलते रहते थे। एक कोठरी मे शेखर था ही, बाकी तीन मे उसके होते-होते ग्यारह आदमी आ चुके थे। दो-तीन वहाँ आने के बाद भी छूट गए थे, बाकी को फाँसी हो गई थी।

आश्विन मे एक दिन सध्या समय एक नया आदमी लाया गया। शेखर ने कौतूहल से उसे देखा—२३–२४ वर्ष का जाट युवक, सुन्दर गठा हुआ शरीर, गोरा रग, छोटी-छोटी ऐंठदार मूँछे, बडी स्वच्छ और निर्भीक आँखे—शेखर सोच नही सका कि यह आदमी हत्यारा हो सकता है। जब वार्डर उसे शेखर के साथवाली कोठरी मे छोडकर चले गये, तब शेखर ने पहरेवाले सन्तरी से उसके बारे मे पूछकर जाना कि यह हत्यारा है, इसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है।

उसका नाम था रामजी। नाम तो शेखर ने पहले ही दिन जान लिया था। दूसरे दिन शेखर के घूमने निकलने पर उसने उसे बुलाकर परिचय भी कर लिया।

"वाबूजी, जरा सुनिए तो !"

शेखर उसकी कोठरी के आगे जा खडा हुआ था।

"इस सुरग के प्लेटफार्म पर आप कसे ?"

"क्या मतलब ?"

"आपको भी सजा हुई है क्या ?"

शेखर ने वता दिया कि वह अभी अभियुक्त है, स्वेच्छा से ही उस कोठरी मे आया था।

"तव तो आप वाहर से सामान मँगा सकते होगे ? मुझे कभी दो-एक सिगरेट दे दिया कीजिए—बुरी आदत है वावूजी, पर अव तो फाँसी चढना ही है इसलिए पी लेता हूँ—आप पीते है न ?"

"नही, पर मँगा लूँगा, ले लिया करना।"

"आप हत्यारे पर इतनी दया दिखाना वुरा तो नही समझते ? नही तो—"

"इसमे दया की कौन-सी वात है—"शेखर रुक गया, एक प्रश्न उसकी जवान पर आया था, जो वह पूछना नही चाहता था।

"आप रुक क्यो गए ? कुछ पूछना चाहते थे—यही न कि मैने हत्या क्यो की ?"

"हॉ "

"सो भी औरत की हत्या। आप जानते है न ?"

"नही।"

"आपने पूछा है, तो सारी वात वता देता हूँ। अदालत मे तो कह ही आया था।" कुछ रुककर कहने लगा, "गाँव मे हमारी थोडी-सी जमीदारी थी—मेरे वडे भाई की और मेरी। पर भाई को यह काम पसन्द नही था, इसलिए वह भाभी को घर मे छोडकर नौकरी की तलाश मे शहर चले गए थे। नौकरी उनकी लग भी गई थी, और वे हर दूसरे महीने वीस-पच्चीस रुपया भाभी को भेज देते थे।

"पर भाभी का मन अच्छा नही था। पडोस के जो लोग हमारे घर आकर भाई का हाल-चाल पूछा करते थे, उन्ही मे से एक से उसकी कुछ वातचीत हो गई थी, और मेरे पीछे वह अक्सर उससे मिलने आता था। मुझे कोई खवर नही थी, मुझे एक दिन एकाएक ही पता चला। भादो मे एक दिन साँझ को घर आकर मैने भाभी को वताया कि मुझे रात खेत पर ही रहना पडेगा, क्यो, इसमे आपको कोई दिलचस्पी नही होगी। खेत मे काम था। मै कहकर ओर वासी रोटी लेकर चला गया।

"वारिश तो दिन मे भी होती रही थी, पर रात को वडे जोर की हुई और ओले भी पडने लगे, तव काम छोडकर लौट पडा। घर आकर दरवाजा खटकाने पर वहुत देर तक नही खुला, आवाजे देने पर भी नही। जव मै गुस्से मे आकर तोडने लगा तव भाभी ने आकर किवाड खोले और सहमी-सी एक तरफ खडी हो गई। मैने देखा, सामने वही आदमी खडा है, उसके कपडे और जूते सूखे है जिसमे जान पडता है, वह देर का आया हुआ है।"

रामजी चुप हो गया। फिर लम्बी साँस लेकर बोला, "बाबूजी, मेरी जगह आप होते तो क्या करते ?"

शेखर कुछ उत्तर नही दे सका। चुपचाप खडा रहा। रामजी कहने लगा, "खैर, मैं तो जो कर चुका, कर चुका। मैंने भाभी मे पूछा कि यह कौन है, क्यो आया है ? उसने जवाब नही दिया। मैंने उस आदमी से पूछा, वह भी नही बोला। तब मैंने भाभी को धमकाकर पूछा कि यह पहले भी आता रहा है ? बहुत धमकाने पर बोली, कई बार आया है। मैंने पूछा, तू इसे चाहती है ? तो कुछ नही बोली। मैंने आदमी से पूछा, वह भी नही बोला। तब मैंने कहा, अगर तुम लोगो मे प्रेम है, तो तुम व्याह कर लो। मैं कुछ नही कहूँगा। पीछे जो होगी सो मैं देख लूंगा। भाई को भी मना लूंगा। बोल, तू है तय्यार ? भाभी कुछ नही बोली। मैंने उस आदमी से पूछा, तो बोला, तू कौन है बीच मे पडनेवाला ?

"मुझे गुस्सा आ रहा था, पर मै चाहता था, भाभी से अन्याय न करूँ। भाभी तो वह नही रही थी, पर भाई के साथ जो तीन बरस रह चुकी थी उसका कुछ लिहाज़ था ही। मैंने फिर पूछा, 'बता, तू इससे व्याह करने को तय्यार है ?' वह बोला, 'मै बीवी-बच्चेवाला आदमी हूँ, मै क्यो मुसीबत मोल लूं ?' मैंने पूछा, 'तब पहले क्यो इस घर मे घुसा था ?' वह बोला, 'इसी ने बुलाया था।' उसके कमीनेपन पर मुझे इतना क्रोध आया कि मैं मुश्किल से सम्भाल सका। पर किसी तरह मैंने कहा, 'यह सब मै नही जानता। या तो तुम दोनो सबेरे व्याह कर लो, या फिर जो मेरे मन मे आएगा, करूँगा।'

"उसने मुझे गाली दी। भाभी से मैंने पूछा, 'तू है तय्यार ? अगर है तो मै इसे मनाकर छोडूँगा', पर वह भी नही बोली। तब मेरी आँखो मे खून उतर आया। और मैंने गडासे से दोनो को काट डाला।"

साँस लेने के लिए और शेखर पर बात का असर देखने के लिए वह थोडी देर रुका। "फिर मैंने उसी वक्त थाने मे जाकर बयान दे दिया—भाभी को मारकर मेरा मन दुनिया मे रहने को नही हुआ। खूनी को मरना ही चाहिए। बस आगे जो होता है सो है ही।"

थोडी देर मौन रहा। फिर रामजी अपने-आप बोला, "बाबूजी, मै आपसे नही पूछूँगा, मैंने अच्छा किया या बुरा। मै शरमिन्दा नही हूँ। और अच्छी तरह मरूँगा। मैंने इसी लिए अपील नही की है।"

शेखर चुपचाप सोचता हुआ चला गया था। उसके बाद क्रमश उसका परिचय बढता गया था—शेखर के मन मे कुछ स्नेह भी इस आधे जगली और पूर्णत ईमानदार व्यक्ति के लिए हो गया था।

कार्त्तिक मे एक दिन सुना कि रामजी की अपील नामजूर हो गई है और चौथे दिन उसे फाँसी हो जायगी। रामजी ने अपील नही की थी पर जेलवालो ने स्वय ही उसकी ओर से हाईकोर्ट मे दरख्वास्त भिजवा दी थी।

शेखर उदास था। पर रामजी पर मानो कोई असर ही नही था, जैसे कोई नई बात हुई ही नही थी।

शाम को रामजी ने शेखर को पुकारा, "वावू साहव।"

शेखर जँगले पर आकर वोला, "क्या है ?"

"आपने कभी फाँसी देखी है ?"

"नही।"

"आप तो लिखनेवाले हैं न, आपको सब कुछ देखना चाहिए।"

"   "

"क्यो नही साहव से कहते, मेरी फाँसी देख लेने दे आपको ? मुझे भी अकेला नही लगेगा—नही तो आखिरी समय सव जल्लादो का ही मुँह देखना पडेगा।"

शेखर नि स्तव्ध कुछ वोल नही सका। रामजी की फाँसी देखने की दरख्वास्त दे वह !

"वावूजी, आप चुप क्यो है ? इसमे वुराई नही है, एक बिचारे की मदद ही है। मै समझूंगा, मरते वक़्त एक दोस्त मौजूद था।"

शेखर ने काँपते स्वर से कहा, "अच्छा   "

पर अनुमति नही मिली। शेखर ने उदास वाणी से रामजी से कहा, तो वह भी कुछ खिन्न होकर वोला, "जल्लाद साले! सव जल्लाद है।" और चुप हो गया।

उस दिन शेखर वाहर नही निकला, कुछ वोला भी नही। रामजी ने कई बार बात करने की चेष्टा की, पर शेखर 'हाँ-हूँ' से अधिक नही कर सका। अन्त मे शाम को रामजी वोला, "वावूजी, आप तो कोई बात नही करते, उदास दीखते है। घर से कोई वुरी चिट्ठी आई है क्या ? लीजिये,मै गाकर आपका मन वहलाता हूँ—ऐसा मौका कव मिलेगा ?"

शेखर लज्जा से गड गया

रामजी आधी रात तक गाता रहा। फिर न जाने कव शेखर को नीद आ गई

एक दिन और भी किसी तरह बीत गया। रात आई, तव फिर रामजी गाने लगा। आधी रात के लगभग उसने थककर कहा—"वावूजी, अब आप कुछ सुनाइए, मैं तो थक गया। सुनता-सुनता सो जाऊँगा।"

शेखर गा नही सकता था। पर रामजी के लिए कुछ गाने की कोशिश की। सफलता नही मिली। रामजी ने मीठी चुटकी ली, "वावूजी, आप मेरे लिए ही गा रहे है " तव शेखर कहानियाँ कहने लगा कभी पुराणो से, कभी विदेशी साहित्य से, कभी एक-आध अपने जीवन की घटना रामजी का 'हूँ-हूँ' धीमा पडने लगा और नीरव हो गया। शेखर ने वार्डर से पूछकर जाना कि वह सो गया है।

पर शेखर नही सो सका। जेल की 'सब अच्छा' की पुकारो की ताल पर रात बीतती चली एकाएक ऊँघ से चौककर शेखर ने देखा, उषा फूट रही है। डाक्टर रामजी की परीक्षा के लिए आया है।

"डाक्टर साहव, टाँग तो आप देगे ही, फिर नाडी क्यो देखते है ?"

"भाई, मेरा फर्ज है सो अदा करता हूँ। तुम भी खुदा को याद करो—"

डाक्टर गया। दिन निकलते-निकलते साहव, दारोगा, मैजिस्ट्रेट, चीफ वार्डर और वार्डरो की फौज आ गई।

शेखर अपनी कोठरी के जँगले पर खडा जो देख सकता था देखता था, वाकी सुनने की कोशिश कर रहा था।

रामजी की तलाशी ली जा रही थी।—हाथ वाँधे जा रहे थे—वाहर निकाला जा रहा था—

क्या वसीयत लिखानी है ? किसी को कुछ कहना है ?

"इन साथवाले वावूजी से दो मिनट वात कर लूँ ?"

कोई तीन सेकण्ड वाद साहव का उत्तर, "नही, यह तो हम नही कर सकते !"

"तव चलिए।"

कुछ घवराहट, कुछ अव्यवस्था, कुछ गति, .

एकाएक ऑगनो को जोडनेवाले फाटक पर रामजी, "अच्छा वावूजी, अव तो फिर कभी मिलेगे, उस पार कही—" एक द्रुत मुस्कान—जुलूस चला गया—

और जँगले भीचकर पकडे हुए खडा शेखर सहसा पाता है कि उसकी मुट्ठियाँ खुल गई है, हाथ छटक गए है, सिर झुक गया है

छ दिन के वाद शेखर ने वाहर निकलने का विचार किया ही था कि एक और घटना हुई जिसने उस वुरे स्वप्न-जैसी अवस्था को दो-तीन दिन और वढा दिया। शशि का पत्र आया कि वह वहुत कष्ट मे है, और मनाती है कि शीघ्र उसे जीवन से छुटकारा मिल जाय क्यो, क्या कष्ट है, कुछ नही लिखा था—कल्पना के दानव के लिए ही यह छोड दिया था कि वह उस दु स्वप्न मे मनमाने रग भरे

शेखर सोचता था, जेल मे जीवन स्थगित हो जाता है ! और यह क्या है जो मानो उसे पटककर उसके गले पर चढ वैठा है और कह रहा है, 'मै स्थगित ? तो ले देख, सह मेरा वोझ और मेरी गति की चोट !' आह, नही सहा जाता नही सहा जाता नही सहा जाता जीवन, नही सहे जाते वन्धन

क्यो नही सहे जाते ? दुर्वल, कायर, झूठा कही का ! उसके सामने ही मामूली से मामूली आदमी, जीवन की हरएक देन से वचित, धन से, कुल से, आत्मीयो से, विद्या से वचित जीवन का सामना करते हुए चले जाते है, और वह अभिमानी रोता है कि मै उसे नही सह सकता कायर, दम्भी वेदना होती है समवेदना होती है समवेदना क्या है जो जीवन को गहरा नही वनाती, घना नही वनाती, जीवन के लिए कृतज्ञ नही वनाती ? समवेदना की दुहाई देकर जीवन से डरता है ! आत्मवचक

पीडा और अपमान से जलकर सहसा शेखर उठ वैठा, उन्मत्त साँड की तरह कन्धे झुकाकर जीवन के दबाव से टक्कर लेने को तय्यार फूले हुए नथनो से फुँकार की तरह साँस लेता हुआ, पृथ्वी को पैरो से मानो रौंदता हुआ वह कोठरी से वाहर निकला कि टहलेगा, सवसे मिलेगा, और नही दीखने देगा कि जीवन उसके लिए स्थगित है, वल्कि दुगुनी गति से चल रहा है

वावा मदनसिंह खड्डी पर दीवार के सहारे वैठे थे। शेखर ने एक वार उनके चेहरे की ओर देखा, उसकी जिह्वा पर आया हुआ प्रश्न वही रह गया। वावा की हालत अच्छी नही थी।

वावा उठे नही, मुस्कुराए भी नही। शेखर ने देखा, जटा और दाढी के बीच अव त्वचा भी सफेद हो गई है, अव केवल आँखे है जिनमे रग है--और आज रग ही नही, आज उनमें दीप्ति है—वे जल रही है

"तुम आए इतने दिन कहाँ रहे?"

"मेरा मन ठीक नही था। मेरे पडोसी को फाँसी हो गई।"

"मेरा भी मन ठीक नही है शेखर! शरीर तो अव चला ही, मन भी वहुत खराव है।"

"क्यो वावा?"

"कुछ नही, कमजोरी! मै वाहर के समाचार सुनता-पढता हूँ तो विचलित हो जाता हूँ।"

"कैसे समाचार?"

"तुमने चटगाँव का हाल पढा है?"

"हाँ—"

"वहाँ जो गोली-ओली चली, उसका नही, उसके वाद जो कुछ हुआ उसका?"

शेखर ने अखबार मे पढा था कि वहाँ काफी सख्ती हो रही है, कई तरह की मनाहियाँ जारी हुई है, और यह भी पढा था कि वहाँ के समाचार छपने नही दिये जाते, तार और चिट्ठियाँ रोकी जा रही है।

"और?"

"और तो मै नही जानता।"

"शेखर, सुना है कि वहाँ सैनिक मनमानी कर रहे है, गाँव के लोगो को पीट-पीटकर सलामी कराई जाती है, स्त्रियो पर वलात्कार किया जाता है, और—और—" एकाएक वावा का गला रुँध गया, वे कुछ वोल नही सके, आवेश मे खडे हो गए

"कहाँ सुना आपने?"

"मुझे चिट्ठी आई है—"

"पर जब खबरे नही आती तब चिट्ठी भेजनेवाले ने कैसे जाना ?"

"जाना नही सुना। तुम यही कहना चाहते हो न कि ये अफवाहे है, हुआ ही करती है, झूठी है, कोई प्रमाण नही है, जब तक पूरा पता न मिले तब तक कुछ कहना अनुचित है ? ऐसी बहुत बाते मै भी सोच चुका हूँ ! पर यह सब धोखा है। मेरा क्रोध इसलिए नही है कि मेरे पास प्रमाण है, क्रोध इसलिए है कि प्रमाण नही है। तुम नही समझते की हमारी परिस्थिति कितनी भयकर है, कितनी विवश है कि ऐसे-ऐसे सगीन अभियोगो की भी हम जाँच नही कर सकते, उसके प्रमाण मे या सफाई मे ही, कुछ पूछ-ताछ नही कर सकते, ये अभियोग सच ही है, ऐसा मै नही कहता। लेकिन ये अभियोग लगाए जा रहे है, और हमारे पास साधन नही है कि हम जाँच करे। इन साधनो का पाना अधिकार है, और वह अधिकार हमे नही मिल रहा "

बाबा जँगले के पास आ गए। भिची हुई मुट्ठी शेखर की ओर उठाकर उन्होंने कहा, "दासता—एकदम घृणित परवशता—और किसे कहते है ? अप्रिय के ज्ञान को नही, असत्य मे विश्वास को भी नही, दासता कहते है उस अवस्था को जिसमे हम सत्य और असत्य को जानने मे असमर्थ हो जाते है, दासता है वह बन्धन, वह मनाही. जो हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छीन लेती है "

एकाएक वे रुक गए। "यह बात शायद मै पहले कह चुका हूँ—इसका अनुभव किए मुझे एक वर्ष हो गया।" वे एक खोखली हँसी हँसे। "एक साल पहले जानी हुई बात आज सत्य बनकर चुभती है, और मै बँधा हुआ हूँ !" बाबा की साँस फूल गई थी। दो-तीन लम्बी साँसे खीच उन्होने फिर कहा, "शेखर, चटगाँव हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर कलक है। यही मेरी समझ मे क्रान्ति का प्रमाण है—उसके लिए चारित्र्य की आवश्यकता है, वह चारित्र्य बनाती है—और उससे बडी चीज क्या है ? हमे चारित्र्य चाहिए, तो हमे क्रान्ति चाहिए ! क्रान्ति ! और मै बँधा हुआ हूँ "

बाबा खड्डी पर लौट गये। फीके स्वर मे बोले, "शेखर, तुम जाओ। मेरा मन ठीक नही है। मैने चाहा था, तुम मुझे हँसता ही देखो—ससार मुझे हँसता ही देखे, पर ऐसे भी दर्द होते है जो अभिमान से भी बडे हो। यही मै आज सीख रहा हूँ—अच्छा हुआ कि इतना तीखा दर्द मुझे मिला ! जाओ।"

शेखर चुपचाप, सहमा हुआ और रोमाचित अपनी कोठरी मे लौट आया।

तीसरे दिन शाम को बाबा की हालत बहुत खराब हो गई। डाक्टर ने अस्पताल मे ले जाना चाहा, पर बाबा ने कहा, "एक दिन के लिए वहाँ नही जाऊँगा। मैने अपने जीवन का उत्तम अश कोठरी मे बिताया है, अब सबसे महत्त्व का दिन कही और बिताने नही जाऊँगा।" कोई और होता तो जबर्दस्ती ले जाते, बाबा से जबर्दस्ती करने का साहस किसी मे नही था। डाक्टर एक वार्डर की ड्यूटी वहाँ लगवाकर चले गए,एक बार रात मे भी आकर देख गए।

शेखर को समाचार कोठरी मे बन्द होने के बाद मिला था। जेल मे बाबा का कितना आदर था, यह उसने तभी जाना। उस रात-जैसा सन्नाटा उसने जेल मे नही देखा था—बाबा की बीमारी की खबर कानो-कान फैल गई थी, और नम्बरदार लोग 'सब अच्छा!' भी धीमे, सहमे-से स्वर मे पुकार रहे थे

'एक दिन के लिए'. 'सबसे महत्त्व का दिन' सचमुच ? शेखर के भीतर प्रार्थना का भाव उमड आया .

सवेरे कोठरी खाली हो गई।

जब कोठरियाँ खुली, तब बाबा का शरीर हटाया जा चुका था। कोठरियाँ खुलने मे देर होती देखकर शेखर ने वार्डर से पूछा था, 'क्या आज कोई फाँसी है ?' क्योकि ऐसे ही दिनो खुलने मे देर होती थी।

"नही।" वार्डर हिचकिचाकर रुक गया था।

"तब ?" और फिर एकाएक भय से प्रकाश पाकर, "क्या बाबा—"

वार्डर बोला नही था.

शेखर दौडा हुआ बाबा की कोठरी की ओर गया, जैसे कोई भक्त भूकम्प से ध्वस्त मदिर की ओर जाता है

कोई कह रहा था, "रात मे उठ बैठे, घण्टा भर रोते रहे। फिर दीवार से सटकर खडे रहे, और फिर आकर लेट गए और बोले, 'अब चल!' बस—"

यह रात की ड्यूटीवाला वार्डर था। शेखर तडपकर कोठरी के भीतर घुसा हाँ, उसका अनुमान ठीक था, दीवार पर काँपते अक्षरो मे एक नया लेख था

"अन्तिम सूत्र—अभिमान से भी बडा दर्द होता है, पर दर्द से भी बडा एक विश्वास है "

बाबा के पैर छूने मे शेखर ने अपमान समझा था, उसके लिए अपने को कोसते हुए उसने उस अन्तिम सूत्र पर माथा टेक दिया, फिर आँखो मे आए हुए दो बडे-बडे आँसुओ का निर्लज्ज-भाव वार्डरो को दिखाता हुआ कोठरी मे चला गया—

दर्द से भी बडा एक विश्वास है

*   *   *
***   ***   ***

बेहूदे दिन .

मुकदमा समाप्त हो गया था। सफाई की काफी-सी तय्यारी करने के बाद एकाएक यह परिणाम निकला कि सफाई देना व्यर्थ है। वादी पक्ष कमजोर हो तो प्रतिवाद से लाभ नही होता, हानि हो सकती है। केवल विद्याभूषण के लिए कुछ गवाहियाँ पेश की गईं थी और उन सबके बयान एक ही दिन मे हो गए थे क्योकि जिरह नही की गई थी वकीलो की तू-तू मैं-मैं भी हो गई थी जिसे बहस कहते है।

"अब मै फैसला ही सुनाऊँगा—उसकी तारीख फिर तय की जायगी, अभी आरजी तौर पर तारीख डाल देता हूँ।" ओर हाकिम ने मुकदमे की अवधि तेरह दिन और वढा दी थी

ये दिन वीतते नही। यह नही कि फैसले के बारे मे वहुत अधिक चिन्ता या उत्कण्ठा थी, पर इस प्रकार आकाश मे लटके रहना. मुकदमा समाप्त हो चुका है, फैसले के लिए जो कुछ आधार होता वह सामने आ चुका है, शायद हाकिम ने मन-ही-मन फैसला कर भी लिया है। अब केवल जानने की देर है, और इसके लिए तेरह दिन बैठे रहना होगा ! नही, तेरह दिन वाद तो यही विदित होगा कि फैसला किस दिन सुनाया जायगा

अन्त मे तेरहवाँ दिन आया पर दुपहर हो गई, अदालत जाने के लिए वुलाहट नही आई। शेखर ने समझ लिया, हाकिम ने उन्हे वुलाए विना तारीख डाल दी होगी, अपने-आप पता चल जायगा। वह लेटकर सोचने लगा, सोचते-सोचते सो गया।

"वावूजी, वावूजी ! आपको दफ्तर मे वुलाया है।"

शेखर हडवडाकर उठा। "किसने वुलाया है ?"

"दारोगा साहव ने।"

"मुलाकात है ?"

'नहीं, दफ्तर मे वुलाया है। पेशी है।"

"कैसी पेशी ?" कहकर शेखर वार्डर के साथ चल पडा।

दफ्तर पहुँचकर मालूम हुआ कि मुकदमे का फैसला सुना दिया गया है। शेखर के वारे मे मजिस्ट्रेट की राय है कि उसके विरुद्ध गवाही इतनी दृढ नही है कि सजा दी जा सके, यद्यपि सन्देह वहुत अधिक होता है। किन्तु अगर प्रमाण अकाट्य भी होता, तो भी शायद जितनी कैद वह भुगत चुका है वह पर्याप्त होती, इसलिए उसे छोडा जाता है।

वेजान-से स्वर मे दारोगा ने कहा, "वधाई है। आप अव आजाद है। दफ्तर से अपना सामान वगैरह ले लीजिए।"

"और बाकी लोग ? पूरा फैसला तो सुनाइए—"

"विद्याभूपण को एक वर्ष, सन्तराम और केवलराम को छ-छ महीने, हसराज रिहा हो गया है।"

"मै उनसे मिल नही सकता ?"

दारोगा जोर से हँसे। "आपने सुना नही, जेल की यारी क्या होती है ? कैदियो से भी कोई मिलता है ?"

"तो आप नही मिलने देगे ?"

"वे अव कैदी है। तीन महीने मे एक मुलाकात कर सकते है। आप दरखास्त दे सकते है, पर आप मिलेगे तो तीन महीने तक वे दूसरी मुलाकात नही कर सकेगे। शायद इसके लिए वे आपके शुक्रमन्द नही होगे।"

"और हंसराज ?"

"उसे एक घण्टा पहले रिहा कर दिया गया है।"

शेखर चुपचाप दफ्तर मे चला गया।

दस महीने नष्ट

उदास भाव से शेखर दफ्तर की कार्रवाई समाप्त करने के बाद ड्योढी का फाटक खुलने की प्रतीक्षा मे खडा था। उसे लेने कोई नही आया था—किसी को खबर नही थी। वकील को रही होगी, पर वे अभी काम मे व्यस्त होगे अकेला ही वह बाहर निकलेगा, अकेला और उदास—जीवन के बडे-बडे दस महीने नष्ट करके

नष्ट ? बाबा मदनसिंह ने इक्कीस वर्ष वहाँ बिताए थे, और उसके बाद भी लिख गए थे कि दर्द से भी बड़ा एक विश्वास है इस एक बात को जानने मे दस महीने सफल हो जाते—और उसने बाबा मदनसिंह को जाना था, मोहसिन को जाना था, रामजी को जाना था, स्वय अपने को जाना था नष्ट ? अकृतज्ञ शेखर

दस दीर्घ जीवनाक्रान्त महीने बन्धनो का अन्त—जिज्ञासाओ का अन्त—जीवन, केवल जीवन, विस्तृत और अबाध जीवन

किन्तु जब फाटक खडखडाकर खुलने लगा, बाहर का दृश्य उसके सामने आ गया, ठीक उसी के सामने, बिना सीखचो की ओट लिए, तब एकाएक उसे अपनी बात पर सन्देह हो आया। बन्धनो का अन्त ? जिज्ञासा का अन्त ? शेखर को बहुत पहले पढी हुई कविता की दो पक्तियाँ याद आईं—

Peace, peace, such a small lamp
illumines, on this highway,
So dimly, so few steps in front of my feet...*

सभी कुछ जानने को है अभी, सभी कुछ काट गिराने को है

और शशि ?

सहारे के लिए केवल एक छोटी-सी बात—पर बाबा ने लिखा था, अन्तिम सूत्र उन्ही के लिए अन्तिम, या मानव-मात्र के लिए अन्तिम ?

फाटक उसके पीछे बन्द हो गये थे। वह मुक्त था।

"अभिमान से भी बडा दर्द होता है, पर दर्द से भी बडा एक विश्वास है "

---

* शान्ति, शान्ति ! इस राजमार्ग पर केवल एक छोटा-सा दीप
आलोकित करता है—
इसके फीके प्रकाश से इतने थोडे-से कदम मेरे चरणो के आगे

तृतीय खंड :

शशि और शेखर

क्या वावा मदनसिह का स्वर है यह, जिसकी गूंज मेरे कानो मे है ? क्या यह उत्फुल्ल गरिष्ठ स्वर उसी वीर का है, जिसकी निर्बलता भी उसके स्वर से गौरव-युक्त हो जाती थी ?

"अपने विचारो को इस चारदीवारी से वाहर मत भटकने दो। अपने सगो का विचार करके तुम उनकी यातना नही घटा सकते, न उन्हे कोई सुख पहुँचा सकते हो। उलटे हर समय उनके क्लेश की याद से तुम अपनी दृढता की नीव खोद रहे हो !"

क्या यह सच है ? नही, यह वावा का स्वर नही हो सकता—वावा का ज्ञान इससे वडा था ! तव क्या है यह ? मेरा अहकार है ?

अतीत से मेरी दृढता घटती नही, वढती है, क्योकि जितना ही मै उसे देखता हूँ, उतना ही मै उसके भीतर की अनिवार्यता को पहचानता हूँ—जानता हूँ कि आज वह 'भूत' इस-लिए है कि एक दिन वह भविष्य—अवश्य भवितव्य—था मै जानता हूँ कि मुझे लडना होगा, हमे लडते जाना होगा, कि लडाई से होनेवाले क्लेश के कारण रुक जाना उस क्लेश और अन्याय और महायातना को स्थायी वनाना है जो पहले से मौजूद है

लेकिन वह गम्भीर स्वर मुझसे सहमत भी होता है,—घूम-घूम कर सनक उठता है, "वन्दी, एक दिन आएगा जव तुम आज की इस यातना के गौरव के लिए अपनी दाहिनी भुजा देने को तय्यार होगे—इतना वडा है यह गौरव—"

क्यो ? क्या मै आज भी तय्यार नही हूँ ? क्या मै आज भी केवल एक भुजा नही, अपना सिर भी देने को तय्यार नही हूँ ?

वह स्वर हँसता है। "सिर ? सिर तो तुम्हारा दे दिया गया !"

किन्तु क्या यह स्वर सच है ? क्या यह आत्मरक्षा का एक साधन नही है ? क्या यह यातना सचमुच गौरव है, क्या वह सचमुच गौरव नही होता जिसकी याद का यत्न ही मुझे ऐसा डरा देता है कि मै वहाने खोजता हूँ ? यदि मै 'साधारण' मानव ही होता, अखवारो का और हस्ताक्षर माँगनेवालो का और सिपाहियो का और साम्राज्य-सत्ता का खिलौना न होता, केवल जीने और रहने और मरने की स्पष्टतया अकिचन परम्परा मे प्यार पा और दे लेनेवाला एक 'कोई', तो क्या सचमुच उसका गौरव वहुत कम होता ?

तुम्हारा जाना भी भवितव्य था या नही, शशि, मै नही जानता, पर तुम चली तो गई हो, और मुझे यह मानने में शर्म नही कि तुम न गई होती तो—तो—

पर नही, परिताप कैसे हो सकता ? तुम्ही होती, तो परिताप की ज़रूरत किस वात के लिए होती !

* * *

फाटक के बाहर खडा होकर शेखर कुछ क्षणो के लिए किंकर्त्तव्यविमूढ हो गया। क्षण-भर तो उसे ऐसा लगा, मानो वह फिर जेल लौट जाना चाहता है, बाहर आने मे उसकी अनिच्छा है। फिर उसने अपने पैरो को बाध्य किया कि वे आगे बढे। एक-एक मजिल नाँघता हुआ वह मानो अपने को चलता रहने के लिए अपने को याद दिलाता जाता, 'यह तुम क्वार्टरो से आगे निकल आए।' 'यह मुर्दाघर पीछे रह गया।' 'यह लुहार-हाता भी निकल गया।' 'यह बाहर का जँगला है और यह फाटक, और अब तुम सडक पर हो।' 'वह सडक का मोड है।'

मोड पर वह फिर क्षण भर रुका, फिर अनिश्चय की, अनिच्छा की एक रगड उसके हृदय को छीलती चली गई। साथ ही उसने जान लिया कि वह अनिच्छा लौटने की इच्छा नही है, वह उधर बढने का डर है जिधर वह जा रहा है।

वह कहाँ जाय? कालेज? स्वप्नवत् एक दृश्य उसके आगे दौड गया—लडको की भीड शेखर को घेरे है कुछ उसे कन्धो पर उठाना चाहते है, और हल्ला हो रहा है—जिन्दाबाद! शेखर! इन्कलाब! और उसके तत्काल बाद एक दूसरा चित्र—टिकटी पर मोहसिन नगा बँधा हुआ है, और उसके चूतडो की चिरियो से खून बह रहा है। नही, कालेज मे उसके लिए स्थान नही है—और दस मास बाद क्या उसका नाम खाते पर होगा?

डरते-डरते उसका मन फिर उधर को बढने लगा जिधर से अनिच्छा का सोता टूट था—शशि के घर? "उस शशि को आशीर्वाद दो जो आज तक तुम्हारी बहिन थी, उस प से तुम्हे अन्तिम बार प्रणाम करती है।" क्या मै उसे जानता हूँ? क्या वह बदल नह गई है, क्या वह चली नही गई है—क्या 'शादी के बाद रमा अपने घर चली गई', वार्ल बात उसके लिए भी वैसी ही दुर्निवार सच नही हो गई जैसी एक दिन पहले भी शेखर वे जीवन मे हुई थी?

नही, नही, नही! यह मेरी नीचता है!

और अपने को दिलासा देने के लिए शेखर ने हठात् बाबा का वाक्य याद किया—'दर्द से भी बडा एक विश्वास है'—क्या मुझमे विश्वास की कमी है?

वह आगे चल पडा। लेकिन कदम उठाने की प्रेरणा के साथ ही उसने जान लिया कि वह शशि के घर की ओर नही उठ रहा है।

वह नही समझ सका कि क्यो उसके पैर उसे इस प्रोफेसर के घर ले आए है। प्रोफेसर हीथ से उसकी कभी विशेष घनिष्टता नही हुई थी, और इस समय कोई कारण नही था कि वह उधर आकर्षित हो—प्रोफेसर हीथ अँगरेज थे और शेखर ने उपन्यासो से बृटिश मध्यवर्ग के आदमी का जो खाका खीचा था वह उन पर बहुत ठीक उतरता था। सामाजिक अलगाव, रूढि-बद्धता, रीति-व्यवहार के कडे बन्धनो के नीचे छिपी हुई शर्मिदा-सी भावुकता—शेखर ने समझ रखा था कि ये सब बाते प्रोफेसर हीथ में पर्याप्त मात्रा मे

मौजूद है। इस समय उनसे मिलन मे उसके बिखरे हुए मन को एकाग्र होने के लिए काफी ज़ोर लगाना पडेगा—शायद वह उसके लिए असमर्थ होकर वुद्धू बने पर क्या कही इस विवश एकाग्रता के लिए ही तो नही वह उधर जा रहा था ? एकाग्र होने को बाध्य होना एक सामाजिक लडाई के लिए बाध्य होना है, और उसकी डरी हुई आत्मा लडाई से ही तो भागना चाहती है

प्रोफेसर साहब उसे सीढियो पर से मिले। उनके चेहरे का पहला विस्मयभाव फौरन ही प्रसन्नता मे परिणत हो गया—"हलो शेखर ! तुम आ गए ?" और उसके कुछ कहने से पहले "बिल्कुल बरी हो न—कोई झझट बाकी तो नही है ?"

हाथ मिलाकर शेखर ने हाथ खीच लिया, पर उसके चेहरे की मुस्कुराहट बनी रही।

"जी हाँ, कोई झझट बाकी नही है। सब कुछ—पूर्ववत् हो गया है।" एक छाया उसके अन्त पट पर दौड गई—क्या सचमुच ? और शशि

"अच्छा ! तो तुम भीतर बैठोगे न ? मै एक क्लास लेने जा रहा हूँ—मुफ्त की झझट सिर आ पडी थी—चाय तो यही पियोगे न—ज़रूर मेरे साथ पीना—भीतर पुस्तके बहुत है—और चित्र—"

"धन्यवाद, मै केवल मिलने आया था, फिर मिलूँगा—"

"नही, चाय तो तुम्हे पीनी होगी"—शेखर के चेहरे पर विकलता का भाव देखकर, "क्या दूसरा काम है ? तो फिर चाय के समय तक लौट आना—हाँ, तुम्हारी रिहाई कब हुई थी ?"

शेखर ने धीरे-धीरे कहा, "रिहा होकर सीधा यहाँ आ रहा हूँ।"

"ऍं—सच ? तब तो तुम्हे अपने बन्धुओ से मिलना होगा, मै अन्याय कर रहा हूँ। तुम मिल आओ। चाय पर अवश्य आना—"

प्रोफेसर के साथ उतरता हुआ शेखर एक खोखली मुस्कान लेकर रह गया। नीचे उतरने के बाद वे जब चाय का न्योता दुहराकर चले गए, तब वह मुस्कान हँसी मे फूट निकली—'बन्धुओ से मिलना !' शेखर ने ऐसा मुँह बनाया जैसे कोई कड़वी वस्तु खा गया हो।

शेखर के चचा तिमजले पर रहते थे। सीढियाँ चढने मे शेखर को कम आत्म-ग्लानि नही हुई थी, और उन तग सीढियो पर समय इतना लगता था कि आत्म-ग्लानि की चरम सीमा तक पहुँचा जा सकता था शेखर का साहस—नही, साहस की कमी से पैदा हुई बाध्यता—ऊपर पहुँचते-पहुँचते मुरझा गई थी। बन्द किवाड की साँकल पर हाथ रखकर वह क्षण-भर रुका रहा।

मुझमे और इस डाक विभाग के इन्स्पेक्टर चचा मे क्या साम्य, क्या सम्बन्ध है ? शेखर को याद आया, एक बार गर्मियो के दिनो मे वह बीमार हुआ था तो चचा से समाचार जानकर चाची ने एक तोला इमली भिजवाई थी कि इसका शर्बत करके पिये, शेखर

यदि मनुष्य न होकर एक बेरिंग चिट्ठी होता तो चचा को उसमे अधिक दिलचस्पी हो सकती—वर्ना शेखर उनकी दुनिया के वाहर की वस्तु था उसका हाथ कुण्डे पर से उठ गया और वह दवे पाँव नीचे उतर गया।

शशि का घर वहाँ से वहुत दूर नही होना चाहिए—पते से शेखर ने ऐसा अनुमान लगाया, पर वहाँ तो जाना नही है—और—

क्यो शेखर ने शशि की सब चिट्ठियाँ फाड़ दी थी ? इस समय उनकी कितनी जरूरत थी उसे—उनकी घनिष्टता की, उनके प्यार की, उनकी उस समीपता की 'जो अन्तिम प्रणाम कर गई है' ! उफ, यदि वे पत्र होते, तो शेखर फिर खीच ला सकता उस वीती हुई स्थिति को—

जैसे पत्र कभी प्यार का स्थान ले सकते है !

मूर्ख कही का !

* * *
** ** **

शेखर समय से पहले नही पहुँचा था। किवाड खटखटाते ही खुल गया और प्रोफेसर हीथ ने उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा, "शेखर, तुम्हारे लिए एक सर्प्राइज रखा है।"

शेखर ने आँख उठाई। परिचय की ज़रूरत नही थी, सामने शेखर का मुकदमा सुननेवाले मजिस्ट्रेट साहव वैठे थे।

मिस्टर वर्नेस ने कहा, "रिहाई पर वधाइयाँ।"

शेखर ने तत्काल उत्तर दिया, "फैसले पर आपको भी वधाई—कम-से-कम फैसले के इस अश पर !" वातावरण कुछ हल्का हो गया। शेखर वैठ गया, इधर-उधर की वाते होने लगी। प्रोफेसर हीथ ने वताया कि उन्होने वर्नेस को भी चाय के लिए निमन्त्रित कर लिया था ताकि वातचीत दिलचस्प हो सके, और वे परस्पर अपने असली भाव व्यक्त कर सके।

चाय शुरू हुई। वातचीत के सिलसिले मे प्रोफेसर ने वर्नेस को वताया कि शेखर लेखक है। "क्या लिखते है आप—" वर्नेस ने प्रश्न शुरू ही किया था कि प्रोफेसर ने उत्तर दे दिया, "शेखर प्राय गल्प लिखता है, कभी कुछ—"

"मैने पहले ही यही सोचा था।"

शेखर ने कुछ उत्सुक होकर पूछा, "क्यो ?"

"क्योकि अदालत मे आपकी सफाई का वयान गल्पकला का वढिया नमूना था !" वर्नेस अपने मजाक पर खिलखिलाकर हँस पडे।

मोहसिन के नगे चूतड और वावा के अन्तिम दिन की आँखें शेखर के आगे नाच गईं। अपना अपमान उसे दुगुना तीव्र होकर चुभ गया, पर उसने ढीठ होकर हँसते हुए कहा, "आपकी साहित्यिक परख का मैं कायल नही हो सकता।" मन-ही-मन निश्चय किया कि वह वदला लेगा।

प्रोफेसर हीथ ने शायद बात टालने के लिए कहा, "शेखर, मैंने सोचा कि तुम दोनो यहाँ होगे तो एक दूसरे को जानने का अच्छा मौका मिलेगा। प्राय भारत मे भारतीयो और अँग्रेजो का सम्बन्ध ऐसा रहता है कि हम लोग तकल्लुफ मे ही रह जाते है। मिस्टर बर्नेस को साहित्य मे बहुत रुचि है। शतरज के भी खिलाडी है। बर्नेस, कभी शेखर को अपने यहाँ बुलाना—" उन्होने बर्नेस की ओर देखा, वे बोले, "अवश्य ही—", प्रोफेसर फिर कहने चले, "और शेखर, तुम अवश्य इनके यहाँ जाना। श्रीमती बर्नेस बडी सज्जन है और कई दृष्टियो से असाधारण महिला है—"

शेखर को रास्ता दीखा। उसने कुछ खिलकर कहा, "मैंने पहले ही यही सोचा था।"

बर्नेस कुछ चौके, लेकिन उनके मन का प्रश्न व्यक्त हुआ प्रोफेसर के मुँह से—"क्यो ?"

"क्योकि अदालत मे मिस्टर बर्नेस को देखकर मुझे ख्याल आया करता था कि यह व्यक्ति किसी असाधारण स्त्री का ही पति होगा।" सन्तुष्ट होकर शेखर कुछ पीछे झुक कर आराम से बैठ गया। वातावरण मे आये हुए हल्के-से तनाव को दूर करने की इच्छा से प्रोफेसर ने पैंतरा बदला, "शेखर, तुम अँग्रेजी मे क्यो नही लिखते ?"

शेखर ने कुछ सोचते-से स्वर मे कहा, "अँग्रेजी मे ?"

"हाँ, इधर कुछ समय से उधर लोग भारत मे काफी दिलचस्पी लेने लगे है। यदि भारतीय जीवन के कुछ चित्र कहानी के रूप मे अँग्रेजी पाठक के आगे रखे जायँ, तो शायद काफी पसन्द किए जायँ।" कहते-कहते प्रोफेसर ने सम्मति के लिए बर्नेस की ओर देखा।

"हूँ—ऐसी चीजो के लिए अमरीका मे तो काफी माँग है, पर मेरे ख्याल मे हम लोग तो बहुत आकर्षित नही है। निजी तौर पर मुझे तो बहुत अच्छी लगती है, पर हम अँग्रेज़ कोई खास पसन्द नही करते।"

प्रोफेसर हीथ ने सहमति जताते हुए कहा, "हाँ, हमारे लिए वे कोई महत्त्व नही रखती—"

शेखर ने प्रोफेसर की ओर उन्मुख होकर पूछा, "वैसे आपका क्या ख्याल है—यानी निजी तौर पर आपका ? क्या आपको वे पसन्द आती है ?"

"हाँ, अवश्य, मै तो बहुत पसन्द करता हूँ—"

शेखर उठ बैठा। तो यो है बात ! ये दोनो ही व्यक्ति किसी वस्तु को चाहते है, किन्तु फिर भी कहते है, हमे उसमे दिलचस्पी नही है, हमारे लिए उसका कोई महत्त्व नही है, हम परवाह नही करते—हम जो एक देश है, एक राष्ट्र है, एक इकाई है, हम जो हम है, हम थे, हम रहेगे

उसे लगा, जैसे किसी ने उसे थप्पड मारा है। उसके दाँत घुटकर बन्द हो गए, उसकी आँखो मे दो अपूर्ण आँसू जलने लगे। किसी तरह दो-चार घूंट और पीकर उसने विदा माँगी और बाहर आकर जल्दी से नीचे उतर गया।

क्या हमारे देशवासी भी ऐसे कहते हैं—कह सकते है ? हाय भारत ! हाय हम ! हाय हम !

*
**

*
**

*
**

सडक पर वत्ती जलने के पहले के धुँधले चिकने अरुणाले प्रकाश मे उसे लगने लगा कि वह व्यर्थ ही उत्तेजित हो गया है, जेल से आने के पहले दिन की उत्तेजना अप्रत्यक्ष मार्गो मे प्रकट हो रही है क्या हमारी भी सस्कृति एक नही है, क्या ब्रिटेन से पचीस गुने वर्ग-फल और दस-गुनी आवादी के इस देश मे ब्रिटेन की अपेक्षा अधिक घनीभूत सास्कृतिक एका नही है ? और यहाँ भी अकेले व्यक्ति की रुचि और समूह के सम्मान मे वैसा ही भेद हो सकता है—'मैं' एलियट अथवा एजरा पाउन्ड पसन्द कर सकता हूँ जब कि 'हमारी' रुचि छायावाद की ओर है व्यर्थ ही हिस्टीरिकल (उन्माद-ग्रस्त) हो रहा हूँ

पर उसका मन नही माना, उसे लगा कि वह खीचतान कर अपनी सफाई दे रहा है। वात चाहे वैसी हो, उसकी चेतना हममे नही है, अपनी एकता का अभिमान तो क्या, उसका जीता-जागता ज्ञान भी हमे नही है। वह एक मरा हुआ सत्य है, इसलिए झूठ है .

कसक उसके मन मे वनी रही। वर्षा मे वैठकर भीगता हुआ वन्दर अपने भाग्य से जभी कुछ सन्तुष्ट होने लगे, तभी ऊपर से ओले पडने लगे, तव जैसा ओछा वह अपने को अनुभव करता होगा, वैसा ही शेखर उस समय कर रहा था, और किसी भीतरी ग्लानि की गरदनियो से धिकलता हुआ चला जा रहा था

एकाएक वत्तियाँ जली, वह ठिठक गया। उसकी आँखे जिस जगह टिकी थी, वहाँ एक पीतल का वोर्ड लगा हुआ था।

शेखर के सामने शशि का घर था।

*
**

*
**

*
**

'भोगनेवाले प्राणी मे और रचना करनेवाले कलाकार मे सदा एक अलगाव वना रहता है। जितना ही वडा वह अलगाव है, उतना ही वडा कलाकार होगा।'

लेकिन क्या मैं कलाकार हूँ ? क्या मुझे कलाकार होने की परवा है जव कि मै उस जीवन को जी सकता हूँ जो कि तुम्हारे ससर्ग से वना है ? अलगाव का मुझे क्यो मोह, तटस्थता से मुझे क्यो प्रेम, जव कि मैं जीवन के एक अणु से भी अलग नही होना चाहता, जव कि उसका एक-एक अणु तुमसे अनुप्राणित है ! कलाकार मुझसे वडे है, हुआ करे, मैं झुका हुआ हूँ, स्तव्ध हूँ, प्रतीक्षमान हूँ और जानता हूँ कि तुम्हारा वरदहस्त मेरे ऊपर है

*
**

*
**

*
**

शेखर तनिक-सा काँप गया, पर कोई आशका इतनी वडी नही थी कि एक वार उस द्वार के आगे आ ही जाने पर शेखर को मोड ले जाय। शेखर ने दो वडे लम्वे-लम्वे श्वास

खीचे, जैसे कोई झील मे कूदने से पहले खीचता है। उन साँसो के साथ वह जैसे बहुत-सी सम्भावनाओ को एक साथ ही पी गया—जिनमे एक यह भी थी कि शशि पराई है—पराई ही नही, सदा के लिए अपरिचित हो गई है, क्योकि वह परिचय के घेरे से स्वय निकल गई है।

फिर उसने किवाड खटखटाने के लिए हाथ उठाया, पर तत्काल ही अनुभव करके कि यहाँ कुछ समय और रुकने का बहाना है, उसने हाथ खीच लिया और सीढियाँ चढकर दुमजिले पर जा पहुँचा।

बैठक मे तीन-चार कुर्सियाँ पडी थी। एक पर कोई सूटधारी व्यक्ति बैठा हुआ फल खा रहा था, उसके आगे की तिपाई पर चाय के जूठे बर्त्तन भी पडे थे। शेखर के आने के स्वर से उस व्यक्ति ने मुडकर देखा, और सहसा उसकी आँखो मे अपरिचय घना हो आया। शेखर ने उस क्षण मे दो बाते देखी—कि सूट अच्छा फिट बैठता है, और उस व्यक्ति की भँवे बहुत घनी और बीच मे मिली हुई है। फिर उसने कहा, "मेरा नाम चन्द्रशेखर है—"

"आइए, आइए—आप कब आए? यह तो बडा अच्छा दिन है" वह व्यक्ति जल्दी से उठकर आगे बढा और फिर रुककर बोला, "आइए, आइए, बैठिए न—" शेखर ने देखा कि वाक्य के आरम्भ का सहज भाव क्रमश शिष्टाचार के आवरण मे छिप गया है, और जैसे वह व्यक्ति भी इसका अनुभव करके ही कुछ बात कर डालना चाह रहा है

"शशि से तो अक्सर आप ही की बात होती है। हम लोग तो वही मिलने आने की सोच रहे थे; पर इधर कुछ—यह काम भी बडा—" सहसा पुकारकर, "शशि, यह देखना कौन आए है—तुम्हारे भइया!"

तो यही शशि के पति रामेश्वर है। प्रतीक्षा के दो-एक क्षणो के बाद भीतर के कमरे की ओट से शशि आई। देहरी पर पैर रखते ही उसने पूछा, "अरे, तुम कैसे आ गए?" और ठिठक गई।

एक मुस्कुराहट भी नही—चेहरे पर किसी तरह का कोई भाव नही झलका। पर क्या उन बडी-बडी खुली आँखो का स्निग्ध विस्मय और उस प्रश्न की सहज आत्मीयता झूठी थी? पर—किन्तु शेखर को निराश होने का समय नही मिला।

रामेश्वर ने कहा, "मैने तो शशि से कहा भी था कि कम-से-कम फैसले के दिन तो मिल ही आवे पर इन्होने कोई खास उत्साह ही नही दिखाया—" शेखर ने शशि की ओर पुष्टि के लिए देखा, पर शशि की शून्य दृष्टि मे कोई उत्तर नही था—"फिर मै भी रह गया। मै तो कहता हूँ कि ऐसे वीर पुरुष के दर्शन करना भी सौभाग्य से ही मिलता है। आप तो त्यागी महात्मा है।"

नही, यह सच नही हो सकता। पर यह मिथ्या प्रशसा किसके लिए है, उसके या शशि के? उसने छिपी हुई, पर भेदक दृष्टि से रामेश्वर की ओर देखा, वह स्थिर भाव से शशि की ओर ही देख रहा था। शशि अब भी चुप ही थी, और वैसे ही एक पैर देहरी पर रखे खडी थी।

"अरे आप अच्छी वहिन है—न नमस्कार, न कुछ, न वैठने तक को कहा है, लाइए न इनके लिए कुछ चाय वगैरह—लीजिए तव तक फल खाइए—"

शेखर के कुछ ननु-नच करने के पहले ही शशि वही से मुडकर भीतर चली गई, और मिनट-भर बाद एक प्याला चाय वही से तय्यार करके ले आई।

"अरे, ऐसे—" कुछ हिचकती-सी दृष्टि से रामेश्वर ने मेज पर पडी हुई केतली, दूधदानी आदि की ओर देखा।

शेखर ने जल्दी से कहा, "ठीक है, ठीक है, असल मे मैं चाय पीता भी नही हूँ—" और वात समाप्त करने के लिए प्याला अपनी ओर खीच लिया। शशि नीचे बिछी हुई चटाई पर वैठकर एक तश्तरी में कुछ फल रख रही थी।

रामेश्वर ने कुछ हँसकर कहा, "आपकी वहिन का स्वभाव विचित्र है।" हँसी मे कोई सार नही था, उसका उद्देश्य केवल यही था कि इस उक्ति को आलोचना न समझा जाय, केवल वोध ही माना जाय।

शेखर ने भी कुछ हँसकर कहा, "असल मे हमारा सारा कुनबा ही विचित्र है—"

शशि ने एक द्रुत, तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा और फिर अपने काम मे लग गई। रामेश्वर ने कृत्रिम विस्मय से कहा, "अच्छा ?" शेखर को लगा कि उसकी मुस्कराहट मे हल्का-सा उपहास का भाव है। किन्तु क्यो, वह नही जान सका।

शेखर तुरत कुछ नयी वात छेडना चाह रहा था, पर उसे कुछ सूझा ही नही। इस वीच शशि ने फल लाकर उसके आगे रख दिए। उसने पूछना चाहा कि तुम नही खाती ? पर यह सोचकर कि घर-घर का व्यवहार अलग-अलग होता है और शायद पति के सामने वह नही खाती होगी, उसने तश्तरी अपनी ओर खीच ली और रामेश्वर से पूछा, "आप भी लीजिए न ?"

"लीजिए, लीजिए—" कहकर उसने एक फाँक सन्तरे की उठा ली। "आपकी तो हम कुछ खातिर ही नही कर रहे। और आप तो अभी सीधे छूटकर आ रहे है ? हाँ, यह तो हमने पूछा ही नही कि फैसला कव क्या हुआ!"

शेखर छूटने के वाद जहाँ-जहाँ गया था उसका व्योरा वता दिया।

"आप अव ठहरे कहाँ है!"

शेखर ने कुछ हँसकर कहा, "अभी ठहरा कहाँ हूँ—अभी तो चल-ही-चल रहा हूँ!"

"अच्छा, तो आप यही रहिए न! वहिन का घर तो अपना घर होता है। आप जरूर यही रहिए, मुझे वडी प्रसन्नता होगी, और शशि को तो होगी ही। वह तो अक्सर आपकी वात करती रहती है—"

शेखर को हल्का-सा याद आया कि यह वात दूसरी वार कही जा रही है। उसने शशि की ओर देखा, पर वह जैसे इस निमन्त्रण से तटस्थ थी। रामेश्वर ने शेखर की दृष्टि का अनुसरण करते हुए कहा, "आप भी कहिए न इन्हे कि यही रहे ? मुझसे तो शायद सकोच करते है—"

शशि ने दृष्टि नीचे किए हुए ही कहा, "मै तो छोटी हूँ।"

यह उत्तर रामेश्वर को ही नही, शेखर को भी कुछ पहेली-सा लगा।

"तो क्या ?" कुछ रुककर, जैसे नयी सूझ पाकर रामेश्वर ने कहा, "आप कही यह तो नही सोच रहे कि छोटी वहिन के घर कैसे रहा जाय ? चलिए—" और वह जोर से हँसा, "आप इसे होटल ही समझकर दाम चुका दीजिएगा ! पर आजकल तो—"

शेखर ने कहा, "नही, यह वात तो बिल्कुल नही है।" फिर वह भी हँसा। "नही तो मै इन फलो के दाम निकालूं ? यह तो मैने बिना वह सब सोचे ही खा लिए है।"

रामेश्वर ठठाकर हँसा।

किन्तु हँसी के शान्त होने के वाद फिर एक शून्य उत्पन्न हो गया—साथ हँसने के वाद घनिष्टता नही तो कम-से-कम परिचित के जो हल्के तन्तु दो व्यक्तियो के वीच मे वन जाने चाहिए, वह जैसे नही वने। शिष्टाचार के पैतरे फिर होने लगे। रामेश्वर ने पूछा, "आप भोजन तो करेगे न ? शशि, भोजन मे कितनी देर है ?"

"तय्यार ही है—"

"नही, भोजन तो—"

"वाह, यह कैसे हो सकता है ? चाय तो मै देर से पीता हूँ, इसीलिए आपसे पूछा था। समय तो भोजन करने का है, आइए तव तक जरा घूम आएँ, लौटकर भोजन करेगे।"

"जी नही, मुझे भूख विलकुल नही रही, मेरा भोजन तो हो भी चुका है। यह फल। और—"

"चलिए थोडा घूम तो आएँ, लौटने तक भूख लग आएगी—"

शेखर ने कहा, "घूमते-घूमते तो थक गया। अव चलता हूँ—जरा कालेज से पता लगाऊँ कि आगे कैसे क्या होगा !"

"यह सब तो कल हो जायगा। पर आप थके है तो वैठिए, मै ज़रा क्लब तक हो आऊँ, थोडा-सा काम है। अभी आता हूँ लौटकर।" फिर शशि की ओर उन्मुख होकर, "ये यही ठहरेगे, इन्हे जाने नही देना—जैसे भी हो राजी कर लेना।"

शेखर को विना कुछ कहने का मौका दिए रामेश्वर नीचे उतर गया।

पाँच-सात दीर्घ सेकण्डो तक कोई कुछ नही वोला। फिर शशि ने पूछा, "कहाँ रहोगे ?"

शेखर जानता था कि शशि के यहाँ वह नही रहेगा। पर शशि उससे कहेगी भी नही, पति के कहने के वाद समर्थन मे भी नही, यह उसे कुछ विचित्र लगा। पर निराशा को छिपाने के लिए वह जल्दी-जल्दी कुछ-न-कुछ झूठ आविष्कार करने के लिए वोला, "सोचता हूँ, होस्टल ही जाऊँगा। कालेज का पता करूँगा कि पढाई आगे चलेगी कि नही। नही तो और कुछ सोचना होगा।"

"घर नही जाओगे ? माताजी वीमार है।"

"अच्छा ? पर मै अभी तो नही जाऊँगा—"

"खाना खाओगे ?"

"नही, इच्छा नही है।"

थोडी देर मौन रहा। फिर शशि ने पूछा, "जेल कैसा लगा ?"

शेखर को अचानक उत्तर नही सूझा। बोला, "क्यो ?"

"बहुत-से लोग जेल जाकर खट्टे हो जाते हैं—उनका किसी मे विश्वास नही रहता। तुम तो वैसे नही हो गए ?"

मदनसिंह का चित्र शेखर की अन्तर्दृष्टि के आगे दौड गया।

"अम्—नही। मैंने जेल मे बहुत-कुछ सीखा है—काफी कड़ुवा, पर मै तो शायद कड़ुवा नही हुआ हूँ—"

शशि ने भरपूर दृष्टि से शेखर की आँखो की ओर देखा। उसकी दृष्टि मे आश्वासन और सन्तोष देखकर शेखर को अच्छा लगा। शशि के इस विचित्र व्यवहार से जो रूखापन उसके प्राणो मे समा रहा था वह कुछ स्निग्ध हो गया।

"अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे। योही भटकना अच्छा नही है। अबकी जब आओगे तो मै पूछूंगी कि क्या निश्चय किया है—अबकी क्यो, कल तो आओगे ही। आओगे न ? वह भी तो कह गए है।"

शेखर ने चौककर शशि की ओर देखा। शशि की बात मे जो एक रहस्यमय अन्तर्ध्वनि है, वह क्या है ? उसने एकाएक जाना कि आरम्भ मे ही शशि ने जितनी बाते की है, प्रत्येक की स्पष्ट ध्वनि के नीचे एक गहरा और विशालतर अर्थ है—पर क्या ? उसका ध्यान रामेश्वर की बातो की ओर गया—उसकी बातो मे भी कुछ था जो—

उसके विचार रुक गए, पर वह निर्मम होकर उन्हे आगे धकेलने लगा और उनके प्रत्याक्रमण से तिलमिलाता गया—

यहाँ कुछ है जो रहस्यमय है, जिसके रामेश्वर और शशि साथी है—मै उसमे गैर हूँ। क्या है वह ? क्या यही बात है कि पति-पत्नी सम्बन्ध के कारण उनमें एक गहरी आत्मीयता है जिसको गहरी ही रहना चाहिए, क्योकि वह आत्मीयता है, और जिसे उघाडकर देखना चाहना पाप है ? पर वह आत्मीयता तो प्यार की होती है, और प्यार मे आनन्द मिलता है—क्या शशि सुखी है ? नही, मुझे तो नही लगता कि शशि के और मेरे—शशि और रामेश्वर के और मेरे—बीच मे जो अनविच्छेद्य पर्दा खडा हो गया है वह वही पर्दा है जिसके पीछे आनन्द भोगनेवाला व्यक्ति जा छिपता है ! आनन्द एक झिल्ली की तरह है जिसमे व्यक्ति सिमटकर बन्द हो जाता है और दूसरो से पृथक् हो जाता है, अपना जीवन दूसरो के लिए देकर भी वह दूसरो मे मिलता नही, उनसे अलग रहता है क्या यही दूरी शशि ने पाई है ?

नही। शशि मेरे जीवन से बाहर चली गई है। सुख के कारण नही, वैसे ही। हम लोग अपरिचित हो गए है। अब नया जो परिचय होगा, वह रामेश्वर की मार्फत होगा, और

रामेश्वर मे और मुझमे साम्य क्या है ? मेरे व्यसन अलग है और शील—शील तो मुझमे है ही नही शशि सुखी नही ह, पर मै यह जाननेवाला कोई नही हूँ कि उसे क्या दु ख है। मै गैर जो ठहरा—

"क्या सोच रहे हो ?"

शेखर ने सकपकाकर कहा, "कुछ नही, योही। अब चलूँगा।" वह उठ खडा हुआ। एक भीषण उत्साह उसके मनमे उमड रहा था, जिसके कारण वह वहाँ ठहरना नही चाहता था।

शशि ने कहा, "बैठो अभी—" पर फिर उसके मुख की ओर देखकर चुपचाप उठ खडी हुई। शेखर के साथ-साथ वह सीढियो के ऊपरवाले द्वार तक गई। वहाँ पहुँचकर शेखर ने कुछ रुककर उसकी ओर मुडकर कहा, "अच्छा तो अब चलता हूँ—"

सहसा शशि ने पूछा, "देख लिया मेरा घर ?"

तब एकाएक बाढ-सी मे शेखर ने देखा कि अगर कही दुराव है तो वह शशि का बनाया हुआ नही है, और अपनी कुढन की सम्पूर्ण तुच्छता का अनुभव करते हुए, निश्छल स्नेह-भरे सहज अपनेपन के साथ उसने कहा, "देख लिया, शशि, बहुत कुछ देख लिया—" और नीचे उतर गया।

पीछे प्रश्न आया, "कब आओगे ?" पर इस प्रश्नकर्त्री को वह जानता था, और इस अपनेपन के नाते समझता था कि यह प्रश्न जिज्ञासा नही है, केवल सूचना है कि वह प्रतीक्षा करेगी।

*　　　　*　　　　*
**　　　　**　　　　**

यह सब निरुद्देश्य आवेग लेकर मै कहाँ जाऊँगा, क्या करूँगा ?

'अब जल्दी-जल्दी कुछ निश्चय कर डालो न कि क्या करोगे'

मै क्या निश्चय करूँ ? आगे मैने कौन-से निश्चय किए है ? या किए है तो कौन-से निश्चय का अनुसरण सम्भव हो सका है क्या जीवन की अबाध गति ही मुझे लहर पर के उतराते हुए टीन के खाली डिब्बे की तरह इधर-उधर नही पटकती रही—कही पत्थर से टकरा गया तो 'खन्न्'! से गूँज उठा, पर वह गूँज प्राणो के विद्रोह की थोडे ही थी, वह केवल आन्तरिक शून्य की, खोखल मे भरी हुई वायु की ही थी—कभी ऊँचा उठा और कभी नीचा धँसा, वह भी अपनी अन्त शक्ति के सहारे नही, बहती लहर मे प्रवहमान प्रेरण के कारण शक्ति के नाम पर मेरे पास क्या रहा है ? एक आन्तरिक खोखलापन, जिसके कारण मै तैरता गया हूँ, डूबा नही! क्या इसी सम्बल के सहारे जीवन का युद्ध लडा जाता है, क्या यही है वह पाथेय, जिससे कर्म का कँटीला पथ—

कविता, रूपक, शब्दाडम्बर !

किन्तु इस दिशा मे सोचने से तो कुछ सिद्ध नही होता। हो सकता है कि जीवन की

लहर के प्रति अर्पित हो जाना ही सबसे बडा काम हो—पर यह मेरे स्वभाव के साथ तो नही चलता या यही सही कि अभी इतनी मार नही खाई है कि वह सिद्धि स्वीकार्य जान पडे—अभी सघर्ष बाकी है जिसमे मैं अपने को प्रेरक मानता रहूँ—चाहे भ्रमवश अहकार तो अहकार ही सही, पर जब तक अहकार अघा न जाय तब तक निष्काम आएगा कैसे, या सच्चा वह कैसे होगा ?

'अबकी बार आओगे तो पूछूंगी कि क्या निश्चय किया है—'

सडको पर भटकते हुए शेखर ने आकाश की ओर देखा। शहर की जिस धूल ने उड-उडकर सडक की बत्तियो की ज्योति फीकी कर दी थी, वह आकाश मे भी छाई हुई थी। शेखर ने सोचा कि जेल के तारे शहर के तारो की अपेक्षा निर्मलतर होते हैं—और मन-ही-मन मुस्करा दिया। फिर उसे बाबा मदनसिह की याद आई, और निश्चयवाला प्रश्न फिर सामने आ गया .

क्या करूँ मैं ?

'अपने भीतर जो सत्य तुमने पाया है, वह दूसरो को दे सकते हो ?'

शेखर को जान पडा कि यह बाबा का ही स्वर है। वह विस्मित नही हुआ, क्योकि उसके विचारो पर बाबा की जो गहरी छाप पडी हुई थी, उसे वह जानता था। वह मानो बाबा के इस कल्पित स्वर से ही बातचीत करने लगा।

'तो क्या यह जीवन का उद्देश्य हो सकता है ? पर मैंने सत्य कहाँ पाया है—मैंने तो सन्देह ही सन्देह पाए है।'

'वही सही। कोई भूतपूर्व सत्य सब असन्दिग्ध नही रहा है, यह भी एक नकारात्मक सत्य है।'

'पर नकारात्मक सत्य के सहारे—'

'शेखर, अपने भीतर कुरेदकर देखो। क्या कोई धनात्मक राशि, कोई विश्वास वहाँ नही है, केवल ऋण ही ऋण है ?'

'विश्वास "दर्द से भी बडा विश्वास" शायद हो। अपने मे विश्वास—यानी अहकार। क्या वह उद्देश्य हो ?'

'क्या तुम्हे कुछ भी नही दीखता जो तुम कर सकते हो—अपने लिए नही, अपने से बडी किसी इकाई के लिए—अर्थात् कोई भी काम, जो तुम्हारा नाता तुमसे बडी किसी चीज से जोडे ?'

'जब अहकार है, तब मुझसे बडा क्या ! मै ही तो बडी चीज हुआ न !—'

'टालो मत—तुम जानते हो कि तुम बच रहे हो, जानते हो कि अपने से बडी वस्तु की झाँकी तुमने पाई है—सभी पाते है—'

शेखर ने एक बार फिर आकाश की ओर देखा। वातावरण वैसा ही धूल-भरा था, पर आकाश का रग कुछ और गहरा हो गया था, इसलिए तारे कुछ कम धूमिल दीख रहे थे।

एक तारे के टिमटिमाने मे शेखर को ऐसा भी लगा कि वह दो-तीन रगो मे चमकता है और रग कुछ पहचाने भी जाते है, नीला, लाल, श्वेत

उसे याद आया कि रात किसी के यहाँ काटनी है तो अब उस किसी को अपनी आसन्नता की सूचना देनी चाहिए। वह होस्टल की ओर चला जहाँ कम-से-कम एक लड़का ऐसा था जिसके यहाँ वह जा सके

* * *
** ** **

शेखर जब दुबारा शशि से मिला, तब रामेश्वर घर नही था। कुछ तो इसलिए, और कुछ इसलिए कि शेखर ने अपने भावी कार्यक्रम की कुछ रूपरेखा बना भी ली थी, वह शशि के सामने अधिक सुस्थ रूप मे आ सका और बातचीत कर सका। काग्रेस के और जेल के अनुभव, बाबा मदनसिह के सस्मरण, उनके कुछ सूत्र और उनकी भव्य मृत्यु, रामजी और मोहसिन की बात, घटना के रूप मे जितनी बाते बताई जा सकती थी सब उसने सक्षेप मे बता दी। शशि मुग्धभाव से सुनती रही। पर जब शेखर पूरी बात कह चुका और कुछ यह भाव भी उसमे आ चला कि वह बहुत देर तक लगातार बोलता रहा है, तब शशि ने एकाएक ऐसे पूछा जैसे बहुत देर से वह यही प्रश्न पूछना चाह रही थी —"और तुम ?"

शेखर ने अचकचाकर कहा, "क्या ?"

"यह तो सब बाहर की घटना है। तुमने अपनी बात तो कुछ कही नही। मै वह भी सुनना चाहती हूँ।"

"अरे, मै " शेखर सकुचा गया। शशि से कैसे उस अन्तरग जीवन की बात कहे, जिसमे शशि की ही देन इतनी बडी थी ?

"नही, मै जरूर सुनूँगी। आज चाहे न सही, पर छोड़ूँगी थोडे ही। तुम बनो अपरिचित तो बनो, मै तो नही बनती, न मुझे तुमसे डर लगता है।"

शेखर चौका, फिर लज्जित होकर सिर झुकाए रह गया।

"अच्छा, कुछ निश्चय किया है, क्या करोगे ?"

"हाँ।"

शशि प्रतीक्षा मे चुप रही, पर शेखर को न बोलते देख उसने पूछा, "क्या ?"

शेखर को लगा कि जो वह कहना चाहता है वह तभी कह सकेगा जब साथ ही उसका उपहास भी करता जाय, नही तो बात बडी बडबोली लगेगी हँसते हुए बोला, "कुछ करूँगा जिसे क्रान्ति कहते है। सब चीज़ उलट-पलटकर रखूँगा, कुछ टूट-फूट जायगी तो कहूँगा कि पुरानी सडी हुई थी।"

शशि जान-बूझकर और गभीर बनती हुई बोली, "हूँ। और ?"

"और क्या ? बाबा कहते थे, तोडना ही धर्म है, बनता तो अपने आप है। यानी अगर

मेरा एक दाँत टूट जाय—टूट क्यो जाय, तुम तोड डालो—तो डेटिस्ट अपने अ
प्रकट हो जायगा। यह विज्ञान का नियम है—कि प्रकृति को सूना मसूढा अच
नही लगता।"

शशि ने उसी आरोपित गभीरता के साथ पूछा, "यह तो हुआ उद्देश्य। इसके लि
करोगे क्या ?"

"करूँगा क्या ? हथौडा तो पास होगा नही, और ककड मारने से दाँत टूटेगा न
इसलिए हर किसी के दाँत मे रस्सी बाँधकर एक-एक पत्थर उसके नीचे लटकाऊँगा—
दाँत अपने-आप खिच आएँ। काश्मीर मे मैने एक बुढिया को दाँत से पत्थर लटकाए
देखा था—उसका दाँत दुखता था।"

शशि थोडा-थोडा झल्ला रही है, यह देखकर कुछ और हँसकर शेखर ने कहा, "मतल
यह कि मै लिखूंगा। दाँतो मे पत्थर नही, अपनी पुस्तको के थद्दे बाँधकर लटकाऊँग
आखिर कभी तो इतना बोझा होगा कि—"

अब जाके शशि थोडा-सा मुस्कराई। बोली, "तो तुम साहित्यकार बनोगे ? अच्छा।
एकाएक उसकी आँखो मे एक दीप्ति जागी। "और तुम्हारा लिखना एक उद्देश्य के लि
होगा—विनाश के लिए और पुर्ननिर्माण के लिए।" फिर उसने कुछ शान्त होकर कह
"लेकिन शेखर, ऐसा लिखा हुआ सब अच्छा नही होता, सब साहित्य नही होता। व
साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का ?"

शेखर ने अनुभव किया कि अपनी बात को उपहास की आड मे कहने की आवश्यकत
नही थी। वह एकाएक गम्भीर होकर कहने लगा, "मोह तो मै किसी का नही करूँगा
मोह ही तो वह दाँत है जो उखाडना है। पर इसके लिए तो कोई तरकीब निकालनी ह
होगी—मै जो कुछ लिखता हूँ, बहुत उबलकर लिखता हूँ, पर पीछे मुझे लगता है कि व
अच्छा नही है। बल्कि कभी यह भी लगता है कि उद्देश्य भी उसमे नही है, क्योकि व
उबाल ही उबाल है, और उद्देश्य के लिए तो नक्शा बनाकर सयम से चलना चाहिए।"

दोनो चुप हो गए। एकाएक शशि ने उठकर कहा, "चाय बनानी है मुझे—"

शेखर ने बिदा ली और चला आया।

शेखर ने ग्वालमण्डी के पास एक चौमजिले मकान की सबसे ऊपर की मजिल मे बारह रुपए महीने भाडे पर डेढ कमरा लिया। बडा कमरा मकान के एक कोने पर था, आधे हिस्से में सीढियो के लिए जगह घिर जाने के कारण कमरे का आकार चौरस न होकर कोण का हो गया था। कोण की बडी भुजा पूरब-पच्छिम थी, इसमें शेखर ने बैठक बनाई। दूसरी भुजा उत्तर-दक्खिन थी, इसमे उसने चारपाई रखी। इसके साथ ही एक छोटी-सी कोठरी थी, और कोठरी के बाहर सीढियो से सटा हुआ छोटा-सा आँगन जिसमे एक ओर पानी का नल था और दूसरी ओर किसी पहले किरायेदार के चूल्हे की बची हुई लिपाई। पहले दिन तो शेखर को यह सोचकर आनन्द आया कि एक कमरे से वह दो कमरो का काम

निकाल सकता है, दूसरे दिन उसे विस्मय होने लगा कि इस इतनी जगह मे जो लोग गिरस्ती और वच्चे-कच्चे लेकर रहते होगे वे कैसे रहते होगे, तीन दिन वाद उसने सोच लिया कि घर के वारे मे ज्यादा सोचना भले लोगो का काम नही है । और फिर इस 'घर' का क्षेत्रफल उस कोठरी से लगभग दुगुना है जिसमे बाबा मदनसिंह ने अठारह साल तक वल्कि, यहाँ तो पतरा कमरे मे रखना आवश्यक नही है, इसकी व्यवस्था नीचे अलग है

नौकर है नही, खाना होटल से आ जायगा (बिल का प्रश्न उठेगा, पर वह बाद का प्रश्न है।) अत काम बहुत न था और फुर्सत पर्याप्त।

शेखर अपने बडे—अर्थात् एकमात्र—कमरे मे टहल रहा था। सोच रहा था कि इसी कमरे मे उसे वह साहित्य उत्पन्न करना है जो क्रान्ति को प्रेरणा देगा एकाएक उसे ध्यान हुआ कि यह पहला अवसर है कि वह अपना अलग मकान लेकर अपने भरोसे अकेला खडा हुआ है—कि एक परिवार का या समुदाय का छोटा-सा अग न होकर वह परिवार का मुखिया है—मुखिया ही क्यो, समूचा परिवार, क्योकि और आगे-पीछे कौन है! जिस समाज को उसे वदलना है, उसी की वह एक स्वतन्त्र इकाई है यह विचार कोई असाधारण नही था, पर इसमे शेखर का समचा आग्रह समाज पर नही, स्वतन्त्र इकाई पर था, इसलिए उसे यह नया मालूम हुआ। स्वतन्त्र होना, इकाई होना, अपने-आपको एक खण्ड, एक टुकडा, अस्तित्व का एक अल्पाश न देखकर समूचा देखना—चाहे एक अकेला कण, किन्तु सम्पूर्ण, जिसका एक स्पष्ट वास्तविक रूप है, एक छोटे-से अस्तित्व का पृथक् तेजपुञ्ज अभी उसने कुछ किया नही था, पर इस विचार मे उसे बल मिला, सान्त्वना मिली, थोडा-सा रस मिला जिसके सहारे वहाँ अपनी अवस्था का उज्ज्वल पक्ष देखने लगा

उसे याद आया, कभी कही एक लेख उसने पढा था जिसमे मकान की उपल्ली मजिल मे रहने के लाभ वताए गए थे। क्या-क्या लाभ गिनाए गए थे वह भूल गया था, पर अपने-आप भी तो सोचा जा सकता है! स्वच्छ वायु, एकान्त, नगर के कोलाहल से दूरी, जन-समाज के प्रति एक तटस्थता का भाव वचपन मे वह सोचा करता था कि जो लोग पहाड पर रहते है वे ईश्वर के कुछ निकटतर होते होगे शेखर मन-ही-मन हँसा, फिर सोचने लगा कि इस ऊँचे जीवन-स्तर पर पहुँचकर वह क्या लिखे जो दातव्य हो

साहित्य—वह साहित्य जो क्रान्ति की प्रेरणा दे और क्रान्ति? एकपक्षीय नही, सर्वतोमुखी क्रान्ति! जो क्रान्ति एक दिशा मे तभी वढती है जव दूसरे मार्ग वन्द कर ले, वह क्रान्ति नही है। हम जो इतनी हलचल के वाद भी आगे नही वढ पाते उसका यही कारण है कि हम प्रगति को कृत्रिम प्रणालियो मे वहाना चाहते है। सयम आवश्यक होता है, पर यह सयम नही है। शेखर को केचुए की जाति का एक छोटा चेपदार कीडा याद आया जो एक ओर वढने के लिए दूसरी ओर सिकुडता जाता है, जव इधर का सिकुडना सीमा पर पहुँच जाता है तव दूसरी ओर प्रसरण होने लगता है। हमारे कई नेता भी तो ऐसे है, किसी ने आर्थिक

क्षेत्र चुना है, किसी ने सामाजिक, किसी ने राजनीतिक तो किसी ने धार्मिक, पर प्रत्येक ने अपनी हलचल की सतह के नीचे किसी स्तर मे अपने अस्तित्व के किसी दूसरे क्षेत्र से अपने को सकुचित कर लिया है

शायद यह सगठन का अनिवार्य दोष है ? सगठन एक ध्येय लेकर होता है, उसका एक निश्चित कार्यक्रम हो जाता है, फलत' उसको बढाने के लिए लोग दूसरी दिशाओ से हाथ खीच लेते है

पर सगठन के बिना भी क्या होता है ?

होता है। क्रान्ति का एक सगठित पक्ष है तो एक महानतर व्यक्ति-पक्ष भी है। बिना सगठन के भी—बिना सगठन के ही—व्यक्ति अकेला भी बहुमुखी वृद्धि के बीज बो सकता है और शायद जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए साहित्य का मार्ग चुनता है, वह तो कर ही यही सकता है, क्योकि वह पहले व्यक्ति है, पीछे किसी सगठन का सदस्य। उसका तो विशेष धर्म है बहुमुखी क्रान्ति के लिए भूमि जोतना और बोना, क्रान्तिबीज की सिंचाई और निराई करना

तीसरी बार जब शेखर शशि से मिला, तब उसके चेहरे पर प्रसन्नता का ऐसा भाव था कि उसे देखते ही शशि ने पूछा, "क्या कुछ लिखा डाला है ?"

"लिखा तो कुछ नही है, पर सोच-सोचकर कुछ समझ मे आने लगा है। घर मे काम तो कुछ है नही, सोच-सोचकर नक्शे बनाता हूँ, अब लिखूँगा।"

रामेश्वर भी था। बोला, "तो आप लेखक बनना चाहते है ? कालेज छोडने का ही निश्चय कर लिया ?"

"वह तो अपने आप छूट गया। दस महीने की अनुपस्थिति के बाद अब परीक्षा तो दे नही सकता, और नये सिरे से पढने बैठकर दो साल लगाने का धीरज नही है। फिर पढकर कौन नौकरी करनी है जो एम० ए० की डिगरी ज़रूरी हो।"

"नौकरी ऐसी बुरी तो नही है। मेरी तरह की सरकारी नौकरी न करिए, पर प्रोफेसरी तो बडी अच्छी चीज है। आदर भी होता है, काम भी कम होता है, छुट्टियाँ भी अच्छी मिलती है। फिर विद्या का साथ रहता है, आदमी पढता-लिखता रह सकता है ओर अच्छे विचारो का प्रचार भी कर सकता है। आपके लिए तो सबसे अच्छा काम है।"

शेखर ने कहा, "यह तो ठीक है। पर मेरी कुछ आदत ही बिगड गई है, किसी के अधीन काम करने का जी नही होता।"

"तो बात दूसरी है। आप आदर्शवादी है।" शेखर नही जान पाया कि इसमें कितना अश व्यंग्य का है। "तो आजकल आप क्या करते है ? बहुत पढते होगे ? हमें तो—शशि तो पढती है—अक्सर पढती ही रहती हैं। हँसना-खेलना तो इन्हे अच्छा नही लगता। हम तो कई काम करते-करते थक जाते है, तफरीह जरूरी मालूम होती है."

शेखर के कुछ लिखने के सब प्रयत्न व्यर्थ गए। न जाने क्यो, जब भी वह लिखने

वैठता तभी उसके सब विचार कही उड जाते, कभी उसे लगता कि वह लिखने को पेशा बना रहा है, तभी उसमे से चमत्कार की भावना नष्ट होती जा रही है। पर अभी तो उसने कुछ लिखा ही नही, लिखने से कमाने की बात दूर रही, तब पेशा कैसा ? किन्तु पेशा दृष्टि-कोण की बात है, साहित्य जब साध्य नही, एक साधन है तब

हाँ, साधन तो है, पर साधन किस चीज का ? क्या उसका ध्येय घटिया है, दूषित है ? साहित्य साहित्य के लिए है, स्वान्त सुखाय है, पर क्या ध्येय की साधना स्वान्त सुखाय नही है ? लक्ष्य एक विशेष प्रभाव नही होना चाहिए, लक्ष्य होना चाहिए केवल सौन्दर्य, क्योकि प्रभाव की खोज मे सौन्दर्य ओझल हो जायगा। पर क्यो ? सौन्दर्य देखकर ही तो इतर वस्तु को उसमे ढालने की प्रेरणा मिल सकती है ? लोक-कल्याण की भावना से अलग सौन्दर्य क्या हो भी सकता है ? एकाएक उसे शशि का प्रश्न याद आया, 'साहित्य का मोह करोगे कि उद्देश्य का ?' मोह वह किसी का नही करेगा, क्योकि जब तक दृष्टि उद्देश्य को विमल और निष्कम्प एकाग्रता से देखती रहेगी, तब तक एक निष्कलुष सौन्दर्य को ही देखेगी, जब निष्ठा नही रहेगी तब यह भी कहाँ कहा जा सकेगा कि उद्देश्य स्पष्ट है ?

पर विचार से नही चलेगा। रचना चाहिए। वह ठीक सोचता है कि गलत, इसकी कसौटी तो वही हो सकता है जो वह लिखेगा। और लिखा उससे कुछ जाता नही क्यो नही वह अपने विचार ही लिख पाता ?

दोपहर की धूप उसके कमरे के अधिकाश मे भर रही थी, केवल एक कोठरी के पास का कोना उससे बचा था। वही बैठकर, अपने पैर धूप की ओर फैलाकर शेखर बैठ गया और सोचने लगा कि वह क्या लिखे।

धूप अभी उसके पैरो से हटी नही थी कि नीचे से एक लडके ने आकर पूछा, "देखिए, यह चिट्ठी आपकी है ?" और एक लिफाफा उसे दे गया।

शेखर ने 'हाँ' कहकर चिट्ठी ले ली, और विस्मित होकर उसके पते की लिखावट देखने लगा मौसी विद्यावती की चिट्ठी थी। उन्होने लिखा था कि शशि ने उन्हे लिखा है कि वह अलग मकान लेकर रहने लगा है और साहित्य-सेवा करना चाहता है, इसलिए वे शशि की किताबो मे से अच्छी-अच्छी छाँटकर उसे भेज दे। उन्होने किताबे एक पेटी मे भरकर भेजी है, जिसकी बिल्टी चिट्ठी के साथ है और जेल से आने की बहुत बधाई, और सगुन के दस रुपये और थोडी-सी मिठाई भी उन्होने पेटी मे रख दी है और आशा की है कि वह रुपए भेजने पर बुरा नही मानेगा। बहुत-बहुत आशीर्वाद, और वह कभी छुट्टी पाए तो उन्हे मिलने जरूर जाए मौसी विद्यावती।

बहुत देर बाद जब शेखर उठा तो धूप कभी की लुप्त हो गई थी। साँझ के रगीन प्रकाश मे कमरा कुछ बडा-बडा लगने लगा था। किन्तु स्निग्ध आनन्द की एक अद्भुत दीप्ति उस पर छा गई थी—क्योकि उसने एक लम्बी कविता और एक छोटी-सी कहानी लिख डाली थी

वह चाहता था, उसी समय दौडा जाकर शशि को कहे कि देखो, मैंने कुछ लिखा है

सहसा उसने सोचा, अगर वह बिना बताए मौसी को लिख सकती है, तो मैं भी बिना बताए—कविता और कहानी डाक मे उसे भेजूंगा। यही निश्चय करके उसने हस्तलिपि कमरे की सूनी आलमारी मे रख दी। तब उसे याद आया कि उसकी अपनी पुस्तके भी तो थी जो होस्टल मे रह गई थी, वे भी वह होस्टल के कमरे के भूतपूर्व साथी से ले आएगा और वही रखेगा, अध्ययन भी जारी रखेगा

*
**   *
**   *
**

जब खोज करके उस साथी का कमरा पाकर और उससे यह जानकर कि कई एक पुस्तके तो 'लोग' ले गए और चित्रो के सग्रह चोरी हो गए और इत्यादि, शेखर अपनी बची-खुची पुस्तको का गट्ठर लेकर लौटा—आधी से अधिक पुस्तके चली जाने पर भी शेषाश काफी था और उसमे भी पाठ्य पुस्तके उतनी नही जितने दूसरे और अब शेखर की विशेष रुचि के ग्रन्थ थे—तब रात हो गई थी। शेखर ने उस समय उन्हे वैसे ही रख दिया। प्रात काल उसने आलमारी की सफाई करके उसमे कागज बिछाए, और सब पुस्तके सजाकर रख दी। फिर वह जाकर शशि की पुस्तको का पार्सल भी ले आया, और उसकी पुस्तके भी थोडी देर मे सफाई से रखी गई। आलमारी मे पाँच खाने थे—ऊपरवाले चार, जिनके आगे किवाड मे काँच लगे थे, पुस्तको से भर गए; निचले मे एक ओर शेखर ने कापियो का ढेर रख दिया और दूसरी ओर मौसी की भेजी हुई मिठाई। तब आलमारी के किवाड बन्द करके वह कुछ दूर पर होकर अपने परिश्रम का फल देखने लगा।

उस एक आलमारी भर पुस्तको को देखकर उसे रोमाच हो आया। कितना सुन्दर हो गया था उसका कमरा उन पुस्तको से—जिनमे आधी उसने एक-एक करके जुटाई थी, और बाकी शशि ने! शेखर जानता था कि शशि ने भी अधिकाश पुस्तके प्रतिमास मिलनेवाले थोडे-से रुपयो से ही कई बरसो तक खरीदकर जुटाई थी, वैसे ही, जैसे उसने अपने मासिक खर्च मे से किसी तरह बचाकर (या अपने आप-बच जाने पर) जोडे हुए धन से। उसे लगा कि उस आलमारी के दो खानो में से शशि की अनुग्रह-भरी सौम्य और वत्सल आँखे उसके कमरे को देख रही है, और उस दृष्टि से कमरे का वातावरण आर्द्र हो गया है। एकाएक कृतज्ञता से उसका मन उमड आया, और उसका हृदय यह भी चाह उठा कि वह उस कृतज्ञता को शशि पर प्रकट भी कर सके पर उसी समय जाने से उसने अपने को रोक लिया। उसने सोचा कि तीसरे पहर ही जायगा, जब शशि को काम से छुट्टी होगी, और रामेश्वर भी फुर्सत से होगा (उस दिन रामेश्वर की आधी छुट्टी थी)। और एक बात महत्त्व की यह भी थी—तब तक शशि वह पत्र पा चुकी होगी जो उसने रात डाक मे छोडा था, उसकी कहानी और कविता पढ चुकी होगी

रामेश्वर एक कुर्सी पर बैठा दूसरी पर टाँगे फैलाए सिगरेट पी रहा था। शशि नीचे

चटाई पर बैठी कुछ सिलाई कर रही थी। शेखर के आने पर उसने सिलाई घुटने पर रखकर सिर उठाकर एक स्थिर और मृदु दृष्टि से उधर देखा, फिर गर्दन जरा सीधी करके पुन सिलाई मे लग गई। रामेश्वर ने ऊँचे स्वर मे कहा, "आइए-आइए, आप अच्छे आए!" और धुएँ के बादल के बीच मे से मुस्करा दिया। "कहिए, क्या लिखा जा रहा है आजकल ?"

"कुछ नही, आजकल तो कुछ लिखने को मन ही नही होता।" शेखर ने कहते-कहते शशि की ओर देखा, कि वह कुछ कहती है या हँसती है कि नही, क्योकि शेखर की कविता-कहानी तो उसी दिन उसे मिली होगी। पर शशि पूर्ववत सिलाई करती रही।

"लिखनेवालो को यही तो आनन्द है। लिखा, लिखा, न लिखा, महीनो न लिखा। फिर जहाँ लिखना रोटी के लिए जरूरी न हो, वहाँ तो कहना क्या। हमे तो दिन-भर मे दर्जनो फाइले भुगताए बिना चारा नही—वहाँ एक दिन ढील करे तो उतनी फाइले लादकर घर लानी पड़े—हमे तो जो करना पडता है दिन-के-दिन करना ही पडता है!"

अबकी बार सन्देह के लिए गुंजाइश नही थी—रामेश्वर की बात का व्यग्य स्पष्ट था कि निठल्ले बैठ रहने के लिए लेखक होने का बहाना अच्छा है! शेखर ने उत्तर नही दिया। शशि की ओर उन्मुख होकर बोला, "मौसी ने मुझे पेटी भर पुस्तके भेजी है।"

"हूँ।"

"उनकी चिट्ठी भी आई थी, जेल से आने की बधाई और सगुन भेजा है।"

शशि थोडा-सा मुस्कराई। माँ की यह बात उसे अच्छी लगी है, यह बात उसके चेहरे पर स्पष्ट थी।

रामेश्वर ने पूछा, "कैसी किताबे ?"

"शशि की पुस्तके वहाँ पडी थी, वही।"

रामेश्वर ने सयत जिज्ञासा के स्वर मे पूछा, "तुमने लिखा था भेजने को ?"

"जी।"

"ओ—अच्छा।" फिर शेखर की ओर, "तो आप बहुत पढते है? हाँ, और दिन भी कैसे कटता होगा। पुस्तके भी बढिया होगी—आपकी बहिन तो बडे परिष्कृत टेस्ट की हैं!"

फिर वही अस्पष्ट कुछ की झलक—क्या इस युक्ति के पीछे कुछ और बात है? पर बात कही तो बिल्कुल सहज भाव से गई है।

शेखर ने कहा, "मेरी अपनी बहुत-सी पुस्तके पडी थी, वह भी ले आया हूँ। अब फिर नियम से पढने का विचार है।"

"ज़रूर, ज़रूर।"

नीचे किसी ने किवाड खटखटाया। साथ ही आवाज आई—"डाक है सा'ब!"

शेखर सीढियो के सबसे निकट था। रामेश्वर के उठने से पहले उठकर उसने डाकिए के हाथ से डाक पकड ली। एकाएक वह चौका। दो पत्र थे, जिनमे एक उसी का भेजा हुआ था!

वह क्षण-भर असमजस मे पड़ गया। फिर उसने दोनो पत्र रामेश्वर को दे दिए, और जल्दी से बोला, "अच्छा, मुझे आज्ञा दीजिए, मुझे कुछ काम है—"

रामेश्वर पत्र खोलने को था, रुककर बोला, "इतनी जल्दी ? अभी बैठिए न, थोडी देर मे चाय-वाय पीकर—"

"जी नही, फिर आऊँगा—" कहकर शेखर चल ही पडा। पीछे उसने सुना, "लो, यह पत्र तुम्हारा है।"—"मेरा ?"—"हाँ, किसका है ?" वही सयत जिज्ञासा का स्वर, मानो जताना चाहता है कि मै अधिकार से नही पूछता, यो ही पूछता हूँ—"अक्षर तो भइया के लगते है—" शशि का हल्का-सा विस्मय—

शेखर मन-ही-मन हँसता हुआ नीचे पहुँच गया। शशि देखेगी कि पत्र मे है क्या, तो अचम्भे में आ जायगी .

घर पहुँचकर शेखर ने अपनी पुरानी कापियाँ उलट-पुलटकर देखनी आरम्भ की। जिन दिनो वह मणिका के यहाँ आता-जाता था, उन दिनो के लिखे हुए कागज़ो के पुलिन्दे खोल-खोलकर वह पढने लगा। आज उसका जी प्रसन्न था, और वह प्रसन्नता मानो उसके पुराने सोचे हुए अव्यवस्थित विचारो को एक लडी मे पिरोती जा रही थी अस्पष्ट, किन्तु क्रमश· स्पष्टतर होते हुए रूप मे वह देख रहा था कि पिछले दो-अढाई वर्षो मे उसने जो कुछ देखा-सोचा है, उस सबके निष्कर्ष-रूप कुछ धारणाएँ उसकी बन गई है जो अपने समाज के बारे में उसके विचारो की आधारशिला है, इन्ही धारणाओ के सहारे वह समाज की वर्त-मान रूढि के विरुद्ध एक अभियोग खडा करता है और माँग करवा सकता है कि समाज को बदला जाय वह देख रहा था कि इस पुलिन्दे के कागजो मे ही वह प्रबन्ध बिखरा पडा है जो गठा जाकर एक पुस्तक बनेगा, शेखर की परिकल्पित नव-निर्माण का 'बाल-बोध' . पुस्तक का नाम भी उसने सोच लिया था—'हमारा समाज" क्योकि केवल समाज कहने से समाज की अमूर्त भावना ही सामने आएगी, और 'रूढिग्रस्त' या ऐसा कोई विशेषण लगा देने से यह स्पष्ट नही रहेगा कि हमारा आज का समाज ही पुस्तक का विषय है.

नही, लिखना उसका पेशा नही है, उसकी साधना है, क्योकि उसके पास कुछ कहने को है और उत्कण्ठा भी उसमे है—उत्कण्ठा भी, और साहस भी

पाँच-छ दिन तक लिखते रहने के बाद, जब पुस्तक का ढाँचा काफी स्पष्ट हो गया और आरम्भ के कुछ अश अपने अन्तिम रूप मे भी आ गए, तब शेखर को एकाएक याद आया कि उस दिन तो वह शशि को अपनी कृतज्ञता जताने गया था ! वह भी उसने नही किया, और यह भी नही जाना कि कविता और कहानी शशि को कैसी लगी ! और असल बात तो यह थी कि वह शशि को वहाँ लाकर दिखाना चाहता था कि उसके आडे-तिरछे कमरे मे वह पुस्तको-भरी (और कापियो-भरी भी !) अलमारी कैसी सुन्दर और भरी-भरी लगती है—

क्योकि यही तो कृतज्ञता-ज्ञापन का श्रेष्ठ तरीका हैं, नही तो क्या वह मुँह फाडकर यह कहेगा कि 'शशि, मै तुम्हारा कृतज्ञ हूँ कि तुमने पुस्तके भिजवाई', और शशि आँखे आधी मीचकर और भँवे ऊँची करके उत्तर देगी, 'अरे यह भी कोई उल्लेख करने की वात है ?' नही, वे सव सभ्य ढग उसके वस के नही है।

अपनी अधरी पुस्तक की रूप-रेखा के पन्ने लेकर शशि के घर रामेश्वर और शशि को निमत्रण देने गया। निश्चय करने के वाद उसे क्षण-भर हिचकिचाहट हुई कि वह रामेश्वर की क्या खातिर करेगा, फिर उसे याद आया कि मौसी के भेजे हुए सगुन के रुपए तो अभी अलमारी मे पडे ही है, मिठाई समाप्त-प्राय है तो क्या, वह एक टी-सेट और अँगीठी और कोयले आदि ले आएगा जो वाद मे भी काम आएँगे—क्योकि अव तो सर्दी भी काफी हो चली हैं

रामेश्वर घर पर नही था। शेखर के हाथ मे कागजो का पुलिन्दा देखकर शशि ने पूछा, "यह क्या लाए ?"

शेखर ने उत्साह से कहा, "मेरी पुस्तक की रूप-रेखा है, देखोगी ?"

"हाँ, दो—"

पर शशि ने कविता और कहानी का तो कोई जिक्र ही नही किया। क्या वे उसे अच्छी नही लगी ? तो उसे यही कहना चाहिए था, चुप क्यो रही ? उसने मान से कहा, "क्यो दूं, तुम्हे कोई दिलचस्पी भी है ?"

"क्यो ? तुम्हे क्या पता है ?"

"मेरी कहानी-कविता तो पढी नही—"

एकाएक शशि का चेहरा गम्भीर हो गया। उसने शान्त स्वर मे पूछा, "डाक से क्यो भेजी थी ?"

"तुमने मौसी को लिखा था तो मुझे क्यो नही बताया था ? मैने सोचा, मै भी तुम्हे सर्प्राइज—" एकाएक शेखर को वोध हुआ, शशि का चेहरा गम्भीर नही, अप्रतिभ है, और उसका स्वर शान्त नही, मुर्झाया हुआ था। उसने हडवडाकर पूछा, "क्यो शशि, क्या वात है ?"

"कुछ नही। मुझे क्या सर्प्राइज—मुझे तो तुम स्वय दिखला जाते—"

"नही शशि, कुछ वात है—वताओ तुरत !" शेखर ने आशकित आग्रह से कहा।

"कुछ नही। तुम्हारे पीछे उन्होने पूछा, "चिट्ठी किसकी है ?" मैने वता दिया, तो अचम्भे मे वोले, "अभी तो आए थ, चिट्ठी क्यो ?" मैने वताया कि कहानी और कविता भेजी है। वोले, "अच्छा, तव तो हम भी पढे—" मैने उन्हे सव कुछ दे दिया, पर उनके वे पन्ने-उलटने-पुलटने से मैने जाना कि उनकी रुचि कविता-कहानी मे नही है। फिर उन्होने कहा, 'भई, हम कविता-अविता क्या जाने, यह तो कलाकार लोग ही समझे—' और कागज़ मुझे लौटा दिए। वहुत देर वाद फिर वोले, 'तो ऐसे मकपकाकर भागने की क्या जरूरत

थी ?' पहले तो मैं समझी ही नही कि किस बारे मे बात हो रही है, फिर मुझे याद आया। मेरा कुछ उत्तर देने को मन नही किया।"

शेखर सुन्न बैठा रहा। काफी देर बाद उसने कहा, "मैं समझा दूँ उन्हे ?"

"नही, उससे उलटा असर पडेगा। जाने दो जो हो गई बात। अब क्या लिख रहे हो ?"

शेखर ने विषय बदलने के इस प्रकट प्रयत्न को चुपचाप स्वीकार कर लिया। बोला, "पहले लिखी हुई कई चीजो को जोड-तोडकर एक निबन्ध बना रहा हूँ—अपने समाज की आलोचना।" पर वह पहले-सा उत्साह उसके स्वर मे नही था।

"हमारा समाज! कितना लिख डाला है? और शीर्षक क्या रखा है?"

"यही तो—'हमारा समाज।' जल्दी ही पूरा कर डालूँगा।" इतने मे रामेश्वर आ गया।

"कहिए, अबकी कई दिन बाद आए ?"

"हाँ, यो ही, कुछ काम करता रहा।"

"यह क्या लाए है, कुछ और लिखा है? वह कविता और कहानी आपकी सुन्दर थी। शशि के कहने से मैंने भी पढी थी। पर अब तो बिना सिफारिश के पढूँगा—आप तो बडा सुन्दर लिखते है।"

शेखर ने मन-ही-मन इस व्यक्ति को सराहा जिसके मुँह से बात अपने-आप ठीक निकलती आती है, चाहे उसके पीछे अनुभूति हो, न हो! वह स्वय कुछ भी बोल नही सका।

"लाइए, यह तो देखे—"

शेखर का जी हुआ कि इनकार कर दे। वह अधूरी हस्तलिपि उसे अपने व्यक्तित्व का इतना अपना अश लगती थी कि उसे वह कम-से-कम रामेश्वर को नही देना चाहता था. पर यह सोचकर उसने अपने को सँभाला कि मना करने से रामेश्वर कही और उलटा अर्थ न करे, और अपनी अनिच्छा को बलपूर्वक दबाकर उसने कापी रामेश्वर को दे दी।

जब रामेश्वर उसके पन्ने अनमनी उँगलियो से इधर-उधर करने लगा, और शेखर को लगने लगा कि वे अनमनी ही नही, व्यग्य से भरी हुई भी है, तब एकाएक अपने प्रति ग्लानि उसके मन मे उमड आई। वह वहाँ से हट जाने के लिए उठ खडा हुआ। रामेश्वर के बैठने को कहने पर उसने कहा, "असल मे मुझे सामने बैठकर अपनी चीज़ पढवाते सकोच होता है"—और मन-ही-मन सोचा कि यह पहले दिन की बात की भी अप्रत्यक्ष सफाई है।

रामेश्वर ने शशि की ओर देखते हुए कहा, "वाह, सकोच कैसा? अभी तो ये छपेगी न ?" फिर एकाएक "नही तो इसे भी डाक से भेज देते—" और ठहाका मारकर हँस पडे। "पर इतनी बडी कापी डाक से भेजने पर महसूल भी तो कितना लगता—"

ऐसे मे निमत्रण वह कैसे दे? वह किसी तरह उठकर नीचे उतर गया

*　　*　　*
***　　***　　***

चार-पाँच दिन फिर शेखर घर से नही निकला। कुछ लिखने की भी प्रवृत्ति उसकी नही हुई, वह अनमना-सा खिडकी के आगे बैठा रहता, और कभी सर्दी अधिक हो जाती तो उसे बन्द करके कमरे मे टहलने लगता। एक-आध दिन उसने पढने का प्रयत्न भी किया, पर उसकी अनमनी आँखे बीच-बीच मे एकाएक अनदेखती हो जाती, फिर चौककर वह सोचता कि जब समय ही नष्ट करना है तब अपने साथ यह छल क्यो ! कभी-कभी प्रात -काल बिस्तर मे लेटे लेटे ही वह कविता के कुछ-एक पद्य पढ लेता, और आशा करता कि उनके प्रभाव से उसका दिन अच्छा बीत जायगा !

लगभग एक सप्ताह बाद तीसरे पहर शशि वहाँ आ पहुँची। पहले उसने डरते-डरते किवाड खटखटाया, किन्तु जब शेखर को देखकर आश्वस्त हो गई कि वह भूल नही कर रही है, तब उसने खिलकर कहा, "आखिर मिल ही गया ठिकाना ! नीचेवालो मे कोई तुम्हारा नाम ही नही जानता !"

शेखर ने विनोदपूर्वक कहा, "यह क्यो नही पूछा कि घर-घुसना आदमी किस कमरे मे रहता है ? सबको मेरे बारे मे यही कौतूहल है कि मै कमरे मे पडा-पडा करता क्या हूँ।"

"हाँ, तो बाहर क्यो नही निकलते ?"

शेखर ने एक बार शशि की ओर देख भर दिया।

शेखर के बिस्तर का कोना हटाकर चारपाई पर बैठती हुई शशि बोली, "तुम्हारी पुस्तक मै ले आई हूँ। मैने सारी पढ ली है—जितनी तुम दे गए थे—और यही कहने आई हूँ कि इसे जल्दी पूरा कर डालो।"

"मुझसे तो और कुछ लिखा नही गया।"

"क्यो ? इतने दिन क्या किया ?"

"कुछ नही । जी नही लगता । सोचता हूँ कि यह सब लिख-लिखाकर होगा क्या !"

चिन्तित तीव्रता से, "हूँ।"

"हाँ, और क्या। लिख चुकूँगा तो छपेगा नही। छप जायगा तो लोग बेवकूफ बनाएँगे। बेवकूफ बनने मे भी सन्तोष हो सकता है—पर किसके लिए ?"

"शेखर, क्या उद्देश्य के लिए कुछ क्लेश भोगने मे तृप्ति नही मिलती ? मै तो समझती हूँ कि बहुत बडी तृप्ति है। नही तो मै—"

"मिलती है। पर—पता नही क्या। कभी मुझे लगता है कि उद्देश्य के रूप मे एक नाम-क्रान्ति काफी नही है। आदर्श वह है, पर तृप्ति आदर्श से ही नही मिलती शायद, आदर्श के प्रतीक से मिलती है।"

"सच ?"

"हाँ, मुझे तो यही लगता है।"

"तो तुम चाहते हो कि तुम्हारे आदर्श का कुछ प्रतीक हो, जिसके लिए उद्योग करने मे तुम्हे तृप्ति मिले ?"

शेखर ने सोचते हुए कहा, "हाँ।"

"हाँ।" शशि ने उसकी नकल करते हुए कहा, "कह दिया बच्चो की तरह 'हाँ'।" फिर कुछ रुककर, "प्रतीक कैसा, कोई वस्तु या कोई—व्यक्ति ?"

शेखर ने मानो अनसुनी कर दी। अब तक वह खिडकी पर कोहनी टेके हुए खडा था, अब वह बाहर की ओर देखने लगा।

शशि उठ खडी हुई। जिधर शेखर खडा था, उससे दूसरी ओर मुँह फेरकर बोली, "शेखर, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ?"

शेखर ने चौककर कहा, "क्या ?"

"मैंने पूछा है, क्या मेरे लिए लिख सकते हो ? मैंने नही सोचा था कि मुँह से कहना पडेगा, पर कहने मे भी हर्ज कोई नही है।"

शेखर बढकर शशि के पास जा खडा हुआ। एक क्षण के विकल्प के बाद उसने कन्धा पकडकर शशि को अपनी ओर घुमाया, शशि की आँखे उसकी ठोढी पर टिकी रही, ऊपर नही उठी। शेखर ने कन्धे से हाथ उठाया, फिर अपने स्थान पर जा खडा हुआ और बोला, "नही, शशि, मैं अनिष्ट हूँ। जो मेरे सम्पर्क मे आता है, खण्डित ही होता है। मेरे द्वारा लिखी जानेवाली किसी चीज का महत्त्व इतना नही है कि—"

शशि ने फिर कहा, "मैंने पूछा है, मेरे लिए लिख सकते हो ! और सुनो, तुम जितना अच्छा लिखोगे, उतना ही बाहर से क्लेश पाओगे। पर भीतर से तुम्हे शान्ति मिलेगी। मैं कहूँ तो यह बडी बात लगेगी, पर तुम्हारा प्रतीक उस शान्ति का ही नही, उस क्लेश का भी साझी हो सकता है।"

"शशि !"

शशि ने आँखे उठाकर भरपूर दृष्टि से उसकी ओर देखा। अबकी बार शेखर ने आँखे नीची कर ली—व्यथा के उस अभिमान के आगे उसकी आँख नही टिकी।

शशि ने कहा, "अच्छा, इससे आगे जो कुछ लिखा है वह तो मुझे दिखाओ ?"

शशि के स्वर से वातावरण बदल गया। शेखर ने कहा, "लिखा कहाँ है ? कुछ नोट है, वह चाहे तो देख लो।" अलमारी मे से कुछ कागज लाकर उसने शशि को दे दिए।

"और ये सब पुलिन्दे क्या है ?"

"ये सब यो ही है, कालेज के दिनो का लिखा हुआ —"

"वह सब भी मुझे पढना है। अब तो अपना लिखा हुआ एक-एक पुर्जा मुझे देना होगा, समझे ?"

शशि शेखर के दिए हुए कागज पढने लगी। शेखर ने पूछा, "इन पुस्तको से यह कमरा अच्छा-अच्छा नही लगता ?"

शशि पढते-पढते मुस्करा दी।

"ये सब कितावें तुम्हारी पढी हुई है ?"

शशि ने विना मुँह उठाए ही कहा, "हूँ—ठहरो मुझे यह पढ लेने दो।"

शेखर फिर खिडकी पर जा खडा हुआ। बाहर देखते-देखते फिर उसके मन मे शशि के प्रति कृतज्ञता जागने लगी—वह विना वुलाए उसके मन की इच्छा पूरी करने जो यहाँ चली आई है

"हाँ, तो, इसे कव पूरा करोगे ?" शशि सब कागज़ पढ चुकी थी।

"देखो।"

"देखो नही, पूरा करना पडेगा!" शशि हँसने लगी। फिर गम्भीर होकर वोली, "तुमने उन्हे कभी यहाँ नही वुलाया ?"

शेखर ने कुछ खिन्न स्वर मे कहा, "उस दिन वुलाने ही तो गया था।"

शशि ने कागज़ आलमारी मे रखते हुए कहा, "अच्छा मै जाती हूँ। अवकी जाओगे, तो उन्हे निमन्त्रित करना ही।" एकाएक आलमारी मे दस रुपये पडे देखकर, "यह कैसे है ?"

"सगुन है।"

"ये अभी ऐसे ही पडे है ? काम नही आए ?"

"इनका तो यहाँ पडे रहना ही काम है।" शेखर हँसने लगा।

"खाते क्या हो ?"

"क्यो ? होटल से खाना आता है, कोई मज़ाक है ?"

"होटल का खाना!" शशि ने खोए-से स्वर मे कहा। फिर प्रकृतस्थ होकर पूछा, "होटल का नाम भी तो सुनूँ जरा ?"

शेखर ने कुछ अकडकर, आँखे चढाकर, प्रत्येक अक्षर को स्वरित करते हुए कहा, "चित्तपूरनी देवी प्रेम शुद्ध पवित्तर भोजनालिया'—नाम से ही पेट भर जाता है!" और हँसने लगा।

शशि ने कृत्रिम रोष से त्योरियाँ सकुचित करके कहा, "मेरे सामने मत ऐसे हँसा करो! अच्छा, मै जाती हूँ।"

वह सीढियाँ उतरने लगी। "चलो नीचे तक पहुँचा आऊँ"—कहकर शेखर भी पीछे पीछे उतरने लगा।

*   *   *
**   **   **

शशि और रामेश्वर दो-एक वार शेखर के घर हो गए। वैठक के साथवाली कोठरी की आलमारी मे एक चाय का सेट और कुछ और वर्त्तन, छुरी-चाकू, दो-एक डिव्वे, एक वोतल मधु, एक पैकट विस्कुट का, एक दियासलाई का—यह सब सामान पहुँच गया। वदले मे दूसरी आलमारी से सगुन के रुपये गायव हो गए। शेखर ने विशेष कुछ लिखा नही, उसकी आलमारी मे कागज़ वढे तो केवल कुछ-एक चिट्ठियाँ—दो-एक मौसी की, एक गौरा की,

एक पिता की, जिसमे एक ओर आवारापन पर रोष था और दूसरी ओर उसके जेल हो आने पर दवा हुआ-सा अभिमान भी, और साथ ही यह सूचना कि उसकी माता बहुत वीमार है और उसे उनसे मिलने तत्काल आना चाहिए, एक छोटे भाई रविदत्त की जो उस वर्ष वी० ए० की परीक्षा दे रहा था, एक मद्रास से सदाशिव की जिसने लिखा था कि अगले वर्ष वह डाक्टर हो जायगा और पूछा था कि शेखर कहाँ है, क्या कर रहा है। शेखर के जेल जाने की वात का उसे पता लग चुका था

शेखर को उस घर मे आए एक महीना हो चला था। एकाएक उसे याद आया कि अगले मास किराया देना होगा और होटल का विल भी चुकाना होगा—और उसके पास तो कुछ है नही ! किराया तो कुछ देर वाद भी दिया जा सकता है, क्योकि हर महीने पेशगी देना जरूरी थोडे ही है, पर होटल का तो महीना पूरा हो चुका, और वहाँ देर करने से रोटी नही मिलेगी .

उसे थोडी-सी चिन्ता हुई। फिर उसने सोचा, पुस्तक तो लगभग तय्यार है, किसी प्रकाशक से उसका कुछ-न-कुछ मिल ही सकता है। न सही अधिक तत्काल का थोडा ही सही, पर कुल जमा पच्चीस रुपया महीना तो उसका खर्च है, तो एक साल का खर्च तो पुस्तक निकाल ही देगी उसे पता नही था कि पुस्तक के लिए प्रकाशक कैसे क्या देते है, पर एक पुस्तक के तीन सौ रुपए कुछ वहुत अधिक है, ऐसा उसे नही लगा।

'हमारा समाज', बिकाऊ है—तीन सौ रुपये मे हमारा समाज विकाऊ है—कोई ग्राहक ? शेखर मन-ही-मन हँसा—कौडी मोल का नही है हमारा समाज, उसके तीन सौ रुपए !

•

शेखर ने शहर के दो-तीन मुख्य प्रकाशको के यहाँ पूछताछ करने की सोची। चार दिन लगातार वैठकर उसने पुस्तक की प्रतिलिपि तय्यार कर ली, और उसे एक वडे रुमाल मे लपेटकर वाणी-निकेतन के मैनेजर से मिलने जा पहुँचा। मैनेजर से अपना अभिप्राय कहकर जव उसने हस्तलिपि उनके आगे रख दी, तव उन्होने लिपि की वजाय शेखर को ही वडे ध्यान से सिर से पैर तक देखना आरम्भ किया। थोडी देर वाद वोले, "साहव, हमारे यहाँ तो प्रतिष्ठित लेखको की ही चीज छपती है। आप जानते है, हम यहाँ के प्रमुख प्रकाशक है, हमे अपनी प्रतिष्ठा वनाए रखनी है। विलकुल नये अनजान लेखक का प्रकाशन हम कैसे जिम्मे ले सकते है।"

शेखर ने आग्रह करते हुए कहा, "पर आपको चीज की भी तो परख करनी चाहिए। क्या प्रतिष्ठा ही उसकी कसौटी है। वडे-वडे लेखक भी तो पहले अनजान ही थे।"

"जी हाँ। पर तव उनकी पुस्तके हमारे यहाँ से नही छपती थी। हमने तो उन्हे तभी माना जव उनकी रचनाओ का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया। तव हमने उनको दूसरे प्रकाशको से अच्छी टर्म्स देकर भी वुला लिया। जिनकी पुस्तके रह गई, वे रह गए।"

"पर यह तो दूसरे के पत्तल से ग्रास छीनना हुआ फिर—"

"वैसा ही समझ लीजिए। पर बुद्धिमानी इसी का नाम है कि दूसरो की भूलो से अनुभव प्राप्त करे। हम असफल होने या हो सकनेवाले की चीज़ छापते ही नही।"

सरस्वती कुज के मैनेजर ने शेखर को अपने साहित्यिक सलाहकार के पास भेज दिया। जब शहर की एक गली मे उनके घर का पता लगाकर शेखर वहाँ पहुँचा तो उन्होने शीर्षक देखकर पूछा, "क्या उपन्यास है?"

"जी नही। विवेचनात्मक निबन्ध है। मैने समाज की वर्त्तमान अवस्था का चित्रण करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि—"

"तो आपने कुछ सिद्ध करने का प्रयत्न किया है? पर साहब, पहले तो निबन्ध कोई पढ़ता नही। दूसरे ऐसा निबन्ध, जिसमे तर्क ही तर्क हो। आप साहित्यिक निबन्ध क्यो नही लिखते?"

"कैसा?"

"सैकडो विषय है। मसलन्—मसलन् 'छायावादी काव्य मे नारी की कल्पना', या 'स्त्री-कवियो का नारी-रूप-वर्णन', या 'सस्कृत और हिन्दी काव्य मे नायिका-भेद'। यह विषय तो आधुनिक भी रहेगा—आजकल तो तुलनात्मक अध्ययन का ज़माना ही है।"

शेखर ने पूछा, "ऐसे निबन्ध कोई पढता है?"

"वैसे तो नही पढता, पर ऐसे साहित्यिक निबन्ध पाठ्य-पुस्तको मे रखे जा सकते है। तब किताब निकल भी जाती है।"

शेखर क्षण भर चुप रहा। सलाहकार फिर बोले, "आपको शायद मेरी सलाह अच्छी नही लगी, मै तो आप ही के हित के लिए कहता हूँ—"

शेखर ने अनमने भाव से उत्तर दिया, "नही, आपकी सलाह के लिए आभारी हूँ। पर मुझे तो दिलचस्पी समाज और सामाजिक समस्याओ मे है—"

"अच्छा, तो वैसा विषय चुन लीजिए—'रहस्यवादी काव्य का प्रियतम पुरुष होता था या स्त्री?' इधर एक मत चल रहा है कि रहस्यवादी कवियो का प्रेम-निवेदन किसी शरीरी व्यक्ति के प्रति ही होता था—फारसी कविता के बारे मे तो यह बात मानी हुई ही है कि उसका साकी या माशूक काल्पनिक नही होता था, पर नया मत कहता है कि यह साकी या माशूक न पुरुष होता था न स्त्री, बल्कि नपुसक होता था। इस अध्ययन मे आपको मध्ययुगीन समाज के भी अध्ययन का अच्छा अवसर मिलेगा। मेरी समझ मे तो यह बडे मौके का विषय है।"

शेखर चुप हो रहा। थोडी देर बाद बोला, "तो इस पुस्तक को आप प्रकाशन के लायक नही समझते?"

"नही, नही, यह मै कब कहता हूँ। प्रकाशन के लायक तो सब कुछ है। पर प्रकाशित होता है वही जो खप सके, नही तो जोखम कौन उठाए? पर मैने तो सरस्वती-कुज-

वालो को सदा यही राय दी है कि नये प्रतिभावान् लेखको को प्रोत्साहन देना ही चाहिए—चाहे उसमे थोडा-सा जोखम भी हो ही। नही तो नया साहित्य बनेगा कैसे ? और मेरी बात वे मानते भी हैं।"

शेखर के मन मे आशा का सचार हुआ। बोला, "तो आप इसे पढ देखेंगे ? मै चाहता हूँ कि जरा जल्दी ही—"

"आप मैनेजर से मिलिए। मै उन्हे यही सलाह दूंगा कि वे आपके खर्च पर पुस्तक छाप दे, और जहाँ तक हो सके जल्दी ही। नये लेखक को मौका मिलना चाहिए—प्रकाशक का यह कर्त्तव्य है।"

शेखर फिर हताश हो गया। उसने धीरे-धीरे बस्ता लपेटा और नमस्कार करके चल पडा।

शेखर ने दूसरी कोटि के प्रकाशको के यहाँ भी चक्कर लगा डाला, फिर उसने एक विक्रेता के यहाँ से प्रकाशको की पूरी सूची ले ली और जितने बच रहे थे उन सबको एक सिरे से देखना शुरू किया।

एक सप्ताह और हो गया। अन्त मे 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' के सचालक ने उसकी पुस्तक इस शर्त पर छापना स्वीकार किया कि छपाई और कागज़ के दाम शेखर के जिम्मे रहेगे, पर उसे नकद कुछ नही देना पड़ेगा, प्रकाशक पुस्तक छपाकर और बेचकर पहले लागत वसूल कर लेगा, उसके बाद जो बिक्री होगी उसमे चौथा अश शेखर का होगा। दस दिन भटकने के बाद शेखर मे इतना धीरज नही रहा था कि बैठकर हिसाब लगाए कि इसमे उसे मिला क्या और कब तक, उसने यही बडी कृपा समझी कि प्रकाशक उससे कुछ माँग नही रहा है वह यह भी भूल गया कि वह पुस्तक बेचने इसलिए निकला था कि उसे बिल चुकाना होगा—जिसका तकाजा शुरू भी हो गया था।

उस दिन शेखर बस्ता लेकर नही निकला था। उसे आशा ही नही थी कि उसकी आवश्यकता पडेगी! अत सचालक से तीसरे दिन आने का वायदा करके—दो दिन का अवकाश उसने केवल इसलिए रखा कि प्रकाशक यह न समझे वह बहुत उतावला है!—वह घर लौट आया।

आकर वह क्लान्त शरीर और उदास मन लिए बिस्तर पर लेट गया। क्षीण-सा विचार उसके मन मे आया कि जाकर शशि को यह सूचना दे आवे, पर उत्साह नही हुआ। और अभी खबर भी क्या है ? निर्निमेष नेत्रो से वह छत की ओर देख रहा था, एकाएक उसे लगा कि छत इतने दिनो से वैसी-की-वैसी है कि देखकर ऊब आती है। उसने मुँह खिडकी की ओर फेर लिया।

न जाने पुस्तक कब छपेगी, कैसा उसका स्वागत होगा उससे कुछ आएगा ? कब ? लागत कितनी होगी ? शायद दो सौ रुपये का कागज़ लगेगा। सौ-डेढ सौ ऊपर। पुस्तक की कीमत अगर एक रुपया होगी तो . शेखर ने हिसाब लगाना छोड़ दिया। 'हमारा समाज'

—मूल्य एक रुपया। और मै उसमे लागत काटकर चौथाई का हिस्सेदार हूँ! शेखर के मुँह पर एक रूखी और म्लान हँसी की रेखा दौड गई न जाने कब वह सो गया।

जब वह जागा, तब घोर अन्धकार था। रात आधी जा चुकी थी, और ग्वालमन्डी के चौक पर भी सन्नाटा हो रहा था। शेखर का शरीर दिसम्बर के जाडे से ठिठुर गया था भूख भी उसे लग रही थी। इस महीने के आरम्भ से ही उसने होटल से एक ही समय भोजन मँगाने का तय कर लिया था, होटलवाले से उसने कह दिया था कि शाम को वह स्वय बना लिया करेगा एक दिन वह चावल-दाल और आटा ले भी आया था, और उस दिन शाम को उसने स्वय खिचडी बनाकर खाई भी थी।

क्या इस समय वह खाना बनाए? इतनी भूख तो उसे नही है। नही, भूख तो है, पर भूख को इतना महत्व देना ठीक नही है। उसने बिस्तर ठीकठाक किया और कम्बल ओढकर सोने का प्रयत्न करने लगा। पर वह इतना ठिठुर चुका था कि अब भी शरीर को गर्मी न आई। तब वह उठकर शरीर गर्म करने के लिए जल्दी जल्दी टहलने लगा।

एकाएक अपने सब प्रयासो की विफलता का भाव, जिसे उसने शशि की बात के बाद से दबा रखा था, उसके भीतर बडे वेग से उमड आया। अपने प्रयासो की ही नही, प्रयासमात्र की विफलता का जीवन के इस बुदबुदाते दलदल मे हाथ-पैर पटकने का लाभ क्या—उसमे धँसना ऐसे भी है, वैसे भी है पुस्तक लिखूंगा—पुस्तक, हुँ! जैसे आज तक किसी ने पुस्तक लिखी नही। जैसे आज तक किसी ने समाज को बदलने का उद्योग नही किया। जैसे—

शेखर और भी तेज़ चलने लगा। क्या इस होने और बीत जाने के घातक अनुक्रम से कोई छुटकारा नही है? क्या इससे बाहर नही निकला जा सकता?

उसके मानसिक उद्वेग के गर्त मे से बुलबुले की तरह उठकर एक विचार ऊपर आया—उसने अभी तक कोई ऐसी गहरी अनुभूति नही जानी है, जिसके प्रति वह अपने को पूर्णतया उत्सर्ग कर दे—एक क्षण भी ऐसा नही आया है, जब कि शेखर के मन से यह ज्ञान बिल्कुल मिट गया हो कि वह शेखर है। क्या इसमे समय का ही दोष है? उसका दोष कुछ नही है? क्या उसी ने नही सूम की तरह अपने को सहेज-सहेजकर रखा, जब कि बात करने को वह सारे ससार को उलट-पलट देने का स्वप्न देखा करता है! और तो और, उसके जीवन मे कितनी कन्याएँ आई है, उनसे भी किसी से उसकी सच्ची घनिष्ठता नही हो सकी। उसने स्वय जीने से इन्कार किया है! उससे तो मणिका की जीवन-परिपाटी कही अच्छी थी—उसमे थी वह साहसिकता जो जीवन को मिट्टी की तरह फेक सकती है! 'मेरे जीवन की मोमबत्ती दोनो ओर से जल रही है! वह रात-भर नही जलेगी, पर मेरे बन्धुओ और मेरे शत्रुओ, उसकी दीप्ति कितनी सुन्दर है!' है उसमे भी यह सामर्थ्य कि ऐसी दीप्ति से नभ को आलोकित करे? मणिका ने मार्ग ठीक नही चुना, पर असल चीज़ तो उसमे थी, जीवन की आग, जिसे देवता मानव से छिपा-छिपाकर रखते है.

उसे एक और वाक्य याद आया जो मणिका की दी हुई एक पुस्तक मे उसने पढा था—'सयम क्या है ? तीव्र वासना की अक्षमता !' फिर उसे याद आई एक पठान की कहानी,जो उसने न जाने कहाँ सुनी थी, शायद जेल मे, एक पठान को कोई मौलवी समझा रहा था कि आदमी को अफीफ (सयमी) होना चाहिए, पर यह शब्द पठान की समझ मे नही आता था। मौलवी समझाने लगा कि सयमी वह होता है जो नज़र नीची रखता है, औरतो के पीछे-पीछे नही जाता, स्त्री को—एकाएक पठान ने टोककर कहा, 'ओ, अम समज गया—अमारा ज़ोबान मे उसको खुसरा बोलता ए !'

शेखर रुक गया। उसे लगा कि उसके विचार जिस धारा मे बहे जा रहे हैं उसमे कोई दोष अवश्य है। जैसा सब विचारो मे होता है, इसमे भी सच्चाई का कुछ अश है, किन्तु पूरा सच नही है। कदापि नही है। क्योकि, उसकी परिस्थितियो ने उसे जीने की इतनी अधिक सुविधाएँ कब दी, कौन से ऐसे बडे अवसर आए जो उसने हाथ से चले जाने दिए ? कोई असाधारण बाधाएँ उसके मार्ग मे न भी आई हो, तो भी कोई औरो के जीवन भी बाधा और सुविधा के इसी तरह के घोल होते है

तब क्या इतनी ही बात है कि वह भूखा है ? क्या यहाँ सारा विद्रोह अतृप्त वासना का घटाटोप है ? क्या यह वासना बढती जाएगी और फिर एक विस्फोट होगा और बस फिस्स् ?

तब तो यह सब—हिस्टीरिया है !

उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति अन्तर्मुख हो रही है और क्रमश उसी को भस्म कर जायगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर बहिर्मुखी न कर दिया और यह होना ही चाहिए, क्योकि बहिर्मुखी शक्ति ही क्रान्ति कर सकती है, अन्तर्मुखी नही। अन्तर्मुख होकर वह एक विशेष प्रकार का कवि चाहे हो जाय, जो वह करना चाहता है, वह सब धूल हो जायगा

शेखर बिस्तर पर बैठ गया, उसने कम्बल ओढ लिया। अस्पष्ट रूप से उसने चाहा कि वह निरा लिखना नही, कुछ और भी काम करे जिससे वह लोगो के सम्पर्क मे आए, पर क्या और कैसे, वह नही सोच पाया। फिर मन-ही-मन तय करके कि शशि से सलाह लेगा, वह लेट गया।

दिन के प्रकाश के साथ ही तार आया कि शेखर की माँ का देहान्त हो गया है।

शेखर एक अजीब-सी शिथिलता का अनुभव करता हुआ उठा था। तार पढने के बाद भी जैसे वह दूर नही हुई, उसकी कुछ समझ में नही आया कि उसने अभी-अभी क्या पढा है। तार रखकर, ब्रुश और तौलिया लेकर वह नल पर गया और मुँह-हाथ धोकर भीतर आया, आकर उसने आलमारी मे से कागज निकाले, उसके बाद ही एकाएक तार के चार शब्दो का आशय बिजली की तरह उसके मन मे कौंध गया—माँ अब नही है !

उसके मन में एक विचित्र प्रकार की वेदना उठी जो दु ख से भिन्न थी। दु ख का

अनुभव उसे नही हुआ, और उसे अपने-आप पर थोडी-सी ग्लानि भी इस कारण हुई वह चाहता था कि वह एक वार रो दे—सीधे-सादे मातृहीन मानव की तरह सरल भाव से रो दे! पर उसकी आँखें मानो और भी सूख रही थी, एक जलन-सी उनमें हो रही थी।

वह शून्य भाव से कागज़ो की ओर देखता हुआ बहुत देर तक बैठा रहा। धीरे-धीरे अपने बाल्यकाल की वहुत-सी स्मृतियाँ उसके मन के आगे होती हुई जाने लगी—किन्तु उन स्मृतियो मे जैसे राग-तत्त्व बिल्कुल नही था, शेखर की रागात्मक वृत्ति जैसे मूर्च्छित हो गई थी, केवल दृष्टि काम कर रही थी। देर वाद उसने जाना कि ये चित्र घूम-फिरकर फिर एक ही विन्दु पर केन्द्रित हो जाते हैं—कि शेखर भोजन कर रहा है, और साथ के कमरे से माँ का स्वर कहता है, मुझे तो इसका भी विश्वास नही है। किन्तु चित्र के साथ भी उस असह्य रोष का कोई अवशेष नही था जो पहले इसके साथ गुँथा हुआ था क्यो? क्या उसने माँ को क्षमा कर दिया था? उसे याद नही कि कभी वह जानते-बूझते इस परिणाम पर पहुँचा हो। शायद अनजाने मे उसने समझ लिया था कि यो रोष को सहेजकर रखना मूर्खता है, या शायद अभी-अभी उसके मन ने निश्चय कर लिया था कि जो अव नही है उसके प्रति कोई बुरी भावना रखना पाप है? उसने माँ के चेहरे की कल्पना करने का उद्योग किया, प्राय वह इसमे सफल नही होता था, पर आज वह स्पष्ट ही उसे देख सका—वह चेहरा सुन्दर नही था, किन्तु आज उस पर वैसी रेखाएँ नही थी जो शेखर प्राय देखा करता था, पर जो वह जानता था हर समय नही होती—चेहरा शान्त था, और ऐसा कुछ उसमे नही था जिसका मातृत्व के साथ कोई विपर्यय हो माताओ के अपने-अपने चेहरे होते हैं, पर मातृत्व का अपना एक विशेष चेहरा है——या होना चाहिए

किन्तु शेखर रो क्यो नही सकता?

अपने से यह प्रश्न पूछते ही उसका मन फिर शून्य हो गया। थोडी देर वाद एकाएक वह उठा कि और कुछ नही तो साधारण दिन-क्रम के काम ही वह करेगा। उसने कमरे की सफाई की, वर्तन धोकर रखे, विस्तर ठीक किया। फिर एक वार उसने अपने कमरे की सूनी दीवारो की ओर देखा। किसी दीवार पर कही कोई चित्र होता—फोटो टाँगना उसे बहुत बुरा लगता है, पर इस समय अगर माँ का फोटो ही उसके पास होता तो शायद उसी को दीवार पर टाँगकर वह यत्न करता कि उस चेहरे से नया परिचय प्राप्त करे जो इतना अपरिचित हो गया था

अचानक उसे शान्ति की याद आई—उस मुद्रा मे, जिसमे वह रोज़ेटी के चित्र-सी लगती थी—'मृत्यु का विराटत्व' क्या मृत्यु विराट् ही होती है और अब माँ भी नही है—

उसे वह कविता भी याद आई, जो शान्ति ने उससे सुनी थी, पर उसमे इस समय कोई विशेष सार्थकता उसे नही दीखी, उससे उसका मन टेनिसन की ही एक दूसरी कविता की ओर गया—'गोधूलि और साँझ की घण्टाध्वनि और मेरे लिए एक स्पष्ट आह्वान, उस

समय विदाई का अवसाद न हो जब मैं लंगर उठाकर खुले समुद्र की ओर चल दूँ' कहते हैं कि यह टेनिसन की अन्तिम कविता थी, बयासी साल की आयु मे लिखी हुई ..

अपराह्न में न जाने क्यो शेखर उठकर रावी-तट की ओर चला। उसने श्मशान कभी देखा नही था, और उसे ध्यान हुआ कि मृत्यु की यथार्थता शायद एक देह का अन्तिम सस्कार देखे बिना समझ मे भी नही आ सकती।

श्मशान मे दो-तीन चिताएँ जल रही थी। उन्हे जलते समय हो गया था, चिता के भीतर देह का आकार नही पहचाना जाता था और न वहाँ कोई व्यक्ति ही थे, शेखर अकेला ही था अगर कुछ-एक कुत्तो का साथ न गिना जाय

किन्तु विराट् तत्त्व ? शेखर को लगा कि यह दृश्य लगभग उपहासास्पद है—कैसा बेहूदा अन्त ! उसका विश्वास था कि आग किसी भी एक चीज़ को एक शालीनता और भव्यता प्रदान करती है, पर यहाँ तो वह भी नही था, यहाँ के वातावरण से तो उलटे आग ही टुच्ची हो गई थी ! एक कटु भावना लेकर शेखर ने सोचा कि शायद इस टुच्चे स्थान के साथ अपने बुजुर्गों का नाता जोडकर लोग उनके विछोह को आसान बना लेते होगे .

पर लौटते समय उसे शाम हो गई। आकर उसने देखा, लालटेन मे तेल नही है। ऐसे ही मौके के लिए उसने दो-चार मोमबत्तियाँ ला रखी थी, दो एकसाथ जलाकर उसने आले मे रख दी और चारपाई पर बैठ गया।

एकाएक मोमबत्तियो की लौ बुझ-सी चली, और फिर तिड-तिड-तिड के स्वर के साथ दीप्त हो उठी। शेखर ने देखा, एक तितली से भी बडा पतंगा जो नित्य लालटेन के आस-पास चक्कर काटा करता था, मोमबत्तियो की लौ से टकराकर जल गया है।

एकाएक जीवन निरे अस्तित्व के रूप मे उसके सामने आया, अस्तित्व, जो निरी एक घटना है आज भी लालटेन होती तो पतगा चक्कर काटता रहता—एक तेल न होने की घटना से—'तिड-तिड-तिड़'—और—निर्वाण !

सवेरे के तार का आशय फिर उसके सामने दौड गया। माँ अब नही है !

शेखर उठकर आले के नीचे घुटने टेककर मानो प्रार्थना की मुद्रा मे बैठ गया, सिर आले पर टेककर एकाएक रो उठा, पहले निरश्रु, पर पिंजर को हिला देनेवाले रोदन के साथ, फिर धीरे-धीरे आर्द्र होकर

जब उसके पीछे एकाएक शशि का पीडित स्वर बोला, "शेखर ?" तब अभी उसका रोना बन्द नही हुआ था। चौककर उसने सिर उठाया, शशि ने धीरे से कहा, "तो तुम्हें सूचना मिल गई।" उसने सिर हिला दिया। फिर उँगली से आँसू झटक डाले और उठकर खडा हो गया। शशि ने पास आकर उसके कन्धो पर हाथ रखे, और कोमल दबाव से उसे नीचे दबाते हुए चारपाई पर बिठा दिया। फिर भी वह हटी नही, एक हाथ से बहुत हल्के और सान्त्वना-भरे स्पर्श से उसका कन्धा सहलाती रही।

शेखर को लगा कि ऐसे तो उसकी रोने की शर्म गल जायगी और वह फिर रो उठेगा। बोला, "मैं कुछ देर अकेला रहूँगा—"

"तो मैं अभी जाऊँ—"

"नही तुम बैठो, मैं अभी आया।" और शशि को बिना कुछ कहने का समय दिए वह बाहर निकल गया।

लगभग एक घण्टे बाद वह लौटा। शशि चारपाई के कोने पर चिन्तित बैठी थी। शेखर के आ जाने पर उसने कहा, "अब मैं लौटूं—देर हो गई है। मुझे अभी शाम को खबर मिली, तभी तुम्हें देखने चली आई। धीरज से सहना भइया मेरे! कल मैं फिर आऊँगी।"

शशि चली गई तो शेखर कुछ क्षण सीढियो की ओर ही देखता रहा फिर उसने देखा कि छोटी कोठरी में भी प्रकाश है। वह देखने गया। एक मोमबत्ती बडे कमरे से उठाकर उधर ले जाई गई थी। अचम्भे मे शेखर ने देखा, एक ढँकी हुई थाली रखी है।

शेखर की अनुपस्थिति मे शशि बेसन के पराँवठे बनाकर साथ मे थोडा-सा अचार और मधु रख गई थी—और तो घर मे था क्या!

शेखर की इच्छा कुछ खाने की नही थी। पर यह थाली देखकर उसे लगा कि निर्णय के बारे में वह स्वतन्त्र नही है।

*   *   *
**   **   **

शशि एक बार फिर आई, और दो दिन बाद रामेश्वर के साथ एक बार और। उस दिन से क्रिसमस की छुट्टियाँ शुरू हो रही थी, और रामेश्वर और शशि बाहर जा रहे थे। रामेश्वर ने अकारण ही कहा, "मै तो कहता हूँ, आप यही रह जाइए, पर ये मानती नही। मैंने तो सोचा था कि इनके यहाँ रहने से आपका भी जी बहल जायगा—दु ख मे अकेले रहने से तो और कष्ट होता है।"

शेखर ने कहा, "जी नही, कोई बात नही, मैं तो अकेले ही रहने का आदी हूँ।"

चलते समय शशि ने कहा, "तुम एक बार घर हो आते तो अच्छा था। पिताजी से मिल आना चाहिए।"

शेखर दुबिधा-सी में चुप रह गया।

सप्ताह-भर बाद पिता की चिट्ठी आई कि वे स्वय आ रहे है। हरिद्वार जायँगे, वहाँ से लौटते हुए लाहौर होते जायँगे। चौथे दिन वह आ भी गए। शेखर उन्हे स्टेशन लिवाने गया; पिता के चेहरे पर थकान, उदासी और दु ख की गहरी रेखाएँ देखकर वह स्तब्ध रह गया। इससे पहले उसने कल्पना नही की थी कि वह प्रौढ़ गरिमायुक्त चेहरा कभी बूढा भी हो जायगा, पर इस समय चेहरे पर और आँखो में वह क्लान्ति स्पष्ट थी जो काल के दुर्गम पथ पर वत्सर-रूपी कई मील चल आने के बाद धीरे-धीरे प्रकट होने लगती है।

सीढियो पर एक वार कहकर कि "कहाँ जाके मकान लिया है।" पिता उसके पीछे-पीछे उसके कमरे मे आ गए। सामान एक ओर रख-रखाकर ताँगेवाले को विदा कर दिया गया, उसके वाद पिता ने पूछा, "यही रहते हो ?"

प्रश्न अनावश्यक था, पर उसमे जो असम्मति ध्वनित होती थी, वही प्रकट करने के लिए यह वात कही गई थी। शखर ने कहा, "जी।"

"नौकर है ?"

"जी नही।"

"खाना-पीना कैसे होता है ?"

"एक वक्त होटल से आ जाता है।"

"और दूसरे वक्त ?"

शेखर चुप रहा।

पिता ने कुछ सोचते हुए-से स्वर मे कहा, "अपने-आप ही करते होगे कुछ टीप-टाप—"

प्रश्न के इस रूप मे गु जाइश थी कि उत्तर दिए विना काम चल जाय। शेखर झूठ वोलना भी नही चाहता था, और सच बताना भी नही चाहता था।

"और सफ़ाई-उफाई—वर्तन ?"

"जरा-सी तो जगह है, सफाई मे क्या देर लगती है ?"

थोडी देर के मौन के वाद पिता ने फिर कहा, "ऐसे रहकर तुम्हे शर्म नही आती ?" उनके स्वर मे क्रोध उतना नही था जितना आहत अभिमान।

शेखर फिर चुप लगा गया।

पिता कमरे मे टहलने लगे। शेखर आवश्यक प्रवन्ध के लिए इधर-उधर दौड-धूप करने लगा। कोठरी का सामान वाहर रखा, एक पडोसी से थोडी देर के लिए वालटी माँगकर पानी भरकर कोठरी मे रख दिया। पिता का अटाची-केस भी वही आले में रख दिया, तौलिया और धोती खिडकी पर टाँग दी। पिता ने एक वार कहा, 'रहने दो, में आप ही कर लूँगा', पर जव वह अपना काम करता ही रहा तव चुपचाप उसे देखते रहे।

पिता जव नहाने जाने लगे तव शेखर ने कहा, "मै जरा होटल तक हो आऊँ—"

"अच्छा। और वाजार से मेरी दवा भी लेते आना।"

पिता ने नाम वताकर दस-दस के दो नोट शेखर को दे दिए, तो उसने विस्मय से पूछा, "कितने की आती है ?"

"जितने की हो। और एक डिव्वा विस्कुट का भी ले आना—शाम को चाय के साथ कुछ—निरी चाय तो अच्छी नही लगती।"

शेखर ने जव दवा ली और उसका कुल एक रुपए कुछ आने का विल चुकाया, तव उसे सन्देह हुआ कि वीस रुपए देने का कारण कुछ और था। जव वह लौटा, तो पिता स्नानादि

करके पाकेटबुक मे कुछ लिख रहे थे। शेखर ने दवा उनके सामने रख दी और जेब मे से शेष रुपए निकालने लगा।

पिता ने कहा, "रहने दो अभी—और भी तो कुछ मँगाना होगा—" तब शेखर का सन्देह पक्का हो गया।

थोडी देर बाद खाना आ गया। रोज तो लडका खाना छोडकर चला जाता था और फिर किसी समय बर्त्तन उठा ले जाता था। आज शेखर ने उसे काम के लिए रोक लिया।

पिता ने एक बार थाली के प्रत्येक व्यजन को ध्यान से देखा, उसके बाद पाँच-सात कौर खाए और अनमने-से होकर हाथ खीच लिया।

ऐसी बात शेखर से कभी होती नही थी, बल्कि औरो के मुँह से सुनकर भी उसे विचित्र लगती थी, पर आज कुछ तो उसके मन मे उत्तरदायित्व की भावना थी, और कुछ वह यह भी अनुभव कर रहा था कि पिता का पहले-सा आतक उस पर नही है, उसने साहस करके कहा, "आपने तो कुछ खाया नही—"

पिता ने असाधारण स्वर मे उत्तर दिया, "अब क्या खाना—मेरा खाना-पीना तो उसी के साथ गया—" और एकाएक उठ खडे हुए। शेखर चुपका-सा हो गया, उसने भी थाली सरका दी और लडके को इशारा किया कि हाथ धुला दे

अगले तीन-एक दिनो मे कोई विशेष घटना नही हुई, केवल एक बार फिर कुछ चीज़ लाने के लिए पिता ने शेखर को कहा और फिर दस का एक नोट देने लगे। शेखर ने कहा, "अभी तो मेरे पास है—" तो कहा "तो यह भी उसी मे जोड लेना—"

किन्तु तीन दिन मे पिता की और उसकी बाते कई बार हुई, बीच-बीच मे अचानक कोई प्रसग ऐसा आता कि पिता को शेखर की माता की याद आ जाती और वातावरण मे एक बोझल और विषण्ण क्लान्ति छा जाती, किन्तु थोडी देर बाद फिर सिलसिला आगे चल पडता। पिता से शेखर की बातचीत पहले बहुत कम होती थी, होती भी थी तो प्राय एक ही पक्ष से, पर अब शेखर पिता मे भी कुछ थोडा-सा परिवर्त्तन देख रहा था, और अपने मे भी एक बराबरी का भाव पा रहा था, और इसके कारण बातचीत मे बात और चीत का अनुपात लगभग बराबर का ही था, यद्यपि उसका प्रवाह अब भी एक-सा नही होता था, बात अकस्मात् ही बीचोबीच मे शुरू हो जाती थी और अचानक अधर मे ही समाप्त

"ऐसे कब तक रहोगे?"

" . "

"कुछ करो-धरोगे नही? होटल की रोटियाँ तोड-तोडकर बनेगा क्या? यह कोई ढग है रहने का?"

"कर तो रहा हूँ। बल्कि इतनी मेहनत तो मैने पहले कभी नही की—"

अविश्वासपूर्वक—"करते होगे, पर बिना उद्देश्य के मेहनत किस काम की? निरी मेह-

नत से कुछ थोडे ही होता है ? जीवन का एक प्लान चाहिए जिसके अनुसार मेहनत हो। सबसे पहले रहन-सहन व्यवस्थित होना चाहिए—यह क्या साँसियो की तरह एक पोटली फैलाकर बैठ गए !"

"उद्देश्य तो मैंने अपने सामने रखा है। वह आपको पसन्द न आए यह दूसरी बात है, पर मैं मेहनत तो उद्देश्य से ही कर रहा हूँ।"

"क्या उद्देश्य ? पढाई तो तुमने छोड दी है। आगे क्यो नही पढते ? कम-से-कम एम० ए० तो कर लो। मेहनत करो तो बडी अच्छी तरह पास हो सकते हो—स्कालरशिप भी मिल जायगी। फिर यहाँ न पढना चाहो, विलायत चले जाना।"

"पढाई मे तो अब रुचि नही है। एम० ए० करके भी क्या होगा—आजकल तो एम० ए० पासो की भरमार हो रही है, और सब नालायक भी नही है। मुझमे ही ऐसी कौन-सी बात है कि—"

"न सही एम० ए०, कोई और लाइन ले लो। वह बैरिस्टर और इजीनियर बनने की सब बाते ही थी ? ये लोग तो लोक-सेवा भी कर सकते है—या फिर एजुकेशनल लाइन ले सकते हो अगर सेवा करने की धुन है। कोई बुरी बात थोडे ही है सेवा—"

"अब मै समझ गया हूँ कि उन बातो मे दूसरो के आदर्श बोलते थे, मेरे नही। और जिस काम मे जी नही है, उसमें मेहनत करके मेहनत भी नष्ट ही होगी।"

"तो आखिर तुम्हारा कुछ तो विचार होगा—"

"मैंने तो साहित्य का क्षेत्र चुना है।"

"चुना है ! साहित्य से क्या होगा ? साहित्य के सहारे जीवन थोडे ही चलता है ? और फिर साहित्य दूसरे कामो के साथ-साथ भी हो सकता है, क्या डाक्टर और वकील और प्रोफेसर लेखक नही हो सकते ? हिन्दी मे तो जिस लेखक का नाम देखता हूँ, साथ मे प्रोफेसर लिखा होता है। ये लोग आखिर कुछ पढाते ही होगे न कही। अच्छा है, सेवा भी है, जीवन मे निश्चिन्तता भी है, और साहित्य भी है। बात हुई न। और—"

"पर सब लेखक ऐसे तो नही होते। जो अच्छे-अच्छे साहित्यकार हुए है वे तो—"

"उनकी बात और है। हर कोई शेली और कीट्स थोडे ही होता है। और कालिदास ने क्या दरबार मे अपनी ड्यूटी नही भुगताई होगी ? या फिर कोई सूरदास या तुलसीदास जैसा सन्त हो—वह तो असाधारण आदमियो की बात हुई, हर कोई थोडे ही उनके मार्ग पर चल सकता है।"

"देखिए, या तो मुझमे कुछ प्रतिभा है, या नही है। अगर नही-है, तो आप यह क्यो समझते है कि मै ही एम० ए० करके दूसरे एम० ए० पास बेकारो से अच्छा हो जाऊँगा ? और अगर है तो क्या पता, मैं साहित्य-क्षेत्र में भी कुछ कर ही सकूँ—"

"हुँ, दलीलें छाँटता है !"

बात ठप हो गई।

इसके काफी देर बाद, एकाएक, "लिखोगे किसमे, हिन्दी मे ?"

"जी।"

"हुँ, हिन्दी मे क्या रखा है ? अँग्रेज़ी मे लिखकर तो कुछ प्रतिष्ठा भी बनेगी। अच्छी आमदनी न हो तो कम-से-कम प्रतिष्ठा से ही आदमी सन्तोष कर लेता है। हिन्दी से क्या मिलेगा ?"

"पर लिखने का कुछ उद्देश्य तो होना चाहिए। निरी प्रतिष्ठा के लिए थोडे ही लिखना होता है ? अँग्रेज़ी की पुस्तक तो इने-गिने ही पढेगे—हिन्दी तो करोडो—" (फिर एकाएक याद करके कि हिन्दी-भाषी करोडो हो भी, पाठक तो बहुत कम होगे !) "क्या कम-से कम लाखो पढ सकते है।"

"पर पाठक किस श्रेणी के ? हमारे जीवन मे हिन्दी की हैसियत ही क्या है ?"

शेखर ने कुछ अभिमान के साथ कहा, "हिन्दी जन-भाषा है। करोडो व्यक्तियो के प्राण इसमे बोलते है।" फिर यह सोचकर कि ऐसी दलील पिता को रुच सकती है, जान-बूझकर शरारत की भावना से (यद्यपि ऐसा नही था कि इस युक्ति मे उसे विश्वास बिल्कुल न हो) "और हमारी जाति की परम्परा इसमे बोलती है—हमारा सारा अतीत इसमे बँधा हुआ है !"

"होगा। पर जिससे आदमी का भविष्य न बने उसके अतीत को लेकर क्या करे,चाटे ?"

"मुझे तो भविष्य दीखता ही हिन्दी मे है—अगर हिन्दी हम सबसे छूट गई तो भविष्य हुआ, न हुआ, बराबर है।"

"तुम्हे तो दीखेगा ही—हर बात मे मेरा खण्डन जो करना हुआ।"

"तुम्हारी माता तुम्हे बहुत याद करती रही। पर तुम ऐसे नालायक निकले कि आए ही नही। माता-पिता बुरे ही सही, तब भी ऐसे कोई करता है ?"

शेखर चुप।

"और वह तो बिचारी अन्त तक तुम्हारी बात सोचती रही। उसने निश्चय किया था कि तुम जेल से लौटोगे तो तुम्हारा ब्याह कर देगी। तुम्हारे लिए बहू भी देख रही थी।"

तीर की तरह शेखर के मन मे स्मृति चुभ गई, "अबकी बार वह लौटकर आए तो उसकी शादी कर दो ?" बडा भाई ईश्वरदत्त जब घर से भागा था तब उसके लिए माँ ने यह प्रस्ताव किया था एकाएक उसे लगा कि उसका सारा उद्योग—मानसिक और शारीरिक—जीवन के मानचित्र मे एक ठीक जगह बैठा दिया गया है जो सदा से वैसे उद्योगो के लिए निश्चित है—कि अबकी बार वह लौटकर आए तो शादी कर दो ! जैसे उसके सब विचार एक परिचित रोग है, जिसका स्पष्ट उपचार है—अमुक नम्बर का मिक्सचर ! शेखर ने उत्तर देना चाहा, "सब भाइयो के लिए एक ही नुस्खा होगा ?" पर फिर सयत-भाव से बोला, "मेरा क्यो ? मै तो ब्याह करना नही चाहता। और अभी तो बडे भाई है।"

"तुम्हारे चाहने का क्या है ? लडको के चाहने से थोडे ही व्याह होते है ? यह तो सामाजिक कर्त्तव्य है। लडका, कन्या, माता-पिता, बिरादरी, सभी उसमे होते है। हाँ, यह बात ठीक है कि पहले वडे भाइयो का होना चाहिए। पर ईश्वर की सगाई हो ही गई है, प्रभु की भी हो ही जायगी। सगाई का तो पहले-पीछे का कुछ होता भी नही, जिसके योग्य कन्या मिले, सगाई हो जाती है। और—"

शेखर ने देखा कि यह तो प्रश्न बडी आसानी से हल होते चले जा रहे है। उसने ज़ोर देकर कहा, "मुझे अभी विवाह करना ही नही तो—"

"क्यो ? प्रभु तो अभी पढ रहा है, इजीनियर बनते उसे दो साल और लगेगे। तुमने तो पढाई छोड दी है, अब तुम्हे ढग से रहना चाहिए, आगे का कुछ सोचना चाहिए। घर-गिरस्थी वनाओ, चार पैसे कमाओ, अलग निश्चिन्त होकर रहो। वहू अच्छे घर की होगी तो थोडे मे भी काम चला लेगी, वल्कि आधी गिरस्थी तो वहू के साथ आती है और मैंने कुछ जोडा तो है नही, जो कुछ होता रहा है, तुम लोगो पर खर्च कर दिया है, पर फिर भी जो कुछ वन पडेगा, कर ही दूँगा। मुझे कौन साथ ले जाना है—जैसा पीछे दिया वैसा अव दिया। व्याह अच्छी तरह हो जायगा, तो समझ लूँगा कि उसके मन की एक साध पूरी हो गई। जीवन मे तो विचारी ने सुख देखा नही। अव पहले ज़माने की वात थोडे ही है—पहले तो वहुएँ कितनी-कितनी सेवा किया करती थी—" पिता फिर कुछ अन्यमनस्क-से हो गए।

शेखर ने कहा, "देखिए, मुझे विवाह करने की रत्ती-भर इच्छा नही है। और मै उसके योग्य भी नही हूँ—कुछ कमाता नही हूँ, और ऐसी डिगरी भी नही है कि आगे चलकर कुछ कमाने की आशा हो। क्लर्की मे तीस-चालीस मिल सकते होगे, पर वह मै कभी नही करूँगा। ऐसी दशा मे यह वन्धन पालना पाप भी है और मूर्खता भी। और फिर—" एक क्षण रुककर शेखर फिर आग्रहपूर्वक कहने लगा, "फिर मैने अपने जीवन का एक मिशन चुन लिया है, अव जान-वूझकर उसके मार्ग मे वाधा क्यो खडी करूँ ?"

"क्या मिशन ? कैसा मिशन ?"

"मुझे कुछ कमाना-जोडना नही है। लिखना है, तो वह भी पैसा जोडने के लिए नही। वह साधन होगा एक वडे उद्देश्य का—मै अपने समाज की, अपने आस-पास के जीवन के अगो की व्यवस्था वदल देने का व्रत ले रहा हूँ—यह तो आप भी मानेगे कि परिवर्तन आवश्यक है ? और नही तो इतना तो आप मानेगे ही कि देश को स्वाधीन होना चाहिए ?"

पिता ने कुछ खीझ और कुछ पितृत्व के अभिमान के स्वर मे कहा, "कितनी वातें सीख गया है !" फिर थोडा हँसकर वोले, "हम तुम्हे अपने जीवन की वाते वतलाते है—हमने कभी कही नही, पर अव छिपाने मे क्या रखा है, अव तुम वडे हो गए।" उनकी आँखें वहुत दूर चली गई और गहरे स्वर मे उन्होने कहना आरम्भ किया, "जव मैने पढाई समाप्त की तव हम तीन-चार लड़को ने भी ऐसा व्रत लिया था। हमारी पढ़ाई तो गुरुकुल में हुई थी,

जब हम वहाँ से निकले तो हमने आपस मे सलाह की कि पचीस वर्ष की आयु होने मे जितने-जितने वर्ष बाकी है—मेरी आयु तब अठारह वर्ष की थी—उतने-उतने हममे से प्रत्येक व्रत का पालन करते हुए बिताएगा, क्योकि ब्रह्मचर्य की अवस्था पचीस तक की होती है। तन पर जो कपडे थे, उनके अलावा केवल एक लाठी और एक झोले मे दो-तीन पुस्तके ही हमारी पूँजी थी। तुम व्यवस्था बदलने की बात कहते हो, हमारे उद्देश्य बहुत स्पष्ट थे। अग्रेजो को निकाल बाहर करना और हिन्दू राष्ट्र को सगठित करके विशुद्ध आर्य-सस्कृति की पुन स्थापना चार साल तक हम लोगो ने भीख माँग-माँगकर प्रचार किया। ऐसे-ऐसे बीहड स्थलो मे हम गए कि तुम कल्पना भी नही कर सकते। देखे तो तुमने क्या होगे! और—" कुछ रुककर एक झेपी-सी हँसी हँसकर, "अग्रेज़ो के विरुद्ध हमने जितना विष-वमन किया—आज के आतकवादी क्या करेगे! पर अन्त मे—" उनकी भँवो और कन्धो ने सकेत से वाक्य पूरा किया कि 'सब निष्फल'।

पिता ने शेखर की ओर देखा। उसके चेहरे पर कौतूहल स्पष्ट देखकर फिर कहने लगे, "एक साल तक हम लोग इकट्ठे रहे। फिर अलग-अलग मार्ग पकडे। अपना कर्त्तव्य हमारे आगे इतना स्पष्ट था, कि राह चलते कोई इक्का-दुक्का अग्रेज़ मिल जाय तो उसकी बुरी गत बनाते थे! मै—" उनके नथने अभिमान से फूल गए—"बहुत तगडा था—और चेहरा ऐसा लाल होता था कि बस! आजकल की तरह थोडे ही। बाबू साहब नही थे हम!"

फिर थोडी देर के लिए उनकी दृष्टि अन्तर्मुख हो गई, मानो दूर दबी हुई स्मृति को खोदकर ला रहे हो "पर अन्त अच्छा नही हुआ। दो साथी किसी आतकवादी दल के साथ पकडे गए, और फाँसी लग गए। तीसरे का कुछ पता न लगा कि वह कैसे मर गया, पता यही लगा कि कुछ ईसाई मिशनरियो ने उससे चिढकर उसे विष दिला दिया था। चौथा—चौथा मै था। चार साल तक यह करते-करते मुझे लगने लगा कि मै व्यर्थ काम कर रहा हूँ—केवल इसलिए नही कि यह टटीहरी का प्रयास है, अधिक इसलिए कि यह घृणा का प्रचार कभी अच्छा फल नही ला सकता फिर एक दिन एक घटना से मेरी आँखे बिल्कुल खुल गई और—" एकाएक विषय बदलकर उन्होने कहा, "घृणा का प्रचार तो यह है ही। तुम भी क्या करोगे? जो अच्छा नही है, उसके विनाश का ही तो प्रचार करोगे न?"

"उतना ही नही, जो हम चाहते है उसका—"

"हाँ, हाँ, पर परिस्थिति की लाचारी है कि विनाश पर ही तुम्हारा आग्रह हो जायगा। मैने देखा है कि सब प्रचार अन्तत घृणा का प्रचार है, क्योकि घृणा मे शक्ति है, प्यार मे वह नही है। वैसे ही जैसे विष मे शक्ति है। लडाई लडी जाती है, जिहाद होते है, तो घृणा के सहारे और घृणा सचमुच विष है। वह दूसरे को भी मारती है, अपने को भी नही छोडती। और जब दूसरो को नही मार पाती, तब तो अपने को इतनी जल्दी खा लेती है कि "

वे एकाएक चुप हो गए। शेखर कुछ प्रतिवाद भी करना चाहता था, और यह भी न पूछा

चाहता था कि वह घटना क्या थी, पर उसे डर हुआ कि पूछने से कही पिता का मूड ही न बदल जाए। क्योकि आज तक अपने अतीत की बात उन्होने कभी नही कही थी, सचमुच शेखर ने कभी इस कल्पना से साक्षात्कार नही किया था कि पिता भी कभी एक ऐसे युवक रहे होगे ! अत वह चुप ही खडा रहा। थोडी देर बाद पिता फिर बोले—"तुम भी पागल हो जाओगे।" और फिर खो-से गए। फिर जैसे अपने को जगाकर कहने लगे, "तीन-चार साल मे अपने कामो से आस्था बिल्कुल उठ गई। तब मुझे इस बात की बडी आवश्यकता जान पड़ने लगी कि किसी से उपदेश लेना चाहिए। पर ऐसा था ही कौन ! फिर किसी ने मुझे बताया कि टिहरी की तरफ हिमालय की किसी गुफा मे एक महात्मा रहते है, उन्ही से सच्चा उपदेश मिल सकता है। सस्कार तो ऐसे थे ही कि हिमालय की कन्दराओ में सच्चे साधक और ज्ञानी रहते है, मै उधर ही को चल पडा। कई महीने भटकने के बाद एक दिन जगल पार करते-करते एक खुले-से टीले पर बैठ गया। टीले के नीचे ही एक पहाड़ी नाला बहता था, उसकी धारा का ऊपर का भाग तो पथरीली जमीन में शोर करता हुआ बहता था, पर निचला एक चौडे-से थाले की घास मे खो गया था, और वहाँ दलदल-सी भी हो रही थी।"

साँस लेकर पिता फिर कहने लगे, "थोडी देर बाद ऊपर से एक भीमकाय मूर्ति आती दीखी। काला चमकता हुआ शरीर, लम्बी-लम्बी रूखी जटा और सिंह की-सी अयाल, बदन पर एक कौपीन। जहाँ से दलदल आरम्भ होती थी, वही बैठकर उसने हाथो से बहुत-सा कीचड खोदा और टीले के ढलाव पर जमा करने लगा। जब काफी कीचड जमा हो गया तब वह उसे थाप-थापकर जाने क्या करने लगा। मै वहाँ से बहुत दूर था, अत बिना उसे चौकाए कुछ पास आने के लिए मैने दूसरी ओर से टीले का चक्कर लगाया और जहाँ वह बैठा था वहाँ से कुछ ही नीचे एक पेड की ओट खडे होकर उसे देखने लगा। जो मैने देखा उससे मै चकित रह गया।

"उसने मिट्टी की एक तोप बनाई थी। नीचे झुककर निशाना देखता, फिर हाथ की एक लकडी से तोप को आग देता, और फिर मुंह से ज़ोर का शब्द करता—'ठाँय !' फिर एक अट्टहास से जगल गुंजाकर वही क्रम दुहराने लगता "

पिता ने रुककर देखा कि शेखर पर इसका क्या असर हुआ है, फिर बोले, "मैं बहुत देर तक मुग्ध भाव से यह देखता रहा। फिर मैने देखा, उसी स्थान के आस-पास और भी कई मिट्टी की तोपे पडी है जिनकी मिट्टी सूखकर टूट गिरी है दो घण्टे बाद मै उठकर चला आया।"

अबकी शेखर ने पूछा ही तो, "फिर ?"

"बाद में पूछताछ करने पर मुझे पता लगा कि वह सन् सत्तावन का एक विद्रोही सिपाही था, जो पीछे जब अँग्रेज़ो ने अमानुपी ढग से बदला लेना आरम्भ किया तब भागकर वहाँ आ छिपा था। तबसे उसका यही नित्य-क्रम था—चालीस बरस से वह ये मिट्टी की तोपे दाग रहा था !"

बहुत देर तक मौन रहा।

"उस घटना से अपने प्रयासो की विफलता मेरे सामने स्पष्ट हो गई। मैने महात्माओ की खोज छोडी, और लौटकर दूसरे आश्रम मे प्रवेश किया। इस बात को पैंतीस साल हो गए। मुझे नही लगता कि मैने भूल की।" फिर क्षण-भर रुककर सोचते हुए—"घृणा का यही अन्त होता है—हो ही यही सकता है। पागलपन।" फिर कुछ इस भाव से कि इसके आगे सब तर्क परास्त है, उन्होने कुछ मुस्कराकर शेखर की ओर देखा।

शेखर के मुँह पर दर्जनो प्रतिवाद एक साथ आ गए। बोला, "यह आप कैसे कह सकते है ? पहले तो यही सिद्ध नही है कि वह घृणा से पागल हुआ—या कि घृणा से ही उसे असफलता मिली। जगल मे रहकर मिट्टी की तोपे दागने का असल कारण तो था आतक—वह छिपकर तोप दागता था, इसलिए मिट्टी की तोप थी। यह बेबसी का विद्रोह था—और बेबसी भी आप मोल ली हुई, इसीलिए विद्रोह भी विफल था। न छिपता, लड मरता, तो घृणा क्यो असफल मानी जा सकती ? और मान ही लीजिए कि वह विद्रोह करने के कारण पागल हुआ, तो आपके पास यह कहने का क्या कारण है कि उसका जीवन कम सिद्ध हुआ ? पागल तो सभी होते है, उसके पागलपन मे एक असाधारण एकाग्रता थी, बस इतना ही तो सिद्ध हुआ न ?"

पिता ने झल्लाकर कहा, "पागल होओगे क्या, तुम तो अभी पागल हो।"

पिता ने कहा, "निश्चिन्तता बडी बात होती है।"

शेखर कुछ सोच नही सका कि क्या कहे।

"तुम अभी इसका महत्त्व नही समझोगे। जीवन मे सिक्योरिटी बडी चीज़ है। साहित्य से कुछ टका-पैसा आ भी गया, तो उसका क्या भरोसा ? आमदनी की बरकत तब होती है जब नियम से एक-सी आती रहे, चाहे थोडी हो। इसलिए कहता हूँ, घर बसाओ, कुछ कमाओ, चैन से रहो। जीवन का कुछ ढग हो तो आदमी को पता रहता है कि वह कहाँ खडा है।"

शेखर फिर चुप रहा। पिता ने कहा, "बोलते क्यो नही ?"

"क्या बोलूं, मेरी तो समझ मे नही आता।"

"इसमे समझने की क्या बात है ? ऐसा कौन है जो जीवन मे सिक्योर होना नही चाहता ? नही तो यह बीमा, प्राविडेण्ट फण्ड, पेशन आदि का रिवाज ही कैसे होता ? आजकल तो कोई नौकरी करता है तो पहले पूछता है कि पेशन या प्राविडेण्ट फण्ड है या नही। क्यो, मेरी बात ठीक नही है ?"

"ठीक है। पर मै तो सिक्योर होना नही चाहता। आप घर-गिरस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते ह, मुझे यही जीवन के रोग लगते है—इन्ही से तो मै बचना चाहता हूँ। यह चैन की ज़िन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनो-दिन जोखम की अनुपस्थिति—यही तो घुन है जो जीवन की शक्ति को खा जाता है। मै इन सब को

उलटा चाहता हूँ, चाहता हूँ निरन्तर आशका और जोखम का वातावरण, ताकि मै हर समय लडने को वाध्य होऊँ, अपने हाथ से तोडकर नष्ट करूँ और अपने ही हाथ से फिर नये सिरे से वनाऊँ।"

"खाहमखाह वहस करने के लिए वहसते जाओगे। दो दिन सचमुच ऐसे रहना पडे तो नर्वस ब्रेकडाउन हो जाय! जोखम राह चलते आता है तो भुगत लिया जाता है, कोई माँगता भी है? तुम वहुत विज्ञान वघारते हो, क्या यह सभ्यता के विकास की ही गति नही है कि मानव निरन्तर निरापद अवस्था की ओर वढता गया है?"

"सभ्यता! यह सभ्यता तो ढकोसला है। सिक्योरिटी, सुख-शाति और उन्नति की सव वातो का असली मतलव यह है कि मानव का वचपन लम्वा होता जाता है। जो जितना सभ्य है, उसकी वचपन की अवस्था उतनी लम्वी है। सभ्यता तो परावलम्विता का नाम वन गया है। पशुओ मे वचपन एक साल का होता है, हद-से-हद दो साल का। जगली लोगो में दस-वारह साल का होता होगा। हम लोग इतने सभ्य हो गए है कि अव तीस-तीस साल तक वच्चा वच्चा ही वना रहता है, अपने पैरो नही खडा होता। कई लोग तो वचपन से निकले विना ही मर जाते है?"

"क्या मतलव?"

"अव मैं ही इक्कीस साल का हो चुका। अभी आप मुझे इस लायक नही समझते कि लाहौर जैसे निरापद शहर मे अपना मकान लेकर रह सकूँ। मै तो समझता हूँ कि आपके ऐसा सोचने का मतलव यही है कि आपने वीस साल तक मुझे जो कुछ सिखाया-पढाया है, उस सवको आप रद्दी कर रहे है, क्योकि उसने मुझे इस लायक नही वनाया। मुझे लगता है कि हम ज़रूरत से ज्यादा सभ्य हो गए है। हमारे सयुक्त घरो में न जाने क्या हाल होता होगा! क्या इस तरह व्यक्ति को ज़वरदस्ती पर-निर्भर नही वनाया जाता, उसके सच्चे व्यक्तित्व को और आन्तरिक शक्ति को सुलाया नही जाता? सभ्यता का क्या यही अर्थ होना चाहिए कि जीवन की ललकार अनसुनी कर दी जाय, वढकर उससे टक्कर लेने की शक्ति को कुचल दिया जाय? आप ही वताइए कि अगर आर्य शुरू से ऐसे आराम चाहने-वाले होते तो जावा और कम्वोज और चीन तक उनकी सस्कृति कैसे पहुँचती? वल्कि आर्य होते ही कहाँ—आर्य तो वे तव कहलाए जव कही से वे एक नये देश में आकर वसे।"

पिता ने झुंझलाई हुई सराहना के साथ शेखर की ओर देखकर कहा, "ये सव पढी हुई वातें वोल रहे हो, या अपनी सोची हुई?"

शेखर को एकाएक वावा मदनसिंह की याद आई। 'अपनी व्यथा में से सूत्र खोजना होता है'. शायद उसकी दलीलो पर वावा के विचारो की छाप है, पर क्या इतनी कि शेखर केवल तोते की तरह दुहरा रहा है? क्या जो कुछ वह कह रहा है, उसका अनुभव उसकी नाडियो में नही है?

उसने खिन्न होकर मौन साध लिया.

पिता ने दो-तीन दिन और शेखर के साथ मगज़ मारा। बीच मे एक-आध दिन वे कुछ घूम-घामकर लोगो से मिल भी आए, और दो-एक व्यक्ति वहाँ आकर भी उनसे मिल गए। तीसरे दिन रामेश्वर के साथ शशि भी उन्हे मिलने आई—उसी दिन वे लाहौर लौटे थे। जब उसके समवेदना के वाक्यो से पिता का हृदय पिघल गया और वे माता के सस्मरण कहने लगे, शेखर दबे-पाँव उठकर बाहर चला गया। उसे लगा कि उसकी अनुपस्थिति मे शशि अधिक सहज भाव से उन्हे वहाँ सान्त्वना दे सकेगी, जो देने की शेखर मे तनिक भी योग्यता नही है—पता नही और किसी को भी वह सान्त्वना दे सकता है या नही, पर पिता से ऐसी बात करते तो उसकी जीभ ऐंठ जाती है।

रात को शेखर एकाएक चौककर जागा। उसने स्वप्न नही देखा था, उसकी समझ मे नही आया कि वह क्यो ऐसे घबडाकर उठ बैठा है। घबडाहट और असह्य बेचैनी बडी स्पष्ट थी—उसने मुडकर पिता की ओर देखा और फिर चौका—पिता भी उठकर बैठे हुए थे। एकाएक पिता के भर्राए हुए कण्ठ से एक विचित्र स्वर निकला जो न चीख थी न कराह—और शेखर ने जाना कि इसी स्वर से वह हडबडाकर जागा था वह थोडा-सा काँप गया, पिता ने शायद जान लिया कि वह उठ बैठा है, तब वह जल्दी से उठकर और जूता घसीटते हुए बाहर आँगन मे चले गए।

शेखर ने पिता को कभी रोते नही देखा था—और इस बेबस ढग से रोते उसके अन्तर मे बहुत गहरे कही दर्द होने लगा, और शब्दहीन समवेदना उसमे उमडने लगी। वह नही जानता था कि पिता इतना दु ख मना सकते है, अब तक उसने यह भी नही समझा था कि दैनिक व्यवहार की कठोरता और रुखाई का मोल हर कोई कभी कही अकेले में चुकाता ही है—कि सन्तान पर कठोर शासन करनेवाले पिता की भी नैसर्गिक मानवी कोमलता आखिर कही तो प्रकट होती ही होगी

बाहर आँगन से उसने हाँपे हुए कण्ठ का 'हुँहुंक्—हुँहुँक'—सुना और फिर नाक साफ करने की आवाज़ फिर चप्पल के स्वर से अनुमान करके कि पिता भीतर को जा रहे है, वह जल्दी से मुँह ढँककर लेट गया, और साँस को नियमित बनाकर हृद्गति की तीव्रता को छिपाने का यत्न करने लगा

थोडी देर बात पिता आकर चारपाई पर बैठ गए, एक बडी लम्बी और टूटी हुई आह उन्होने भरी, फिर धीरे से लेट गए।

बहुत देर बाद तक शेखर सोचता रहा कि वे अभी सो गए है या नही और अन्त मे स्वय सो गया।

अगले दिन पिता को लौटना था। प्रात काल मुँह-हाथ धोकर और सामान ठीक करके चाय पीते समय उन्होने रूखे स्वर से पूछा—"फिर क्या निश्चय किया तुमने ?"

रात की स्मृति अभी तक बनी होने के कारण शेखर नही चाहता था कि कोई ऐसी बात उसके मुँह से निकले जिससे पिता को क्लेश हो। उसने अपना स्वर यथा-सम्भव विनीत

बनाकर कहा, "जी, मैं तो पहले ही बता चुका हूँ। एक पुस्तक तो मैं छपने भी दे रहा हूँ—" इतने दिन तक शेखर वह हस्तलिपि देने नही गया था।

"अच्छा ? क्या पुस्तक है ?"

" 'हमारा समाज' शीर्षक रखा है। उसमें— "

"तो समाज के पीछे लाठी लेकर पडे हो। तुम्हारी मर्जी बाबा। अक्ल की बात सुनोगे थोडे ही।" फिर जैसे कुछ ढीले पडकर, "हम भी कब सुनते थे। जवानी का लहू ही ऐसा होता है। आप पटकी खाए बिना मानता कौन है ?"

शेखर ने मन-ही-मन कहा—"तो ठीक तो है।" पर प्रकाश्य कुछ नही बोला।

इतने मे शशि आ गई। पिता ने उसकी ओर देखकर पूछा—"तुम क्यो नही समझाती इसे ? सुना है, तुम्हारी बहुत मानता है।"

शेखर ने पूछा—"किससे सुना है ?"

"किसी से सुना सही। क्यो बात ठीक नही है ?"

शशि ने कहा—"मेरी बात कब सुनते है—मुझे तो झट डाँट देते है।"

"डाँटने का क्या मतलब उसका ? तुम क्यो सुनती हो ?"

शशि के झूठे अभियोग पर शेखर को हँसी आने लगी, वह उठकर कुछ लाने के बहाने कोठरी मे चला गया और वहाँ से आँगन मे, काफी देर तक वही घूमता रहा। फिर उसे विस्मय भी हुआ कि अभी तक उसकी बुलाहट नही हुई। शशि न जाने कैसे बिना झिझक पिता से बाते कर लेती है—वह भी तो उससे एक स्निग्ध स्वर मे बोलते है जिसमें अधिकार की भावना नही होती। उन दोनो मे लगातार सहज भाव से वार्तालाप हो सकता है, शेखर और पिता के बीच तो बहस ही होती है, या फिर खिंचा हुआ मौन।

एकाएक शेखर को याद आया, उसके पास रुपए पडे है जिनका हिसाब नही दिया गया। वह भीतर चला, इतने मे पिता की आवाज़ आई, "शेखर !"

शेखर ने अपने कुर्त्ते की जेब मे से नोट और रुपए निकाल कर पिता की ओर बढाते हुए कहा, "यह लीजिए बाकी, हिसाब भी मैने एक पर्ची पर लिख दिया है।"

पिता ने किंचित् डाँटकर कहा, "अच्छा-अच्छा रखो, बडा आया हिसाब देनेवाला !"

शेखर क्षण-भर किंकर्त्तव्यविमूढ खडा रहा। फिर शशि को इशारे से कहता पाकर कि इस प्रसग को तो तुरन्त बन्द कर दे, उसने रुपए जेब में रख लिए।

थोड़ी देर मे ताँगा आया, शशि प्रणाम करके लौट गई और शेखर पिता के साथ स्टेशन चला।

*** *** ***

'हमारा समाज' की पाण्डुलिपि प्रकाशक को दे आने के बाद शेखर को ऐसा अनुभव

होने लगा कि जो उद्देश्य उसने अपने सामने रखा है, उसकी ओर एक सीढी वह चढ गया है। इससे उसे वहुत सान्त्वना मिली, और वह कुछ अधिक नियमित होकर काम करने का प्रयास करने लगा। अवकी वार उसने ससार के विभिन्न समाजो में पुरुष और स्त्री के अधिकारो का तुलनात्मक अध्ययन करने का निश्चय किया। प्रतिपाद्य विषय यह था कि इस समय पुरुष और स्त्री के आपस के सम्बन्धो को, और एक-दूसरे के सम्मुख प्रत्येक के अधिकार को, नियमित करनेवाली जो सीढियाँ है, उनमे वहुत कम ऐसी है जो विवेक की नीव पर खडी हुई है, या कि जिनके पीछे प्रकृति ही विशालतर अर्थशास्त्र की व्यवस्था है, उस अर्थशास्त्र की, जिसकी पूँजी की इकाई रुपया न होकर जीव है। इतना ही नही, इससे आगे वढकर वह यह भी सिद्ध करना चाहता था कि सुधारको मे भी जो प्रचलित तर्क-परम्परा है—कि रूढियाँ किसी जमाने मे ठीक थी क्योकि उस समय की परिस्थिति के लिए वुद्धि-सगत थी, पर अव नयी परिस्थिति मे असगत हो गई है—वह भ्रान्तिपूर्ण है, क्योकि वहुत से विश्वासो की जड नवीन या प्राचीन किसी भी परिस्थिति मे अनिवार्य नही है—अर्थात् अतीत की परिस्थिति के साथ भी उनका अपरिहार्य कार्य-कारण सम्बन्ध नही है। उनकी जड है विशुद्ध अन्ध-विश्वास या जादू-टोने की तर्कातीत क्रियाओ में। टोने की प्राचीन रीतियो के ही बहुत-से अवशेष है, जिन्हे हम अनन्त बुद्धि-सगत बनाने का प्रयत्न करने लगते है। यह प्रयास वैसा ही है, जैसे पुरानी टूटी हुई मिट्टी की लुटिया मिल जाने पर हम उसमे पीतल की नयी पेंदी टाँकना चाहे—पर ऐसा उपहासास्पद प्रयास हम नित्य ही करते है।

शेखर यह भी कहना चाहता था कि इन सुधारको के असफल होने का एक कारण यह भी है। वे ऐसी रूढियो को पुराने जमाने की दृष्टि से ठीक मानकर मानव के अहकार को पुष्ट करते है—वह और भी आग्रहपूर्वक कहने लगता है कि अजी साहव, पुराने सव रिवाज तो ऋषियो ने निर्दिष्ट किये थे—आप खुद मानते है कि वे समयानुकूल थे! इससे फिर वह आसानी से एक सीढी और वढता है जब वह देखता है कि वहुत-से नये रिवाज भी वुद्धि-सगत नही है; तव वह कहता है, 'साहव, वे तो ऋषि थे, वे जो निश्चित कर गए वह उसी जमाने के लिए नही, युग-युगान्तर के लिए ठीक था, क्योकि वे तो त्रिकालदर्शी थे— अगर वह अपने जमाने के लिए बुद्धि-सगत विधान वना सकते थे, तो क्या भविष्य के लिए नही वना सकते थे?' वस, इस दृष्टिकोण के आगे सुधारक की एक नही चल सकती—यह रुढि का दुर्भेद्य कवच है।

शेखर चाहता था, उसकी पुस्तक मे निरे सिद्धान्त का प्रतिपादन न हो, जो युक्तियाँ वह उपस्थित करे उन्हे पुष्ट करने के लिए इतिहास, मनोवैज्ञानिक और जीव-विज्ञान—विशेपकर मानवशास्त्र से प्रमाणो का ऐसा पहाड खडा कर दे कि उसकी एक-एक युक्ति अकाटच हो जाय। वह अनुभव कर रहा था कि इसके लिए उसका अध्ययन पर्याप्त नही है। कालेज मे विज्ञान उसका विपय ही रहा था, और वैसे भी वह इधर-उधर की वहुत पुस्तके पढ़ता था, और जेल के दस महीनो मे भी उसने वहुत कुछ पढा था जिससे समाजशास्त्र और

मानवशास्त्र मे उसकी रुचि भी परिष्कृत हुई थी, पर वह अच्छी तरह जानता था कि मानव का ज्ञान-पुज जिस तीव्र गति से वढ रहा है, उसके साथ-साथ चलना वहुत कठिन है, विशेष कर उस व्यक्ति के लिए, जिसके अध्ययन को किसी वहुज्ञ का निर्देश न मिल सकता हो—वह चाहता था कि नगर के प्रमुख सार्वजनिक पुस्तकालय का सदस्य वन जाय, ताकि पढने की सामग्री मिल सके, और पिता के दिए हुए रुपए मे से होटल का विल आदि चुकाकर वारह-एक रुपए उसके पास वाकी भी थे, पर पुस्तकालय का आठ रुपए तो वार्षिक चन्दा था, और जिन विपयो की पुस्तके वह लेना चाहता था, उनके लिए वीस रुपए का डिपाज़िट भी आवश्यक था

एक दिन वैठे-वैठे उसे ध्यान हुआ, उसकी कई कितावे खो गई है अवश्य, पर वहुत-सी वची हुई भी है। जो पुस्तके वह पढ चुका है, उन्हे पूँजीपतियो की तरह सँजोकर रखने का उसे क्या अधिकार है ? वे उसे वहुत प्यारी है, वल्कि उन्हे वह अपने विशालतर अर्थात् सामाजिक शरीर का एक अग मानता है, पर ज्ञान क्यो कम प्यारा हो ? और ज्ञान क्यो विना प्रयास मिले—ज्ञान क्या कोई चूरन की पुडिया है कि मुफ्त चखने को मिल जाय !

शेखर ने अलमारी के पास जाकर पुस्तके देखना आरम्भ किया। दो-एक वार सव देख चुकने के वाद उसने अधिक दामोवाली तीन पुस्तके निकाली, फिर एक वार सव पुस्तको को देखकर दो वापस रख दी और एक और निकाली, फिर सवको वापस रखकर टहलने लगा फिर उसने वडे आकार की दो जिल्दो की एक पुस्तक निकाली—वेल्स लिखित 'इतिहास की रूपरेखा'। जल्दी-जल्दी उसके वहुत-से पन्ने उलट डाले, फिर मन-ही-मन कहा, यह तो जनरल पुस्तक है, और इसे वार-वार देखने की आवश्यकता तो पडती नही—दो वार पढ ही चुका हूँ। और उसे रख लिया। फिर दो चक्कर काटकर उससे भी वडे आकार की एक पुस्तक निकाली—चुग़ताई का चित्र-सग्रह. इसके दो-एक चित्र देखकर वह जैसे पुस्तक को सम्वोधित करके मन-ही-मन कहने लगा, जव और सग्रह नही रहे, तव इस एक से क्या होगा ! फिर चुगताई कौन दुनिया का सवसे वडा चित्रकार है—और चित्र तो आदमी तव रखे जव रखने लायक जगह हो। यहाँ क्या जाने कव दीमक लग जाय—और उसने अपने को याद दिलाया कि उसकी पहली रचना को कीडे खा गये थे, और दूसरी को गाय खा गई थी पर उसके मन का भाव चोर का-सा अधिक था, निश्चय उसमे विल्कुल नही था .

शेखर ने तीनो पुस्तको की जिल्दे खोलकर फिर देखी। ये पुस्तके उसे कालेज म पुरस्कार मिली थी, और जिल्द के अन्दर इस आशय का प्रमाण-पत्र भी चिपका हुआ था। क्षण-भर शेखर उसे देखता रहा, फिर एकाएक उसने दृढ हाथो से प्रमाणपत्र कोने से पकड-पकडकर उखाड डाले, पुस्तके पुराने अखवार मे लपेटी और वाहर चल दिया।

पुस्तके कुल लगभग अडतालीस रुपए की थी, पर वाजार में उनके अठारह रुपए मे

अधिक नही लगे। दो-एक जगह पूछकर शेखर ने वेल्स का इतिहास एक सेकडहैंड पुस्तक-विक्रेता के पास साढे पन्द्रह रुपये मे वेच दिया—यह उसकी कीमत का ठीक आधा था। दूसरी पुस्तक के चार रुपए से अधिक देने को कोई तय्यार नही हुआ, क्योकि शेखर को पता लगा, मूल्य सत्रह होने पर भी नयी पुस्तक बाज़ार मे पचास प्रतिशत कमीशन काटकर साढे आठ मे मिल रही थी। अत शेखर उसे लेकर कालेज के एक लडके के पास गया जो उसका परिचित भी था और चित्रकला मे रुचि रखता था, शेखर ने वह पुस्तक किसी तरह उसके मत्थे मढकर उससे आठ रुपए ले लिए—यद्यपि शेखर ने स्पष्ट अनुभव किया कि ग्राहक पर जितना दवाव डाला जा सकता है, उससे किसी तरह भी कम वह नही डाल रहा है

किन्तु सदस्य वनकर जब वह पहले ही खेप मे फ्रेज़र की 'गोल्डन वों', काली की 'मिस्टिक रोज' ओर पालिनोस्की की तथा मनुस्मृति का एक सटीक और विशद आलोचना-युक्त सस्करण ले आया, तव उसके मन का अवसाद उतर गया, और इन पुस्तको को, जिनका उल्लेख वार-वार पढकर उसकी उत्कण्ठा तीव्र हो चुकी थी, वह मनोयोग-पूर्वक पढने मे जुट गया। पढना स्थगित करके जब वह पुस्तक अलमारी में रखता तव उसे ऐसा जान पडता कि ये भी पराई नही है, उसकी आत्मीयता के घेरे मे आ गई है

एक दिन शेखर ने लिखते-लिखते चौककर देखा कि कोई उसके द्वार पर खडा प्रतीक्षा कर रहा है कि वह मुँह उठाए तो अनुमति लेकर प्रवेश करे। शेखर ने हडवडाकर कहा, "आइए-आइए—" और इधर-उधर फैले हुए कागज़ समेटकर चारपाई पर स्थान वनाने लगा।

आगन्तुक ने चेहरे पर वनावटी मुस्कान का जाल फैलाते हुए कहा, "मेरा नाम अमोलक राय है, और मै यहाँ की हिन्दू-सुधार-सभा का मत्री हूँ।"

शेखर ने कहा, "आज्ञा ?"

"मैने सुना है कि आप समाज-सुधार के कार्य को अपने जीवन का मिशन वनाना चाहते हैं। आप अध्ययनशील भी वहुत है, यह तो प्रत्यक्ष ही देख रहा हूँ। असल मे साधना ही सुधार की पहली माँग है। मै—"

शेखर ने विस्मय से पूछा, "आपने यह सब कहाँ सुना ?"

"प्रतिभा छिप थोडे ही सकती है—आप विनय से लाख छिपाएँ—"

यह नही हो सकता—कही कुछ गडवड अवश्य है। शेखर ने कुछ रुखाई से कहा, "कैसे कृपा हुई ?"

"यो ही दर्शन के लिए चला आया। समाज-सेवा के काम मे इतने कम व्यक्तियो को दिलचस्पी होती है—और आजकल के नौजवान तो आप जानते है जैसे है—किसी काम के काम में उन्हे रुचि नही—सेवा के तो नाम से चिढते है—आपमे हमे वडी-वडी आशाएँ है—"

"कहिए, मै क्या कर सकता हूँ—"

"आप वहुत कुछ कर सकते है। आपमें उत्साह है, लगन है, जवानी का वल है। आप कभी हमारी किसी सभा मे आकर देखिए, हमारा कार्यक्रम देखकर आप स्वय जान लें कि आप कितनी मदद कर सकते है।"

शेखर ने कुछ रुचि दिखाते हुए कहा, "अवश्य आऊँगा। पर आप कुछ सक्षेप—"

"हाँ, हाँ। सुधार तो हम वहुत-सी वातो का चाहते है, पर यह अनुभव करके कि समाज की वुनियाद परिवार पर खड़ी है, और समाज का सुधार तभी हो सकता है जव पहले परिवार का जीवन सुधारा जाय, हमने उसी को अपना क्षेत्र चुना है।"

"वहुत ठीक—"

"और परिवार की वुनियाद विवाह है, इसलिए हम सवसे पहले विवाह की परिपाटी में सुधार चाहते है।"

"यह तो वडे महत्व का काम है। आपका कार्यक्रम क्या है?"

"कोई एक वात हो तो वताऊँ न? ऐसे काम मे वहुमुखी उद्योग करना पडता है। नवयुवको और नवयुवतियो और उनके माता-पिताओ सवका सहयोग आवश्यक होता है फिर पत्र-पत्रिकाएँ अपना महत्व रखती है, फिर नेताओ-पडितो आदि को भी प्रसन्न रख पडता है—"

"क्यो?"

"क्योकि व्यर्थ का विरोध वढाने से लाभ? अपना काम जितने कम विरोध के सा सम्पन्न हो सके उतना ही अच्छा, क्यो आपकी क्या राय है?" लाला अमोलक रा कुछ हँसे।

"ठीक है। अच्छा, मै अवश्य आपकी सभा मे आऊँगा। कव है?"

"आइए ही नही, आपको वोलना भी अवश्य पडेगा—"

शेखर ने कुछ झिझकते हुए कहा, "वोलने का तो मुझे बिल्कुल अभ्यास नही है, तो वातचीत करके ही अधिक उपयोगी हो सकता हूँ—"

"वाह, यह भी कोई वात है? समाज-सुधार के काम मे समाज से भागने से कैसे चलेगा और फिर कोई वडा जलसा थोडे ही है—इने-गिने आदमी होगे जिन्हे काम मे रुचि है समझ लीजिए कि वर्करो की मीटिंग है—वाकी हमारा सव काम तो वाहर होता है, मीटिं मे केवल विचार-विनिमय होता है—"

अन्त मे तय हुआ कि शेखर मीटिंग में जायगा और विचारो के आदान-प्रदानो मे हिस लेने के लिए कुछ कहेगा भी। लाला अमोलक राय चले गए।

यद्यपि शेखर ने इस निमत्रण की बात शशि को वडे शान्त भाव से वताई, और उसव सहमति भी शान्त भाव से स्वीकार कर ली, तथापि भीतर-ही-भीतर उसके उत्तेजना वढने लगी—एक और नये दायित्व की भावना और काम के लिए मार्ग मिलने का उत्साह, दूसरी

ओर पहले-पहले शास्त्रार्थ का सकोच और डर—कालेज मे और विशेषकर 'एटिगोनम क्लब' मे वह काफी उत्साह के साथ अपने मत का पोषण कर लेता था, पर वह बात और थी—वहाँ सब परिचित और साथी थे, और वहाँ स्वय क्लब के निर्माताओ मे से वह एक था, यहाँ पर वही एक गैर होगा, निमत्रण की औपचारिकता मे बँधा हुआ, और अनुभवी समाज-सेवियो मे एक अकेला नौसिखिया 'अमेचर' फलत उसने बडे परिश्रम से तय्यारी आरम्भ की—और अपने वक्तव्य के लिए 'पाइंट' लिखते-लिखते पूरा एक निबन्ध लिख डाला उन दिनो वह जो पढ रहा था, उसका और उसके दृष्टान्तो का उसने भरपूर उपयोग किया—कौटुम्बिक प्रणाली के सुधार की बात करते हुए उसने कुटुम्ब की व्युत्पत्ति से आरम्भ करके उसके विकास का निरूपण किया—सिद्ध किया कि आरम्भ मे उस विकास और जीवन के अर्थशास्त्र मे कोई सम्बन्ध नही था और कौटुम्बिक जीवन की प्रागैतिहासिक रूढियो की आर्थिक भित्ति खोजना मूर्खता है, किन्तु क्रमश, रूढियो का विकास जादू-टोने की परिधि से निकलकर आर्थिक नियमो से प्रभावित होने लगा, और फलत आर्थिक विकास के साथ-साथ उनका भी घोर परिवर्त्तन होता रहा। मनुस्मृति से उद्धरण देकर उसने प्रमाणित किया कि स्मृतिकाल का परिवार-चिन्तन तात्कालिक आर्थिक परिकल्पनाओ से बँधा हुआ था—इसीलिए स्मृतियो की तर्क-परम्परा ही नही, उनके रूपक और दृष्टान्त भी एक विशेष अवस्था की कृषि-मूलक सभ्यता के द्योतक है। इसीलिए स्त्री के अधिकारो का नियमन करने मे बराबर गाय, घोडी, ऊँटनी, दासी, महिषी के दृष्टान्त देकर निर्धारणाएँ की गई है—पुरुष को 'उत्पादक' मानकर इन सबको और स्त्री को उत्पादन के उपकरण माना गया है—और कृषि की भाँति ही इन सबकी सन्तान को उत्पादक की सम्पत्ति, इन सबके धन को स्वामी का धन! पितृत्व का निर्णय करने के लिए भी क्षेत्री और क्षेत्र और फल का रूपक व्यवहृत हुआ। किन्तु यह कहने मे स्मृतियो की अवज्ञा नही है—जब तक समाज का नियमन सभ्यता की तात्कालिक अवस्था के साथ विकसित होता रहा तब तक समाज ठीक रहा और उसके भीतर सड़ाँध नही उत्पन्न हुई। किन्तु (शेखर ने प्रतिपादन किया) आधुनिक युग मे यह सामजस्य नष्ट हो गया—हमारे जीवन की परिस्थितियाँ अधिक तेज़ी से बदलने लगी, पर समाज का विकास रुक गया। इसका एक कारण निस्सन्देह यह था कि विदेशी शासन-सत्ता ने एक नयी और कृत्रिम स्मृति खडी कर दी—समाज की व्यवस्था बनाए रखने के लिए उसने जोड-बटोरकर जहाँ-तहाँ के प्रचलनो का एक पु ज खडा किया और उसको प्रमाण मान लिया—यह भूलकर कि प्रमाण भी सदा विकासशील रहे है और रहते है, और जिस परिस्थिति मे ये प्रमाण इकट्ठे किए गए थे वह तो अपेक्षाकृत और भी अधिक अस्थायी, अनिश्चित और द्रव थी! बहते पानी को एकाएक बाँधकर जमा लिया गया—उस जमी हुई बर्फीली पपडी के नीचे नया बीज फूटता और बढता तो कैसे? किन्तु यह बाहरी कारण केवल एक कारण था—दूसरा और हमारे लिए अधिक महत्त्व का कारण अवश्य यह था कि समाज के भीतर ही दुर्बलता और जडता थी—उस लचकीलेपन की कमी जो जीवन का अपरिहार्य

धर्म है इन साधारण सैद्धान्तिक स्थापनाओ के वाद शेखर ने पारिवारिक जीवन के मुख्य मुख्य अगो का विवेचन करके आधुनिक सभ्य जीवन की परिस्थितियो के साथ उनका सामजस्य स्थापित करने के लिए आवश्यक परिवर्त्तनो का उल्लेख किया था।

ज्यो-ज्यो सभा का दिन निकट आता गया, त्यो-त्यो शेखर की उत्तेजना वढती गई—'हमारा समाज' की समाप्ति के वाद भी वह इतना उतावला नही हुआ था जितना इस मीटिंग के लिए हो गया

एक पथरीले नीले रग की धूमिल साँझ——चौतल्ले के एक अकेले कोणाकार कमरे की खुली खिडकियो मे से ठण्डा और वोझीला और तेजाव की तरह चुभनेवाला, साँप की केंचुल-सी मरी और वदरग चिकनाहट लिए शहर के पौष का धुआँ भीतर धँसा चला आ रहा है। नीचे और आस-पास फैले हुए अदृश्य शहर मे से प्रेत-सा आकारहीन शोर धुएँ के कफन को भेदकर ऊपर उठ रहा है, पर उसकी नीरव चाप मानो कमरे के पथराए हुए सन्नाटे को वटा रही है। शेखर धुएँ से अधी पर जलन के कारण और भी निर्जल आँखो को वलात् खोले हुए खाट के एक कोने में दुबका वैठा है, ओर धूमिल भाव से अनुभव करता है कि यह वाहर का चित्र उसकी भीतरी अवस्था की अच्छी विडम्वना है

शेखर को सुधार-सभा की वैठक से लौटे घण्टा-भर हुआ है। वह अपने को मना लेना चाहता है कि वैठक की वात को वह विल्कुल भूल चुका है, पर जैसे पक्षाघात उत्पन्न करने-वाले विप से पैदा होनेवाली जडता ही उसके प्रसार की चेतना उत्पन्न करे, वैसे ही शेखर की स्तव्धता उस मीटिंग के अनुभव की आवृत्ति का रूप ले रही थी

सभा मे सौ से ऊपर व्यक्ति देखकर शेखर ने विस्मय से सोचा था कि क्या सचमुच समाज-सुधार के इतने 'वर्कर' शहर मे है ? उसके मन मे आशा का नया सचार हुआ था, और कार्यवाही के विषय मे जो नया कौतूहल जागा था उसमे वह अपने वक्तव्य की अकुला-हट भूल गया था। किसी तरह सभा आरम्भ हुई——पहले वक्ता ने अपना विषय घोपित किया 'व्राह्मण-समाज मे विवाह की समस्याएँ'—शेखर एकाग्र होकर सुनने लगा, पर क्रमश एका-ग्रता कम होने लगी, और थोडी देर वाद उसका मन विल्कुल उचट गया, वह वक्ता की ओर से मन सर्वथा हटाकर श्रोताओ मे से एक-एक की मुद्रा का अध्ययन करने लगा। अनेक वहुत एकाग्र होकर सुन रहे थे—वल्कि उनकी तन्मयता यहाँ तक पहुँची थी कि वे हाथ या सिर हिलाकर, ओठ और भवो की भगिमा वदल-वदलकर न केवल अनुमोदन कर रहे थे, वल्कि वक्ता के अमूर्त्त विचारो को मानो मूर्त्त क्रियाओ मे अनुवादित भी करते जा रहे थे। शेखर सहसा अपनी आँखो पर विश्वास नही कर सका—क्योकि वह किसी तरह भी अपना ध्यान केन्द्रित नही कर पा रहा था, वल्कि वक्ता पर कुढ भी रहा था। धुंधला-सा ज्ञान उसे रहा कि वक्तृता ने प्रस्ताव का रूप ले लिया है—कि प्रस्ताव का आशय यह है कि व्राह्मणो मे वर इतने दुर्लभ हो रहे है कि कुमारियो के विवाह की भीषण समस्या उपस्थित हो गई है,

अत उनकी सहायता के लिए और उनके माता-पिताओ के निस्तार के लिए सुधार-सभा एक कमेटी बना दे जो ब्राह्मण-कुमार-विवाह-प्रबन्धक-समिति कहलाए, और जिसका सबसे पहला काम हो प्रान्त-भर के विवाह-योग्य ब्राह्मण-कुमारो की एक सर्वाङ्गपूर्ण सूची तय्यार करके प्रकाशित करना,जिससे किसी भी जरूरतमन्द पिता को अपनी कन्या के लिए उपयुक्त वर का पता मिल जाय और साथ ही अन्य ज्ञातव्य सूचनाएँ भी—आयु, आय, कुल, शील, पिता की आय, पद, रग-रूप, रुचि-व्यसन, कैसी कन्या पसन्द है, भविष्य के लिए प्लान, इत्यादि इस प्रकार की तालिका से कितनी सुविधा हो जायगी, कितनी दौड-धूप, कितना कष्ट और व्यय बच जायगा ! प्रस्ताव पेश भी हो गया, मत लिए बिना सर्वसम्मति से पास भी हो गया शेखर ने छुटकारे की एक लम्बी साँस ली और अगले वक्ता की प्रतीक्षा करने लगा, जिसका परिचय देने के लिए लाला अमोलक राय खडे हुए थे । एकाएक चौंककर उसने जाना कि इतने सब प्रशसात्मक विशेषणो के साथ जिसे बखाना जा रहा है वह शेखर ही है! उसका मन और भी डूब गया, पर किसी तरह साहस बटोरकर (उस समय उसके लिए साहस बटोरना मीटिंग के अनुभवो की छाप को बिखेरने का ही पर्याय था !) वह आगे आया और पहले से तय्यार की हुई योजना के अनुसार अपनी बात कहने लगा । आरम्भ करते ही अगली कतार मे दो-एक व्यक्तियो की कानाफूसी और उसके बाद एक के द्वारा अमोलक राय से कहा हुआ वाक्य, 'लडका तो अच्छा मालूम होता है, लालाजी, बधाई—' सुनकर उसे कुछ ढाढस भी हुआ और कुछ उलझन भी, पर जिस वीर भाव से नया साधक सब प्रलोभनो को दुत्कार-कर मन बाँधता है, कुछ उसी भाव से शेखर अपने प्रतिपाद्य से चिपटा रहा

किन्तु तपोबल से अपनाया हुआ अन्धापन भी दूर होता ही है—उर्वशी और तिलोत्तमा को देखकर नही, ऊब से फैले हुए जमुहाए मुख-विवरो को और तिरस्कार से कुचित भवो को देखकर ! एक क्षण ऐसा आया कि शेखर समूची सभा की उपेक्षा की और अनदेखी नही कर सका—अपनी बात की गति दूनी तेज़ करके भी नही तब जैसे उसका मन एक साथ ही दो-तीन स्तरो पर काम करने लगा, और उसकी स्मृति भी मानो पूर्वापर का ज्ञान छोडकर कई एक बातो या घटनाओ को साथ मिलाने लगी सभा के बाद अँधेरे होते हुए कमरे मे बैठा हुआ प्रत्यवलोकी शेखर किसी तरह भी इस उलझन के तार अलग न कर सका—क्या पहले हुआ, क्या बाद मे, वह नही निश्चय कर पाया, एक साथ ही वह सुनने लगा कि शेखर मनुस्मृति के उद्धरण दे रहा है, कोई कह रहा है (या कह रहे है ?) 'लडका राजी है, लडकी का बाप राज़ी है, तो बाबा, हमे क्या ? शादी करो, छुट्टी करो, हमारी क्यो मिट्टी-पलीद करते हो ? पण्डितजी आप तो आप, यहाँ तो मनु की मिट्टी-पलीद है ! विलायती पढाई जो न करे सो थोडा ! आखिर ईसाई लोग पढाएँगे तो हिन्दू-धर्म का आदर रहेगा कैसे—वे हिन्दू-धर्म का प्रचार करने थोडे ही आए है ? लालाजी ने यह नही सोचा होगा ! खत्री लडकी ब्राह्मण लडके से शादी करेगी—ब्राह्मण लडका मनु की नाक काटेगा ! चाल तो लालाजी खूब थी, पर आखिर ब्राह्मण क्वाँरियो के भाग्य तगड़े है—' शेखर

मालिनोवस्की का प्रमाण देता है, अमोलक राय का नाम सुनता है, याकि अमोलक राय का प्रमाण देता है और मालिनोवस्की की लडकी की बात सुनता है, याकि दोनो याकि कोई नही—वह कुछ समझ नही पाता, थोडा-सा जानता है कि उस सभा मे कही वह खो गया है, पर असल मे मच पर खडा होकर बोल रहा है याकि मच खो गया है और वह सभा मे है, याकि सभा खो गई है और मच—तब एकाएक जलता हुआ एक बाण शेखर की चेतना की ढाल को बेध जाता है और वह सब समझ जाता है—अमोलक राय की कन्या विवाह योग्य है, और वे खत्री है, पर ब्राह्मण जमाई पाकर प्रसन्न ही होगे, और समाज-सुधारक ससुर को समाज-सुधारक दामाद मिल जाय तो और क्या चाहिए—सम्बन्ध का सम्बन्ध, सुधार का सुधार!—और वह खडा है इस सब जाननेवाली भरी सभा के आगे घोषित करने को कि देखो, मै शेखर उल्लू बनाया जा रहा हूँ और इसके लिए मनु प्रमाण है, मालिनोवस्की प्रमाण है

धुआँ अच्छा है, तेज़ाब की चुभन अच्छी है, केंचुल की मरी बदरग ठण्डी चिकनाहट अच्छी है, सबको घुस आने दो इस चौतल्ले की कब्र मे—समाज-सुधारक शेखर!

उस खण्डित अवस्था में लोदे-सा शेखर सब कुछ के लिए तय्यार था, तय्यार नही था तो उसी बात के लिए जो हुई—किसी ने दरवाजा खटखटाया और बिना उत्तर की प्रतीक्षा के भीतर चला आया—हडबडाकर उठते हुए शेखर ने देखा कि एक अपरिचित व्यक्ति के साथ सामने खडे है—लाला अमोलक राय!

नैसर्गिक विनय ने कहा कि बत्ती जला ले, पर विनय शेखर को अपने साथ अन्याय लगा। उसने कहा, "कहिए?"

लाला अमोलक राय ने कुछ आहत स्वर मे उत्तर दिया, "आप तो बहुत नाराज़ जान पडते है?"

"मेरी क्या नाराजी—"

"आप थक गये मालूम होते है—लाइए मै बत्ती-बत्ती जला दूँ—"

शेखर ने जल्दी से बत्ती जलाकर एक ओर रख दी और बोला, "बैठिए।"

लाला बोले, "ये स्वामी हरिहरानन्द है। हम लोग आपसे मीटिंग के बारे मे बात करने आए है—"

शेखर ने देखा कि नवागन्तुक गेरुआधारी है, और मुंडी हुई चिकनी खोपडी के कारण उनके तैलाक्त बाल फूले हुए मालूम होते है। अधूरा-सा प्रणाम करते हुए उसने पूछा, "मीटिंग की क्या बात? मीटिंग तो हो चुकी—"

स्वामीजी बोले, "कर्म अपने-आपमे पूरा नही होता, उसका फल भी होता है। मीटिंग से जो सिलसिला चला था वह " इसके बाद वे ऐसे रुक गए जैसे ज्ञान के इस चारे को पगुराना आवश्यक हो।

लाला ने कहा, "आपकी स्पीच से तो मीटिंग मे तहलका मच गया। मैं तो आपको बडी आशा से ले गया था—"

शेखर ने भभककर कहा, "आशा ? मुझे आपने अच्छा बेवकूफ बनाया। यही बात थी तो—"

"क्या बात—कैसी बात—मैं तो बिलकुल शुभेच्छा से आपको ले गया था, लोग तो बकते हैं—"

स्वामीजी ने समर्थन किया, "हाँ, बेटा, लोगो की तो आदत होती है, ईर्ष्या से जलते है।"

शेखर ने रुखाई से कहा, "अच्छा जाने दीजिए। अब तो खत्म हुई बात—"

"मीटिंग की बात छोडिए, अब आपसे हमारा परिचय हो गया है तो उसे पुष्ट करना चाहिए—"

"यह आपकी कृपा है। मैं तो जगली आदमी हूँ, अकेला रहने का आदी हूँ—मुझसे परिचय से क्या लाभ—"

"समाज मे रहना तो हर आदमी का कर्त्तव्य है, बल्कि समाज के बिना कोई जी ही कैसे सकता है—"

"मुझे तो समाज के बीच मे जीना ही कठिन मालूम होता है—उतना ही कठिन जितना डिब्बे के 'वैकुअम' मे। अकेले रहना तो बहुत आसान है—रहे, सो रहते चले गए।"

"माना कि आप असाधारण व्यक्ति हैं। पर असाधारण आदमी भी—"

स्वामीजी ने बात काटकर कहा, "क्यो असाधारण ? हर बात मे असाधारण की दुहाई देने से नही चलता। मैं कहता हूँ, सब आदमी साधारण है, और होने चाहिए।"

शेखर ने कहा, "मैंने तो असाधारण होने का कभी दावा नही किया; मैं साधारण हूँ और साधारण ही बना रहना चाहता हूँ—आप ही मुझ पर असाधारण का जामा लादकर मेरी जान मुसीबत मे डाल रहे हैं—"

स्वामीजी ने दुहराया, "सब कोई साधारण है। और कोई खास बात किसी मे हो भी तो क्या उसके सहारे जिया नही जा सकता ? आपकी नाक लम्बी है तो क्या आप पाखाने नही जाते ? नाक कट भी जाय तो भी आदमी जी सकता है, पाखाने जाये बिना नही जी सकता। इसलिए सब कोई साधारण है।"

शेखर को इस आदमी से, उसके तर्क से, और उसके बात को दुहराने के ढग से विराग हुआ। उसने बहस से बचने के लिए कहा, "आप ठीक कहते है।"

"इसलिए कहता हूँ, समाज ज़रूरी है। आप समाज मे जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी। (शेखर ने चाहा, स्वामीजी से कहे कि वे अपना वाक्य सुधारकर कहें कि 'आप पाखाने जाइए, नाक फिर भी लम्बी रहेगी', पर चुप रहा)—क्यो, आप सहमत नही है ?"

शेखर कुछ बोला नही, वह चाहता था कि बात किसी तरह खत्म हो और ये लोग जायँ ।

"आप उत्तर नही देते। मन मे सोचते होगे कि इनको बकने दो। नौजवानी का अहकार सबमे होता है। मुझमे भी था—उसका नतीजा यह देख लीजिए—"

शेखर ने अबकी बार कुछ दिलचस्पी से हरिहरानन्द की ओर देखा।

'मै सन्यासी हूँ, गेरुआ पहने हूँ। आप सन्यास का अर्थ जानते है। पर मै सन्यासी इसलिए नही हूँ कि मैने सब छोडा है, इसलिए हूँ कि सब कुछ मुझसे छिन गया। और सब अहकार के कारण। अहकार ही थाती था, फिर वह भी टूट गया। मै प्रचार करता फिरता हूँ, पर यह गेरुआ झण्डा नही है, कफनी है। मिट्टी के रग की—जो मिट्टी सब कुछ ढँक देती है। सब कोई साधारण होते है—"

स्वामीजी की इस स्वीकारोक्ति की स्पष्टता शेखर को छू गई। उसने कुछ नर्म पडकर कहा. "मै अहकार के कारण चुप नही था, चुप इसलिए था कि कुछ कहना नही है, मै अपनी अकिंचनता जानता हूँ। पर अकिंचन हूँ इसलिए अपने पैर कुल्हाडी मारूँ, यह तर्क मेरी समझ मे नही आता।"

"लालाजी आपके शुभचिन्तक है। वे जो कहते है, ठीक कहते है। प्रतिभा का हौवा नही बनाना चाहिए, सब कोई साधारण होते है और इसलिए विवाह ठीक बात है।"

"मै कब कहता हूँ कि ठीक नही है? पर मुझे अभी नही करना है, और किसी के कहने से नही करना है। चाहता ही नही, चाहता भी तो योग्य नही हूँ।"

"क्यो?" लाला ने कुछ आशा से पूछा।

"पचास बाते है। पर छोडिए उन्हे—"

"आखिर कुछ तो बताइए—"

"नही, रहने दीजिए। अभी विवाह की बात सोचना आफत मोल लेना है।"

एकाएक हरिहरानन्द ने उत्तेजित स्वर मे कहा, "ठीक है, आफत मोल लेना है। तो है हिम्मत—बढो आगे और लो आफत सिर पर—"

शेखर ने एक बार फिर ध्यान से हरिहरानन्द की ओर देखा, फिर बोला, "क्षमा कीजिए, मै थका हूँ। यह बहस तो समाप्त होगी नही, मै अपने मन की बात आपसे कह चुका हूँ।"

आखिर लालाजी का आसन हिलता देखकर उसने तसल्ली की साँस ली

* * *
** ** **

शशि से दुबारा मिलने पर शेखर ने मीटिंग की सारी कहानी उसे सुना दी, और मीटिंग के बाद अमोलक राय और हरिहरानन्द से हुई बातचीत भी। शशि पहले चुप-चाप सुनती रही, फिर खिलखिलाकर हँस पडी। फिर कुछ गम्भीर होकर उसने पूछा "बहुत दु खी हुए थे क्या?"

शेखर ने झिझकते हुए कहा, "उस समय तो काफी क्षोभ हुआ था। अब सोचता हूँ कि तुम्हारी तरह मैं भी क्यो न हँस सका—"

शशि फिर हँसने लगी।

थोडी देर वाद शशि ने पूछा, "वे लोग फिर आएँग ?"

"अन्देशा तो है। पर मैंने उनकी बात मन से बिल्कुल निकाल दी है।"

'बिल्कुल ? अच्छा, एक बात पूछूँ, शेखर ? उन दोनो की किसी बात मे तुम्हे कोई मार मिला ?"

"सार ? किसी मे नही—किस बात मे—?"

'कि 'बढो आगे और लो आफत सिर पर'—"

शेखर एक क्षण शशि की ओर स्थिर भाव से देखता रहा। फिर बोला, "हॉ, कुछ तर्क था तो मेरे-जैसे लोगो के मन के अनुकूल, पर—" एकाएक कुछ चौककर—"शशि, तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

शशि चुप रही। शेखर ही फिर बोला, "तुम्हे भी इस ब्राह्मण-कुमार के भविष्य की चिन्ता है क्या ?"

"हाँ, कुछ है तो। सचमुच, तुम शादी क्यो नही कर लेते—"

"शशि!"

थोडी देर सन्नाटा रहा। फिर शशि कहने लगी, "पिताजी मुझसे कहते थे, तुम्हे समझाऊँ। समझाने की तो बात क्या है, पर तुमने जिस तरह अपने को ससार से अलग खीच लिया है, इस तरह आदमी बहुत देर तक काम का रहेगा, इसमे मुझे सन्देह होता है। इससे यथार्थ पर तुम्हारी पकड छूट जायगी—"

"यथार्थ पर मेरी—या मुझ पर यथार्थ की ?"

"एक ही बात नही है क्या ? यो कहो कि यथार्थ का और तुम्हारा सम्बन्ध-सूत्र टूट जायगा—"

शेखर ने जैसे एकाएक बहुत-सा साहस बटोरकर कहा, "देखो, शशि, हम लोगो ने इस ढग की बात कभी की नही, पर तुम सच-मच बताओ, तुम्ही ने शादी मे क्या पा लिया है ?" फिर शशि के मुँह पर वेदना की हल्की-सी रेखा देखकर—"मैं तुम्हे कष्ट नही देना चाहता, पर—"

शशि ने सुस्थ होकर कहा, "नही, मैं समझती हूँ। पर मेरी बात उदाहरण नही बन सकती – मेरे व्याह की तो बुनियाद ही और है। मैंने व्याह किया नही था, मेरा तो व्याह हुआ था। व्याह करके कुछ पाने का प्रश्न मेरे आगे नही था, पाना तो—" वाक्य अधूरा ही रह गया।

थोडी देर बाद शेखर ने कहा, "पर फिर मेरे लिए परिस्थिति भिन्न कैसे हुई—मेरे लिए भी तो या क्लेश पाना ही अगर पाना हो तब तो—"

"नही, वह मैं नही कहती। तुम्हे एक साथी खोजना चाहिए जो बराबर साथ चल सके, साथ क्लेश भोग सके और साथ सुख पा सके—क्लेश या सुख बडी बात नही है, बडी बात साथ की है—साझा करने और सहने की क्षमता की!"

"शादी करने से यह सब मिल ही जायगा, इसका क्या प्रमाण है? और विशेषकर ब्राह्मण-कुमार बनकर—"

"प्रमाण नही है, यह मैं जानती हूँ। और मैं नही कहती कि वैसे ढग से शादी करो। मै इतना ही कहती हूँ कि अगर ठीक साथी तुम्हे मिल सके तो—"

शेखर ने सक्षेप से कहा, "तो छोडो इस बात को—अगर वैसा कोई मिलेगा तो देखी जायगी। यह स्पष्ट है कि ढूँढने से वह नही मिलेगा—मिलेगी, राह चलते ही मिल जायगी तो मिल जायगी, तब आँचल पसार लूँगा, बस?"

एकाएक उसने देखा कि शशि का ध्यान उसकी बात की ओर होकर भी नही है, उसकी बडी-बडी आँखे किसी बडी दूर के पथ पर कोई दृश्य देखती हुई और भी बडी हो गई है, मानो उस दूर दृश्य के अर्थ का अभिनन्दन करने को उसकी आत्मा द्वार खोले बैठी है शेखर ने भी कुछ खोए-से, पर साथ ही कुछ कौतुक-भरे स्वर मे कहा, "और जब राह चलते मोती मुझे मिलेगा, तब मैं कोई प्रश्न नही पूछूँगा, सशय नही करूँगा, शर्तें नही बाँधूंगा। जो देवता देते है "

शशि बिल्कुल नही सुन रही थी। शेखर ने जान-बूझकर उसे चौकाने के लिए कहा, "जो देवता देते है, उसके लिए शास्त्रो की भी साक्षी क्यो माँगी जाय?"

शशि ने सहसा जागकर कहा, "क्या?"

उनकी आँखे मिली और जैसे जकडी गई। शेखर ने बलात् कल्पना कहकर उसे निकाल देना चाहा, पर फिर भी वह देखता रहा कि उन खुले कपाटो के पीछे आलोक है, उस आलोक के भीतर गहरी वेदना है, उस वेदना के भीतर और गहरा आहत आलोक—

और इस इतने अपलक काल तक उसके भीतर किसी गुम्फ मे प्रतिध्वनि गूंजती रही, 'साक्षी क्यो माँगी जाय .साक्षी क्यो माँगी जाय '

* * *
** ** **

एक विचित्र शान्ति उसके मन पर छा गई और वह लगन से पढने और लिखने लगा। सुधार-सभावाले लेख का परिष्कार; दो नये निबन्ध, दो कहानियाँ—इतना सब काम समाप्त करके जब उसने साँस ली, तब सभावाली घटना को लगभग दो सप्ताह हो गए थे, और शशि को आए भी दस दिन—इन दस दिनो मे शेखर ने होटलवाले लडके के सिवा किसी को नही देखा था, केवल एक दिन नीचे तीन तल्लेवालो के दो बच्चे न जाने किस बाल-सुलभ विश्वास के साथ उसके पास चले आये थे और पूछ गए थे, "आपको पतग बनानी आती है?" शेखर के स्वीकार करने पर वे कह गए थे, "अच्छा, हमको पैसे

मिलेगे तो हम कागज ले आएँगे—हमे पतग बना दीजिएगा, जरूर !" शेखर ने हँसकर वचन दे दिया था, और साथ ही यह भी पता लगा लिया था कि किसको कितने पैसे मिलेगे, कितने डोर और चरखी मे खर्च हो जायँगे और कितने मझा तय्यार करने मे—फलत अगर कागज़ लेकर स्वय पतग न बनाई जायगी तो केवल एक पतग आ सकेगी और वसन्त-पचमी के दिन एक-एक पतग से क्या होगा ?

वसन्त-पचमी क्यो न शेखर स्वय उन बच्चो के लिए सब सामान ला दे और उनके पैसे और परिश्रम बचा दे ? वसन्त-पचमी पर पैसे कहाँ है ? ओर होटल का बिल और घरभाडा

शेखर ने निश्चय किया कि जो कुछ लिखा है, सब पत्रिकाओ को भेज देगा और सबसे पारिश्रमिक माँगेगा—कोई तो कुछ देगा ही पर सब रचनाएँ लौट आई। सबके साथ प्रशसात्मक पत्र थे, शेखर यह विरोधाभास पहले समझ नही सका, पर अन्त मे एक सम्पादकीय पत्र के अस्पष्ट सकेत से जान गया कि जो मुफ्त अच्छा है वह पारिश्रमिक का भी अधिकारी ही है, ऐसा नही है उसने दुबारा उद्योग करने की ठानी, पर डाक-महसूल का भी जुआ खेलने की उसकी सामर्थ्य नही थी, एक बार उसने सोचा कि पुराने ही लिफाफे का पता काटकर फिर भेज दे, पर नये पत्र के सामने पहले से ही यह स्वीकार कर लेना कि रचना और कही से लौटकर आई है, कुछ बुद्धिमानी नही जँची अन्त मे उसने रचनाएँ स्वय लेकर स्थानीय सम्पादको के द्वार खटखटाने की ठानी।

"हमारा समाज" वाले ही चक्कर की आवृत्ति फिर हुई, अबकी बार कुछ और करुण रूप मे, और कुछ अधिक निष्परिणाम केवल एक साप्ताहिक के सम्पादक ने उससे वसन्त-पचमी के विषय पर कहानी या कविता माँगी, क्योकि पत्र का विशेषाक निकलनेवाला था। शेखर ने अपना पुराना निश्चय याद किया कि फरमाइशी साहित्य वह कभी नही रचेगा, पर फिर सोचा कि जो फरमाइशी है उसे साहित्य कहने की कोई बाध्यता नही है और जो साहित्य है उसे तराजू-बाट से ऊपर रखने के लिए आवश्यक भी है कि रोटी कमाने का साधन दूसरा हो उसने कहानी लिखना स्वीकार कर लिया और पारिश्रमिक के बारे मे इतना आश्वासन पर्याप्त समझा कि 'रचना पर विचार किया जायगा, जो कुछ पत्र पुष्पम्—'

किन्तु वैसी रचना आसान नही थी। घण्टो अपने साथ युद्ध करके भी शेखर वसन्त-पचमी पर कहानी नही लिख सका, और बार-बार उसका परास्त और कुठित मन तीन-तल्लेवाले बच्चो और उनकी पतग की माँग की ओर जाने लगा वसन्तोत्सव वह कल्पना मे देखता, वह पतग और डोर और चरखी और मझा सब ले आया है, और बच्चे किल-कारियाँ मारते हुए छत पर कूद रहे है, और शेखर उन्हे सिखा रहा है कि पतग कैसे उडाएँ—वह जानता हो, यह नही है, पर उन बच्चो के सामने वह 'जानकार' जो है और फिर उसकी कल्पना की पतग कट जाती, और यथार्थ की सूनी चरखी घुमाता हुआ वह सोचता कि वसन्त-पचमी, कहानी और होटल का बिल एकाएक उसे ध्यान आया, क्यो न

यही बात वह कहानी के रूप मे लिख दे ? यह विचार उसे ओछा लगा, कुछ उन बच्चो के साथ विश्वासघात भी लगा, पर हिन्दी मे नित्यप्रति ऐसी चीज़े छपती है, और अगर वह उसे साहित्य मान लेने की भूल नही करता तो क्या हर्ज है ? फरमाइशी काम है, अनासक्त भाव से श्रमिक की तरह वह पसीने की रोटी कमाता है तो क्या बुरा है इस तर्क से उसकी तसल्ली नही हुई, फिर भी उसने कहानी लिख डाली—नाम रख दिया 'पतग-पचमी'।

सम्पादक ने एक बार शीर्षक और एक बार शेखर का चेहरा देखकर कहा, "आप बडे उत्साही युवक है—"

शेखर ने सक्षेप से कहा, "जी।"

सम्पादक ने रचना एक ओर रख दी, फिर शेखर की ओर यो देखा मानो उपयोगिता समाप्त हो जाने के बाद किसी वस्तु का जहाँ-तहाँ पडे रहना उनकी व्यवस्था-बुद्धि को पसन्द नही है।

शेखर ने जान-बूझकर रूखे स्वर मे कहा, "और मेरा पारिश्रमिक ?'

सम्पादक ने अत्यन्त विस्मय जताते हुए कहा, "पारिश्रमिक ? ओ—हाँ। पर पारिश्रमिक तो हमारे यहाँ त्रैमासिक हिसाब के समय दिया जाता है—और अभी तो निर्णय—"

शेखर ने क्रोध दबाते हुए कहा, "निर्णय अभी कर लीजिए न ?"

सम्पादक ने शान्त और चिकने स्वर मे कहा, "साहित्य तो बडी साधना चाहता है—"

एकाएक शेखर को लगा कि शिष्टाचार व्यर्थ है यानी फलप्रद नही है, और जो श्रमिक है उसके लिए फल अनिवार्य है। बोला, "चाहता होगा जो साहित्य होगा। पर आप ऐसी चीज़ को साहित्य समझने की भूल करते भी हो तो मै नही करता। जब साहित्य लिखूँगा तब साधना भी कर लूँगा, अभी तो अपना आप बेचता हूँ, नकद दाम चाहता हूँ।"

सम्पादक ने ध्यान से और नये विस्मय से शेखर को सिर से पैर तक देखा, फिर कहा, "देखिए, नियम तो मैने आपको बता दिया, पर आपने मेरे अनुरोध से ही यह कहानी लिखी थी, इसलिए प्रकाशित होते ही पारिश्रमिक की व्यवस्था करूँगा।" फिर खीसे काढकर "पर आप जानते है, हमारी परिस्थिति केवल पत्र पुष्पम्—"

शेखर ने अनमने-से स्वर से कहा, "धन्यवाद।" और लौट चला

एक और चक्कर मे जब वह युगान्तर साहित्य मन्दिर की ओर जा निकला तो उसने सोचा, "हमारा समाज" का भी हाल पूछता चलूँ। सचालक महोदय स्वय उपस्थित थे, शेखर को देखकर बोले, "आप अच्छे आए—मै तो सोच रहा था कि किसी को आपके यहाँ भेजूं—"

"क्यो, कुछ विशेष बात है—"

"नही, योही"—अर्ध-निमीलित नेत्रो से वे कुछ देर शेखर को देखते रहे, फिर बोले, "बात यह है कि—असल मे—मैने वह पुस्तक दो-एक विशेषज्ञो को दिखाई है, उनकी राय है कि—उसमे कुछ सशोधन आवश्यक है—"

शेखर ने विनीत भाव से कहा,—"हो सकता है। मै केवल अध्येता हूँ, विशेषज्ञ नही। क्या-क्या सशोधन उन्होने सुझाए—"

"देखिए, यह तो मै जबानी नही बता सकता, पर यह समझ लीजिए कि परिणामवाले रेच्छेद उनकी राय मे ठीक नही है और बदले जाने चाहिए—"

"यह तो आमूल परिवर्त्तन हो गया। इतना बडा परिवर्त्तन तो लेखक—"

"मेरा तो विचार है कि आप सब परिवर्त्तन करके उनकी अनुमति से उनका नाम भी दे तो अच्छा हो, उनके सम्पादकत्व मे किताब छपेगी तो बिक्री भी निश्चित है और—'

"वे सज्जन है कौन ?"

प्रश्न का उत्तर न देते हुए सचालक फिर बोले, "अन्तिम परिच्छेद बदलने मे समय नही गेगा—"

"किन्तु तथ्यो से जो परिणाम निकलते है, उन्हे बदला कैसे जाय ? परिणाम तो—"

"परिणाम तो अपना-अपना मत है। एक ही तथ्य से पॉच परिणाम निकल सकते है, व दृष्टिकोण की बात है। और जब परिणाम बदल जायँगे तो तथ्य—"

शेखर ने आग्रह से कहा, "तथ्य से परिणाम निकलते है कि परिणाम से तथ्य ? जो थ्य है उनकी अनदेखी तो नही हो सकती—"

"तथ्य आखिर क्या है ? जो कुछ है सब तथ्य है। जो नही है, वह भी तथ्य है—सका न होना तथ्य है। आदमी अपनी रुचि के अनुसार तथ्य चुनता है, फिर उन तथ्यो परिणाम निकालता है, अत परिणाम भी रुचि द्वारा नियमित हुए न ?"

"अच्छा, ऐसे ही सही। तब फिर मैने अपनी रुचि के तथ्य और परिणाम पुस्तक मे ख दिए, सशोधन का प्रश्न ही कहॉ रहा ? पर मै तो यही कहता हूँ कि तथ्य तथ्य है, और री समझ मे जो परिणाम मैने निकाले है वे अनिवार्य है।"

सचालक ने कुछ दृढता के साथ कहा, "यह तो आपका हठ है। रुचि अपनी होती है, र रुचि का परिष्कार भी तो हो सकता है। और समाज की आलोचना बडे दायित्व का ामला है—हम तो विशेषज्ञो की राय अवश्य लेते है। आपके लिए तो बडा अच्छा अवसर—पुस्तक के साथ योग्य सम्पादक का नाम होगा तो बिक्री भी होगी और भविष्य के लिए ार्ग खुल जायगा—आपको तो कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होने इतने परिश्रम से परिवर्त्तन र दिया है—"

शेखर ने चौककर कहा, "कर दिया है ? पर आपको पहले मुझसे पूछना तो चाहिए ा ? आखिर वे विशेषज्ञ है कौन ?"

"बडे अनुभवी विद्वान है और समाज-सेवा तो उनके जीवन का व्रत है—"

"आखिर नाम तो बताइए—"

"लाला अमोलक राय—"

शेखर ने रुक-रुककर प्रत्येक शब्द पर जोर देते हुए कहा, "मेरी पुस्तक ज्यो की त्यो छपेगी—अपने तर्क और मत के लिए मै उत्तरदायी हूँ।"

"पर हम तो विद्वानो की राय के विरुद्ध—आप जानते है, प्रकाशक के उत्तरदायित्व का मामला है—हम तो आपके हित—"

शेखर ने पूछा, "क्या आप यह कहना चाहते है कि बिना परिवर्तन के आप पुस्तक नही छापेगे ?"

"देखिए—हमारी असमर्थता—यह आवेश मे आने का मामला नही है—"

"तो आप मेरी हस्तलिपि लौटा दीजिए—"

"आप सोचकर देखिए—"

शेखर ने दृढता से कहा, "मेरी हस्तलिपि आप तुरत लौटा दीजिए—"

"आप तो मानते नही। मुझे बडा खेद हो रहा है—"

शेखर ने फिर कहा, "हस्तलिपि मुझे देने की कृपा कीजिए तो मै जाऊँ—"

सचालक ने आवाज दी, "चपरासी!" एक सुस्त-सी मूर्ति सामने आकर खडी हो गई।

"जाना, लाला अमोलक राय के यहाँ से कागज ले आना—उन्हे कहना कि 'हमारा समाज' के कागज दे दे—नाम याद रहेगा न 'हमारा समाज' ?"

"जी। 'हमारा समाज'।"

"हाँ।"

शेखर ने पूछा, "कितनी देर लगेगी ?"

"घण्टे-डेढ घण्टे मे आ जायगा—"

शेखर वहाँ ठहरना नही चाहता था। बोला, "अच्छा, मै दो घण्टे बाद आऊँगा—" और उठकर चल दिया।

ऐसा आन्दोलित मन लेकर वह घर नही लौटना चाहता था, और बाहर उसे कोई और काम था नही, शेखर निरुद्देश्य सडको और गलियो मे चक्कर काटने लगा। केवल एक बार एक दुकान के बाहर कई एक चरखियाँ टँगी हुई देखकर वह थोडी देर रुक गया और चरखियो को तथा दुकान के भीतर के अन्धकार मे धुँधली-सी दीखती हुई दो-एक हडियो और कोने मे पतगो के ढेर की आकृति का अध्ययन करता रहा, फिर आगे चल पडा। और एक जगह फलो की एक और दुकान देखकर उसे याद आया, जेल मे उसने खाद्यतत्त्व पर एक पुस्तक पढी थी और सोचा था कि वह फलाहारी हो जायगा। कुछ आगे बढकर उसने दुकानदार से कन्धारी अनारो का भाव पूछा, सुना कि सवा रुपए सेर है और एक अनार लगभग चौदह आने का होगा, उसके बाद वह और कही नही ठहरा, साढे चार बजे के लगभग वह फिर 'युगान्तर साहित्य मन्दिर' पहुँचा, और वहाँ से अपनी हस्तलिपि लेकर, बिना

एक शब्द बोले सचालक को सक्षिप्त नमस्कार करके घर चल पडा दिन बहुत छोटे हो गए थे, कुछ बदली-सी भी थी, और साढे चार बजे ही ऐसा लगने लगा था कि दिन ढल रहा है

घर पहुँचकर शेखर ने हस्तलिपि नीचे पटक दी और चारपाई पर लेट गया। फिर एकाएक उठा और हस्तलिपि उठाकर पन्ने उलटने लगा उत्तराश के कई पन्ने निकाल दिए गए थे और उसकी जगह नये पन्ने थे, किसी और हाथ के लिखे हुए—अक्षरो से स्पष्ट था कि हाथ कच्चा है, और शायद लडकी का है शेखर ने झटककर उन पन्नो को अलग किया और दो टुकडे करके फेक दिया। फिर उसने देखा, कई पन्नो पर उसके लिखे हुए अश काट दिए गए है और हाशियो मे नया कुछ लिखा हुआ है। इन पन्नो को भी उसने झटककर अलग किया—पुस्तक की मूल असशोधित लिपि तो उसके पास थी ही !—और उसी तरह दो टुकडे करके एक ओर डाल दिया। फिर शेषाश को दो-एक बार उलट-पलट कर देखा, फिर एक खिन्न 'हुँ' के साथ उसे भी नीचे डाल दिया और पैर से पन्ना-पन्ना इधर-उधर बिखेर दिया।

एक बार उसने चारो ओर देखा, फिर चारपाई पर औंधे लेटकर तकिये मे मुँह छिपा लिया।

तकिये के भीतर रुई का गुदगुदा अन्धकार—स्वागत, अन्धकार ! तुम सूक्ष्म और अमूर्त नही हो, तुम्हारा आकार है, भार है, घनत्व है, तो और भी स्वागत ! शेखर को लगा, किसी तरह उसी अन्धकार मे वह भी पिघलकर मिल जाय——तो——तो

एक अन्धी-सी धुन्ध मे वह उठा और धीरे-धीरे नीचे उतरकर फिर सडक पर आ गया। क्रमश ठिठुरते और सकुचित होते हुए दिन का फीकापन उसके भीतर जम गया, पर उसके बिना भी शेखर के अन्दर पर्याप्त अन्धकार था अन्धकार और एकान्त—निर्लिप्त शून्य—विविक्त, अनासक्त, अन्धकार किसी चीज मे कोई अर्थ नही है, सब कुछ एक परिणाम है जिसका आधारभूत तथ्य खो गया है कारण से कार्य है, पर उद्देश्य न कारण का है, न कार्य का, अनुद्देश्य ही सत्य है अनुद्देश्य, भ्रान्ति, भटकन

वह क्या कर रहा है—कहाँ जा रहा है—पर कर रहा है और जा रहा है तो क्या हुआ ? आगे और धन्ध अभी बाकी है, और जमता हुआ अँधेरा आँखो मे चुभता है तो आँखो से देखने से मतलब क्या है जगल मे जब लोग खो जाते है तो अपने आप उनके पैर चक्कर काटने लगते है, चक्कर काटते ही वे मर जाते है। उसे कही जाना नही है, चक्कर भी काटना नही है। बर्फ से अन्धे हुए हुए पहाडी बकरे की तरह वह सिर झुकाए लडखडाता चला जा रहा है, चला जा रहा है। वह जानने लगा कि उसकी इस उद्देश्यहीनता मे छिपा हुआ उद्देश्य है, कि वह उद्देश्य पुन उद्देश्यहीनता है, बुझ जाने की माँग है

पीछे मोटर का हार्न बजता है, वह अनसुनी करता है, मोटर पास से निकल जाती है। हार्न फिर बजता है, शेखर फिर उपेक्षा करता है, वैसा ही बीच सडक चलता जाता है

हार्न फिर बजता है, ज़ोर से बजता है, धृष्टता से बजता है, ललकार से बजता है, धमकी से बजता है—

अनुद्देश्य, अनुद्देश्य, वह चला जा रहा है बीच सडक—

एकाएक दो हाथो ने उसकी बाँह पकडकर जोर से उसे खीच लिया, ब्रेको की चीख को डुबाती हुई एक चीख निकली, "बाबूजी!" शेखर ने आँख उठाई—एक स्त्री थी। जवान नही थी, सुन्दर नही थी। मोटर शेखर को छूकर सर्राती हुई निकल गई, ब्रेक दबने से जो लडखडाहट उसमे आई थी वह सध गई और पालिश की झकझक की कौध में खो गई।

शेखर ने अत्यन्त चिडचिडे स्वर मे कहा, "क्यो, तुम्हे क्या?"

किसी को क्या—वह मरे, जिये, मोटर के नीचे आए, नदी मे डूबे, आग मे पडे, किसी को क्यो कुछ मतलब?

स्त्री ने आहत विस्मय मे कहा, "बाबूजी, मैने तो—" और चुप रह गई।

शेखर की आँखे उसकी आँखो से मिली। नही, वह जवान नही थी। वह सुन्दर नही थी। पर उसकी आँखो मे वह आग्रह, वह वत्सल डर

शेखर ने अनुभूतिहीन स्वर मे कहा, "बहिन, मुझे माफ करो—" और जल्दी से मुडकर घर की ओर चल पडा। किन्तु उसके पैरो की चाप आगे अब भी अर्थहीन ललकार से दुहराती जाती थी, "किसी को क्या, किसी को क्या"

सीढियाँ चढकर कमरे की देहरी पर पैर रखते-रखते शेखर एकाएक ठिठक गया। कमरा ज्यो का त्यो था, पर बत्ती जल रही थी और चारपाई के कोने मे सिमटकर बैठी हुई शशि एकटक उसकी ओर देख रही थी।

*
**   *
**   *
**

जाने कितनी देर तक कोई नही बोला, न हिला। फिर शशि ने कहा, "कहाँ थे, शेखर? मै कबसे बैठी राह देख रही हूँ—और यह सब क्या है?" और फिर एकाएक लपककर शेखर के पास आकर उसके दोनो कन्धे पकडकर घबडाए हुए स्वर मे, "शेखर! शेखर! क्या हुआ—"

शेखर ने शशि की दोनो कलाइयाँ पकड ली और मृदुल दबाव से उसे पीछे धकेलता हुआ चारपाई तक ले गया, उसी मृदुल दबाव से उसने शशि को चारपाई पर बिठा दिया। फिर धीरे से अपने कन्धे छुडाकर बिखरे हुए कागजो को रौंदता हुआ कमरे के पार जाकर स्वय खडा हो गया, और क्षण-भर बाद कागज़ो के बीच मे भूमि पर बैठ गया।

"कुछ नही, शशि, होना क्या था—"

शशि फिर उठकर शेखर के पास आ खडी हुई।

"बताओ शेखर! यह सब क्या करने गए थे? और—और क्या करके आए हो?"

शेखर चुप रहा। सामने खड़ी शशि के पैरो पर उसकी दृष्टि गडी रही।

"कहो, शेखर! तुम नही जानते कि अभी राह देखते-देखते मैं—"

वाक्य अधूरा छोडकर शशि चुप हो गई। न जाने कितनी देर तक दोनो चुप और निश्चल रहे, फिर कागज़ो मे कही एक 'टप्' सुनकर शेखर चौककर उठ खडा हुआ, किन्तु शशि की पीठ लैम्प की ओर थी, उसका मुख अँधेरे मे था शेखर ने एकाग्र दृष्टि से उसकी ओर देखते हुए कन्धे से पकडकर शशि को घुमाना चाहा, पर उसके स्पर्श करते ही शशि का शरीर कठोर पड़ गया और वह हिली नही शेखर ने एकाएक उसका कन्धा छोड दिया, चारपाई के पास जाकर धप् से बैठा और फिर लेट गया, उसके बुझते हुए मन ने जाना कि आगे कुछ गति नही है—उसकी आँखे अपलक छत को देखने लगी—अनुद्देश्य, अनुद्देश्य, जड अनुद्देश्य—

शशि अपने आप आकर उसके सिरहाने खडी हो गई। एक अनिश्चित स्वर मे उसने पुकारा, "शेखर?" और उसके ऊपर को तनिक-सा झुकी—टप् से एक बूँद शेखर के माथे पर गिरी—

एकाएक शेखर ने हाथ बढाकर उसे धीरे-धीरे नीचे झुका लिया, उसकी छाती मे मुँह छिपाकर फूटकर रो पडा. उसका पिंजर बेतरह हिलने लगा, उसकी मुट्ठियाँ शशि के कन्धो पर जकड़ गईं। शशि एक शब्द भी बोले बिना वैसे ही उस पर झुकी रही जैसे पहाडी सोते के ऊपर छायादार सप्तपर्ण का वृक्ष

सप्तपर्ण की छाँह मे से समीर काँपता हुआ जाता है, एक प्रच्छन्न शिथिलता अगो मे भर जाती है, छाँह के अमूर्त स्पर्श तले सब कुछ क्रमश शान्त होता जाता है। एक रेशमी स्पर्श शेखर के बालो को सहलाता हुआ पूछता है, "अब बताओगे?"

नही, जीवन मे कोई उद्देश्य नहीं है तो चुप रहने में, छिपाने मे भी कोई उद्देश्य नही है, बात अगर नही छूती तो उसकी रागात्मक प्रतिक्रिया भी नही छू सकती शेखर ने कहा, "गया था तब नही जानता था, पर चलते-चलते जान पडा कि आत्महत्या का उपाय खोज रहा हूँ।"

एक हल्की-सी सिहरन सप्तपर्ण को कँपा गई।

"क्यो, शेखर?"

"यो ही, समझ मे आया कि मरने के लिए कारण ढूंढना आवश्यक नही है, प्रमाण तो जीने के लिए चाहिए। जिसके जीने का स्पष्ट उद्देश्य नही है उसका मर जाना तो स्वत सम्मत है।"

चिन्तित और बहुमुख प्रतिवाद का स्वर—"शेखर!"

"पाने के लिए न जियो, देने के लिए जियो। माना। पर क्या दो? निरुद्देश्य, कारण-हीन, अर्थहीन आत्मपीडा? क्यो दो, किसके लिए दो? अगर साध्य एक है जनमात्र का सुख, तो ध्येय भी एक है सुख—नही तो कुछ नही है, सब धोखा है। और मैं देखता हूँ कि अपने

होश के अठारह-बीस सालो मे मैंने—" एक कँपाती हुई सिसकी फिर उसकी शिथिल देह को हिला गई।

"मैंने किसी को सुख नही दिया, एक अहकार के लिए जिया हूँ और सबको क्लेश देता आया हूँ—"

"तुम कैसे जानते हो, शेखर ?"

"नही जानता, यही जानता है। जिनसे स्नेह किया है, उन्हे भी सुख नही दिया। पूछा नही, पर क्या स्नेह इतनी भी बुद्धि नही देता कि कोई जान ले, जिसे स्नेह देता है उसे सुख भी देता है कि नही ?"

शशि ने धीरे-धीरे उठते हुए कहा, "शायद नही देता। नही तो तुम देखते—" वह धीरे-धीरे चलकर खिडकी के पास गई, क्षण-भर चौखटे पर हाथ रखकर वाहर देखती रही —एकाएक बूँदे पडने लगी थी जो खिड़की के चौखटे मे घिरे हुए फीके आलोक मे आकर पल-भर चमक जाती थी—एक शून्य मे से आकर दूसरे मे लीन फिर उसने वही खडे-खडे घूमकर कहा, "और शेखर, क्या स्नेह ही देय नही है—सुख से वढकर देय ?"

"है, वहुत वडा देय है—पर इसीलिए कि वह इतना बडा सुख है। अगर स्नेह सुख नही देता, जलाता ही जलाता है, तो उसका भी दग्ध होना ही अच्छा—"

शशि जल्दी से फिर अपने स्थान पर लौट आई, शेखर के सिरहाने चारपाई के कोने पर वैठती हुई कुछ डपटकर वोली, "चुप रहो, शेखर, तुम्हे कुछ पता नही है कि तुम क्या कहे जा रहे हो।"

शेखर चुप हो गया, और वही लेटे-लेटे आँखे ऊपर उठाकर शशि की ओर देखने लगा। शशि किसी ओर नही देख रही थी, ठीक सामने ही उसकी दृष्टि गडी थी, पर उसने अवश्य जाना कि इस ऊपर देखने के प्रयास से शेखर के माथे पर त्योरियाँ पड गई है, क्योकि एक हाथ से वह उन्हे सहलाने लगी, जैसे कोई रेशमी कपडे मे से सलवटे निकाल रहा हो। जव यह उद्योग उफल नही हुआ, तो उसकी उँगलियो ने वढकर शेखर की पलको को वलात् वन्द कर दिया—फिर वे वही टिकी रही, आँखो पर से हटी नही।

शेखर ने वहुत धीमे स्वर मे कहा, "सुनो, शशि !"

शशि फिर उसके ऊपर किंचित् झुक गई।

"शशि, तुम क्या हो, कुछ समझ मे नही आता—"

स्थिर स्वर से, "क्यो, शेखर ?"

"कबसे तुम्हे वहिन कहता आया हूँ, पर वहिन जितनी पास होती है, उतनी पास तुम नही हो, इसलिए वह जितनी दूर होती है—उतनी—दूर भी तुम नही हो।" एकाएक उसने शशि की उँगलियो को दोनो हाथो से अपनी आँखो पर जोर से दाव लिया, मानो आँखें खुलने से कुछ अनर्थ हो जायगा

शशि की काँपती हुई आवाज मे शेखर जैसे बाहर की वर्षा की अनवरत मार सुन रहा था--"क्या अभिप्राय है तुम्हारा, शेखर ?"

शेखर ने फिर दोनो हाथ उठाए, कनपटी के पास से शशि का सिर हल्के से पकडा और उसे अपने ऊपर झुका लिया, फिर बोला, "अभिप्राय मै नही जानता, तुम्हे जानता हूँ, और जानता हूँ कि जितने स्वप्न मैने देखे है सब तुममे आकर घुल जाते है—"

शशि के झुकने मे न अनुकूलता थी न प्रतिरोध, वह झुकी हुई थी, पर स्तब्ध, नि शब्द थी

वह स्तब्धता जैसे शेखर के प्राणो मे भी समा गई, उसे लगा कि सब कुछ ज्यो का त्यो स्तिमित हो गया है, क्योकि आगे और कुछ होने को नही है, सब कुछ वहाँ पहुँच गया है जहाँ कैवल्य है, क्योकि निर्वाण है यद्यपि, दूर कही, बादल की गर्जन थी और बूँदो का फूत्कार, और कौंध का वह प्रकाश जो स्वय भी कुछ नही दिखाता और बाद के अन्धकार को भी घना कर जाता है।

और शेखर के ऊपर थी सप्तपर्ण के तरुण गाछ की छाँह, जिसे दूर की कोई बहती साँस कँपा जाती थी, दूर दक्षिणी किसी समीर की साँस, क्योकि उसमें स्निग्ध गर्माई थी, और जब-तब एक सोंधापन शेखर के नासा-पुटो को भर देता था—वह सोंधापन जो मलय के प्राणद पहले स्पर्श मे होता है

सप्तपर्णी, मै कुछ नही जानता, कुछ नही मानता। यह मिट्टी शायद अनुर्वर ही है, पर तुम्हारी छाँह मे यह साँस उसे छूती हुई चली जाती है, तो उसे और कुछ नही चाहिए, वह जीती है

•

एक सीमा होती है, जिससे आगे मौन स्वय अपना उत्तर है, और सब जिज्ञासाएँ उसमे लीन है क्योकि वह परम अ-प्रश्न है न जाने कब और कैसे शेखर की बाहरी शिथिलता उसके भीतर समा गई और वह सो गया—थोडी-थोडी देर बाद बिजली कडकन से कुछ चौंक कर वह जागा, पर वह जागरण एक तन्द्रिल व्यामोह से आगे नही बढा, और ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के सोंधे प्रच्छन्न आश्वासन मे फिर लवलीन हो गया केवल एक बार जैसे उस द्रवित अवस्था मे जीवन के ठोस ज्ञान ने व्याघात डालना चाहा, शेखर ने चौंककर कहा, "शशि, बहुत देर हो गई है, तुम्हे वापस जाना है—" और मानो उठने का उद्योग किया, पर शशि हिली नही, उनकी निश्चलता मे पौष की हिम-शीत वर्षा ने ही उत्तर दिया कि अब वापस जाने के लिए भी अधिक देर हो गई है, फिर शेखर ने कहा, "तुम थक जाओगी, शशि," और दुबारा उठने का उद्योग किया ताकि शशि ढंग से बैठ जाय, पर शशि ने फिर एक नीरव हाथ से उसके उद्योग जडित कर दिए और उसने पाया कि उसके मन की सकल्प-शक्ति और पेशियो की प्रेरणा-शक्ति एक चिकने अमूर्त और सर्वथा स्वीकार्य बन्धन मे बँधी है, फिर वह तन्द्रा पूर्ववत् छा गई और सप्तपर्णी की छाँह मे अस्तित्व सो गया...

अवश्यमेव यह अरुणाली स्वप्न की है—वातावरण में स्फटिक की-सी शीतल स्वच्छता है, किन्तु उसमें रग की स्निग्धता भी है—शेखर अपना सिर तनिक-सा उठाकर अपने ऊपर छाए हुए सप्तपर्णी के गाछ को छूता है—क्या उसका माथा सप्तपर्णी के भीतर के जीवन-प्रवाह की नाडी देख सकेगा—उसके हृदय का स्पन्दन अनुभव कर सकेगा ?

सप्तपर्णी की आत्मा बोली—आत्मा का स्वर कितना कोमल होता है !—"जागते हो, शेखर ?"

"हूँ—"

"तुमने जो कुछ कहा था, वह याद है ?"

"हाँ—"

"उसका अभिप्राय समझते हो ?"

मौन बोला कि हाँ समझता हूँ।

"अब मैं भी कुछ कहूँ, सुनोगे ?"

मौन ही फिर बोला कि सुन रहा हूँ।

"तुमने जो दिया है, उसमें लज्जा नही है। वह वरदान है, यह मैं भी बिना लज्जा के देखती हूँ। वरदान मे अस्वीकार का विकल्प नही है।"

" . . "

"मै विवाहिता हूँ। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दे दिया है, अपने का, इह का संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नही है, उसकी ओर से मैं कुछ नही कह सकती, न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूँ, न प्रतिवाद कर सकती हूँ, और—न कुछ दे सकती हूँ।" वह चुप हो गई, बहुत देर तक कोई नही बोला, केवल वातावरण का स्फटिक कुछ और शीतल जान पडने लगा—

"अपने को मिटा देने मे मैंने कजूसी नही की—खुले हाथ से दिया—होम कर दिया, और देख लिया कि सब जल गया है—धूल हो गया है। यह नही सोचा कि धोखा खाया, मैंने स्पष्ट देखा था कि यही होगा।"

शान्ति मे कितनी व्यथा हो सकती है, और स्वप्न के स्फटिक की लाली मे कितनी हिम-विजडित पराजय यही है सब कुछ का अन्त—स्वप्न का भी अन्त—

सप्तपर्णी की आत्मा ने एकाएक बल पाकर—जैसे नयी आहुति से होमाग्नि दीप्त हो उठे !—कहा, "पर तुममे मेरा वह जीवन है, जो मै हूँ, जो मेरा मैं है।"

फिर एक विश्राम .

"और वह मूर्त्त नही है इसीलिए कम सच नही है, कम जीता नही है। शेखर, तुम मुझे बहिन, माँ, भाई, बेटा, कुछ मत समझो, क्योंकि मैं—अब—कुछ नही हूँ। एक छाया हूँ।" और फिर किसी आन्तरिक तेज से भरकर—"और अमूर्त्त होकर मैं—तुम्हारा अपना-आप हूँ जिसे तुम नाम नही दोगे।"

फिर मौन, जिसमे वह लाल स्फटिक काँपता-सा है—

"शशि, क्या इसमे—तुम्हारे लिए—सिद्धि है—सम्पूर्ति है ?"

"सिद्धि ! नही। मेरा जीवन न इतना मिट्टी था, न इतना—हवा। सिद्धि और सम्पूर्णता नही है, पर मैं सन्तुष्ट हूँ शेखर, और सन्तोप का यह सुख तुम्हारा वरदान है।"

वह स्फटिक अरुणाली में घुल गया है, वह शीतलता स्वप्न की नही है, पौष के कडकडाते वर्षा-धुले प्रत्यूष की है शेखर ने एकाएक अपने को सप्तपर्णी की छाँह के नीचे से खीच लिया और उठ बैठा, चेतना की एक दीप्ति उसे सहसा पिछले दस घण्टो के जीवन-विकास की एक द्रुत झाँकी दिखा गई, सहसा इस भावना से भरकर कि आज भोर की पहली किरण के साथ वह शशि को नये रूप मे देखेगा, और कुछ बाल्यकाल मे रटे हुए और हाल मे दुबारा नये प्रकाश मे पढे हुए वैदिक भावगीतो के श्रद्धाभाव से आप्लावित होकर उसने स्थिर दृष्टि से शशि की ओर देखते हुए कहा, "मेरी आँखे पुनीत हो—"

शशि के खोए-से स्वर ने उसकी मन स्थिति को भरपूर अपनाते हुए कहा, "और मेरा जागरण "

शशि उठ खडी हुई थी, रात-भर चारपाई के सेरुए पर जहाँ वह बैठी रही थी, वहाँ पडी हुई एक सलवट को उसने हाथ से सँवारा, फिर जाकर खिडकी के सामने खडी हो गई। चौखट के साथ सटकर उसने दोनो बाहे बाहर फैला दी।

सप्तपर्णी के इस प्रतनु, लचकीले, पर उद्ग्रीव गाछ को देखकर शेखर का हृदय हठात् एक कृतज्ञ आशीर्वाद-भाव से उमड आया। खिडकी के चौखट मे जडे हुए उस विमुख आकार को सिर से पैर तक एक वत्सल दृष्टि से छूकर उसने मन-ही-मन शब्दहीन प्रार्थना की, और प्रतीक्षा करता रहा कि आलोक की पहली किरण शशि की आकार-रेखा को कुन्दन से मढ़ दे.

अरुणाली का आश्वासन दीप्ति की यथार्थता नही बना, केवल एक फीका उजाला बनकर रह गया—दिन निकलते-निकलते बदली फिर घनी हो गई थी। शेखर न जाने किस विनोदभरी उमग से नीचे बिखरते हुए 'हमारा समाज' के पन्नो के मुख्याश पर बैठ गया था, शशि वही खिडकी मे खडी थी, पर अब शेखर की ओर उन्मुख।

"शशि, तुम अब भी गाती हो ?"

एक अन्तर्मुख, म्लान 'हुँह !' ने मानो कहा, "अब, गाना !" पर प्रकट शशि बोली, "अब मैं वापस जा रही हूँ।"

शेखर ने हाथ के इशारे से बिखरी हुई हस्तलिपि को एक घेरे मे बाँधते हुए कहा, "हमारा सारा समाज प्रतीक्षा कर रहा है—" (फटा हुआ, चिथडे-चिथडे बिखरा हुआ समाज—और लाला अमोलक राय सुधारक द्वारा सशोधित समाज !.)

शशि ने कहा, "गाए एक वर्ष हो गया—" पर इसमें प्रतिवाद नही था, केवल आग्रह की स्वीकृति थी, "अभी गाऊँगी नही, पाठ ही कर सकती हूँ—"

क्रमश स्पष्टतर होती हुई स्वरलहरी से कमरा गूंजने लगा—

"अभय न. करोत्यन्तरिक्ष अभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभय नो अस्तु ।
अभयं मित्रादभयममित्रादभय ज्ञातादभय पुरो य ।
अभयं नक्तमभय दिवा न सर्वा आशा मम मित्र भवन्तु ॥"

किन्तु अपने-आप ही शशि मुडकर फिर खिडकी मे प्रत्यभिमुख होकर खडी हो गई, और क्षण-भर गुनगुनाने के बाद निष्कम्प किन्तु गूंजते स्वर मे गाने लगी—सतेज और स्पन्दन-शील प्रवाह के साथ, जैसे स्वस्थ धमनी मे रक्त

"आजि मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे !
पल्लवे-पल्लवे हिल्लाये-हिल्लाये थरथर कम्पन लागिलो रे ।
" . "
आजि मम अन्तर माझे
कोथा पथिकेर पद-धुनि बाजे
ताइ चकित-चकित घूम भाँगिलो रे—
आज मर्मर-ध्वनि केन जागिलो रे !"

उस स्वर को सुनते हुए, और उस सधी हुई पीठ के तरंगायित आरोह-अवरोह को देखते हुए शेखर का मन बहुत दूर चला गया । कितनी दूर लगता था वह समय, जब वह छिपकर शशि की उत्फुल्ल गीत-लहरी सुनने का यत्न किया करता था, जब वह स्तब्ध होकर उसका गाना सुना करता था—उसी से नही, शशि से भी कितनी दूर तब वह सुखी थी—उस रन्ध्रहीन सुख से सुखी जो स्वय अपने अस्तित्व को नही जानता, और आज-आज वह जानती है कि सुख मे भी वह सुखी नही है, केवल सन्तुष्ट है—सन्तुष्ट अर्थात् धैर्यवान्—अपने व्यक्तित्व के इस भ्रश, इस विभागीकरण को गौरव मानकर अपनाती हुई

किन्तु यदि यही है, यदि शशि आज इस क्षण सन्तुष्ट भी है, तो क्या यही अब शेखर के जीवन का सबसे सार्थक क्षण नही है, क्योकि इससे बडा सुख वह अब शशि को नही दे सकता ? और—और क्योकि इस क्षण ने कल और आज के बीच मे उसका जीवन बदल दिया है—

उसे याद आया कि रात ही एक अजनबी स्त्री द्वारा खीचकर बचा लिए जाने पर वह झल्लाया था और सोचता हुआ लौटा था कि किसी को क्या—किसी को क्या आज—आज किसी को कुछ है—और वह जानता है कि किसी को कुछ है

तब जो कल वह करने जा रहा था, क्या उसका उचित समय आज नही है—इस क्षण नही है ? सिद्धि और सन्तोष के दिए हुए और पाए हुए सुख मे बुझ जाना—कितनी बडी सिद्धि ! अगर वह अभी चुपचाप खिसक जाय, कानो मे शशि के गाने की चिरन्तन गूंज लेकर लुप्त हो जाय—

वह धीरे-धीरे द्वार की ओर खिसकने लगा, चौखटे को छूते ही सीधा खडा हो गया—

एकाएक शशि ने गाना बन्द करके कहा, "कहाँ, शेखर ?"

वह जडित हो गया। शशि ने घूमकर फिर पूछा, "कहाँ जा रहे थे ?"

शेखर कुछ नही बोला।

"अभी तुम्हारा मन नही धुला ? शेखर, मै कहती हूँ, तुम नही जाओगे।"

घात मे पकडे गए चोर की-सी उद्धतता से शेखर ने कहा, "क्यो ?"

शशि ने अधिकार के स्वर मे कहा, " 'क्यो' नही है। मै कहती हूँ, तुम नही जाओगे।" फिर उतने ही स्थिर किन्तु सर्वथा बदले हुए स्वर मे, "मेरी तरफ देखो, शेखर—मेरी आँखो की तरफ। क्या तुम मनमानी कर सकते हो—अकेले हो ?"

शेखर ने आँखे नीची कर ली। परास्तभाव से कमरे मे लौट आया।

"क्या करूँ बताओ, क्या कहती हो—"

शशि ने हाथ के इशारे से एक मीठी फटकार देते हुए कहा, "अब बहुत समय है कहने-सुनने को। अब मै चली—सवेरा हो गया है। पर अब कुछ पागलपन किया तो—" तर्जनी उठाकर उसने वाक्य अधूरा छोड दिया।

शेखर ने कहा, "मेरी अकल को कुछ हो गया है—बिल्कुल पागल हूँ।" उसके स्वर मे खिन्न लज्जा का भाव था।

शशि ने विचारक के गम्भीर स्वर से, पर हँसती आँखो से कहा, "पागल—पागल तो नही, बहुत बडा बच्चा !" और सीढियाँ उतर गई। शेखर 'हमारा समाज' के बिखरे पन्ने बटोरने लगा।

एकाएक प्रात काल का भाव उसके मन मे फिर उमड आया, और विस्मय से उसने अपने-आपसे पूछा कि उसके मनोभाव का प्रतिबिम्ब कैसे इतनी जल्दी शशि के मन मे उदित हो आता है इस जिज्ञासा से और भी पुष्टि हुई, कृतज्ञता से उसने फिर कहा, "मेरी आँखे पुनीत हो '

शशि ने जोडा था, 'और मेरा जागरण'। किन्तु जागरण तो मेरा है, शशि, जागरण तो मेरा है—मै तुम्हारे पुण्यायन जागरुक हूँ

* * *
** ** **

चतुर्थ खण्ड :

धागे, रस्सियाँ, गुञ्झर

बदली और शीत, किन्तु दिन के प्राण सुन्दर है––सुन्दर और स्निग्ध, सद्य-स्नात वह सगीतकार होता, तो आज के दिन की आत्मा को स्वरो की तूलिका से आँक लेता–– चित्रकार होता तो उसका चित्र खीचता, मूर्तिकार होता तो स्फटिक-शिला मे उसके प्राण को बाँधकर ऊपर कर देता––अमर नही, अमर तो वह स्वय है, उसके आकार को मूर्त्त की परिधि मे ले आता क्योकि आनन्द का भी आकार अवश्य होता है जो बोध की उँगलियो से छुआ जा सकता है––अगर वह आकार मूर्त्त नही है, तो यह केवल शिल्पकार को रूप-सज्जा की स्वच्छन्दता देता है––आकृति और उत्कण्ठा दासियाँ बनकर उस रूप को सँवारती है––

शेखर लिखेगा। हो सका तो कविता लिखेगा, किन्तु कुछ भी लिखेगा अवश्य, क्योकि जैसा धुला हुआ उसका मन आज है, वैसा उसे याद नही, इसके पहले कब था, और जिस जीवन-लहर का शिखर इतने युगो बाद पाया है, उसकी दूसरी उठान कब होगी, कौन जाने

क्या ऐसा कुछ नही है, जो लिखने से परे है, जो बहुत विशाल है, जो बहुत गहरा है, जो घिरता नही, क्योकि वह स्वय घेरनेवाला है ?

अवश्य है। किन्तु उसे पकडने की स्पर्धा कौन कर रहा है ? सप्तपर्णी की छाँह ऊपर है, सब ओर है, किन्तु उसकी साँस का मर्मर तो मै पी सकता हूँ, और उसमे विलीयमान होकर उसके सुर मे गुनगुना भी सकता हूँ

कृतित्व सबसे पहले कृतज्ञता है

शेखर लिखने लगा।

नौ, दस, ग्यारह, साढे ग्यारह––

जेल मे शेखर ने पैरो की चाप से व्यक्ति की मनोदशा भाँपना सीख लिया था, इसलिए सीढियो पर पैरो की चाप सुनकर वह चौका। जीवन के दलदल और शैवाल के जाल मे से अपने को आगे घसीटने की इतनी अनिच्छा, इतनी क्लान्ति––कौन है यह अभागा जो आज के पुनीत दिन––

शेखर ने एक बार अपने सामने पडे हुए, स्याही-रँगे कागजो को देखा और फिर सीढियो की ओर के किवाड को––

एक शिथिल पैर देहरी पर लटकाए, एक हाथ और कोहनी चौखटे पर और कन्धा हाथ पर टेके, बेरग चेहरे मे धुँआले काँच-सी जडित आँखे शून्य पर टिकाए सामने शशि खडी थी।

उसने हडबडाकर उठते हुए कहा, "अरे, कैसे आ गई––" और शशि के मुँह को देखकर सहारा देने को लपका।

"आ गई, बस—अब वहाँ लौटना नही होगा—नही, मुझे मत छुओ, मैं अभी चली जाऊँगी—"

"अँय, क्या कहती हो शशि—"

"उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया है।"

"क्या—क्यो ?" एकाएक स्तब्ध होकर, "भीतर आओ, शशि, बैठकर बात कहो—"

"नही, शेखर, मै पति द्वारा परित्यक्ता हूँ, कलकिनी हूँ, मुझे कही स्थान नही है। मुझे भीतर मत बुलाओ—"

शशि को वही देहरी पर बैठने के लिए झुकती देख शेखर ने मर्माहत स्वर में कहना आरम्भ किया, "शशि—" फिर एकाएक उसने जाना, वह बैठना स्वेच्छामूलक नही है, शशि इसलिए बैठ रही है कि वह खडी नही रह सकती। उसने दौड कर भुजा पकड़कर शशि को सँभाला और भीतर की ओर लिवाने लगा।

"हाँ, मै कहती हूँ। सोच लो, शेखर, अभी समय है। कोई कारण नही है कि तुम मुझे भीतर बुलाओ या आने दो। मैं रुकने नही आई—किसी को सकट मे डालना मुझसे नही होगा—और तुम्हे—तो—कभी नही " उसका स्वर टूट गया, आयास-पूर्वक उसने कहा, "तुमने आगे ही जो दिया है—"

शेखर ने दूसरे हाथ से उसका मुँह बन्द करते हुए उसे चारपाई तक पहुँचाया, बलात् बिठा दिया, और फिर हल्के दबाव से लिटाने का यत्न करने लगा—

दबी हुई कराह के साथ शशि ने कहा, "नही, बैठी रहने दो—"

शेखर ने तनिक अलग हटकर कहा, "क्यो निकाल दिया है, शशि ?" और फिर तत्काल ही, "अगर कहने मे कष्ट होता है तो रहने दो—"

"कहूँगी। अभी मुझे जाना जो है। उन्होंने कहा है, मै भ्रष्टा हूँ, पापचारिणी हूँ।"

थोडी देर की स्तब्धता के बाद "क्यो ?"

"मै रात-भर बाहर रही थी—"

"क्या ? तुमने उनसे कहा नही कि तुम यहाँ आई थी—मेरे पास थी ?"

शशि देख तो कही कुछ नही रही थी, फिर भी उसने मुँह फेर लिया। बोली नही।

"तुमने क्यो नही कहा ? मै अभी जाता हूँ—"

तडपकर, "नही, नही ! तुम मत जाओ—"

"क्यो—"

"नही, शेखर, नही ! मै—"

"तुमने कहा नही ?"

शशि ने किसी तरह मुँह से निकाला, "वे—जानते थे।"

"तब ?"

जैसे बाढ से नदी के करारे धीरे-धीरे टूटकर गिरने लगे, वैसे ही शशि का धैर्य टूट रहा

था। क्रमश तीखे होते हुए स्वर से उसने कहा, "मुझसे मत कहलाओ, शेखर, मैं नही दुहरा सकती तुम्हारे आगे वह बात—"

"मैं तुमसे कोई और हूँ, शशि ?"

"ओह, तुम नही समझते, शेखर तुम नही समझते! वे कहते हैं—तुम्हे पता नही क्या कहते हैं वे—वे कहते हैं—मैं रात यहाँ रही थी—यही तो कहते हैं—मैं भ्रष्टा हूँ—ओ, नही नही, शेखर!"

स्वर तीखा होकर एक हिचकी-सा बन गया था, फिर एकाएक मौन छा गया और सर्राता हुआ बहता-रहा.

देर बाद शेखर ने कहा, "मैं समझ गया, शशि! बस" और कुछ रुककर फिर आवृत्ति की, "मैं सब समझ गया"

उसका स्वर इतना शान्त और स्थिर हो गया था कि शशि की बिखरी हुई दृष्टि एकाएक उस पर केन्द्रित हो गई, और उसने शकित स्वर मे पूछा, "क्या करोगे, शेखर ?"

सोचते हुए स्वर मे, "नही, वैसा अब नही करूँगा, शशि। कुछ नही करूँगा।" फिर, "और तुम, शशि ?"

"मैं क्या ?"

"तुम क्या करोगी ?"

शशि एक खोखली निर्बल हँसी हँसी—"मैं!" फिर गम्भीर होकर बोली, "शेखर, तुम अब भी कह दो, मैं चली जाऊँ। मैं सचमुच चली जाऊँगी। मैं सचमुच चली जाऊँगी। कह दो न!"

शेखर ने आहत झिडकी के स्वर मे कहा, "क्या कह दूँ ? तुम्हे क्या—"

"तुम्हारे ही लिए वह आसान हो, यह नही है, मेरे लिए भी उसमे सुविधा होगी शेखर—"

शेखर खिडकी के पास जा खडा हुआ। बोला, "कहते है, ऊँचाई मे आकर्षण होता है—भयानक आकर्षण।" फिर इस बात का प्रसग स्पष्ट करने के लिए, "चौतल्ले की खिडकी से एक जन भी कूद सकता है, दो जन भी कूद सकते है। वह एक रास्ता है।"

काँपते हुए वारण के स्वर मे, "शेखर!"

'नही, मैं नही कहता कि यह रास्ता ग्रहण ही किया जाय। एक दूसरा रास्ता भी अवश्य—होगा।"

"रास्ता! क्या ?"

शेखर ने झटके से घूमकर कहा, "शशि, वायदा करो कि तुम कुछ नही करोगी, कही नही जाओगी—"

"मैं—कहाँ जाऊँगी—कहाँ नही जाऊँगी ?"

"टालो मत, शशि, कहो, तुम जाओगी नही—"

" . . "

"कहो शशि, वचन दो—"

"तुम यही कहते हो, शेखर ? सम्पूर्णतया यह कहते हो—"

"शशि, इतना विश्वास करोगी मुझ पर—"

शशि ने धीरे-धीरे कहा, कुछ ऐसे प्रश्नात्मक भाव से जैसे प्रयोग करके देख रही हो कि ये शब्द सुनने मे कैसे लगते है, "नही जाऊँगी। शायद न जाना ही—देना है—पाई-दमडी चुकाना—" फिर शिथिल भाव से, मानो बातचीत मे अब किसी पक्ष को कुछ कहना-सुनना नही है, उसने आँखे बन्द कर ली

शेखर कमरे मे इधर-उधर टहलने लगा, जो कुछ उसने सुना-कहा था उसे पूरी तरह समझने और अपनाने का प्रयत्न करने लगा पिछली रात से जो आत्मीयता का वृत्त स्थापित-प्रकट—हो गया था, उसके बारे मे उसके मन मे रत्ती-भर भी सशय नही था—शशि असन्दिग्ध और अपरिहार्यरूप से उसके 'इह' का अश थी, और शशि के साथ खडे होने का जो कर्त्तव्य उसने अपनाया था उसकी करणीयता—और प्रीतिपूर्वक, गौरव मानकर करणीयता—भी उतनी ही असन्दिग्ध थी, किन्तु क्या इस असन्दिग्धता को देखना केवल एक समस्या की ही असन्दिग्धता देखना नही है, क्या उस समस्या का निराकरण भी उसमे उतना ही असन्दिग्ध है ? उसे बोध हुआ कि 'दूसरा रास्ता भी होगा' के आग्रह मे 'दूसरा रास्ता है' का आश्वासन नही है। वह आश्वासन—

शशि उठकर खडी हो गई और लडखडाती गति से द्वार की ओर बढी—

शेखर ने सहारे के लिए बढते हुए कहा, "हाँ, शशि—"

"नही, तुम यही ठहरो, मै जरा बाहर जाऊँगी—"

शेखर ने कुछ शकित स्वर मे कहा, "शशि, तुम वायदा कर चुकी हो—"

"शेखर, मै अभी आई, तुम यही कमरे मे ठहरो—" फिर एक क्षीण और तत्काल वेदना मे मिट जानेवाली मुस्कान के साथ, "डरो मत "

शेखर जडवत् कमरे के बीच मे खडा रहा, किन्तु उस जडता मे चौकन्नापन था—उसने बाहर से पानी फेके जाने का स्वर सुना और फिर एक हाँपी हुई कराह, फिर नल से बहती धार की आवाज .

"शेखर—"

शेखर लपककर बाहर पहुँचा, शशि नल के सहारे झुकी खडी एक अन्धा हाथ उसकी ओर बढा रही थी—शेखर ने सहारा देकर उसे भीतर लाते हुए पूछा, "क्या है, शशि ? क्या हुआ है—"

"कुछ नही, कुछ नही—"

यह अनावश्यक आग्रह क्यो ? शेखर ने चिन्तित स्वर से पूछा, "डाक्टर बुला लाऊँ ?"

"नही, कुछ नही है शेखर—" किन्तु चारपाई पर लेटती हुई शशि फिर एकाएक सिकुड-कर अधबैठी रह गई, फिर मुश्किल से एक करवट सिमटकर निश्चल हो गई, एक हाथ

धीरे-धीरे उठकर माथे तक गया और टिक गया; उँगलियाँ सरककर केशो की ओर बढी और तीन नख वीर-बहूटी से ओझल हो गए—एकाएक शेखर ने देखा कि यद्यपि शशि की आँखे खुली है, तथापि वह न कुछ देखती है, न जानती है, यह भी नही कि शेखर वहाँ है—या कि वह है भी

क्या एकता का वल मृत्यु का बल है—क्या एक दूसरे को पहचान लेने का यही पुरस्कार है कि दोनो के पास कहने को कुछ नही है, विनिमय के लिए कुछ नही है, एक ओर अन देखती नि स्पन्द आँखे और दूसरी ओर विमूढ, हतबोध पाषाण ? एकाएक समूची परिस्थिति की इयत्ता—रामेश्वर के वार की, शशि की चोट की, दारुणता—शेखर के चेतना-मुकुर पर हथौडे की मार की तरह पडी, वह तिलमिला गया। एक तनाव उसके सारे शरीर मे जाग-कर उसकी भवो मे सचित हो गया, और शशि पर टिकी हुई उसकी दृष्टि को क्षण-भर के लिए धार दे गया, फिर उसने झुककर धीरे-धीरे शशि के पैताने से कम्बल छुडाकर उसे उढा दिया, पुरानी शाल कन्धे पर डाली और बाहर चल पडा।

"कहाँ—जा रहे हो ?"

शेखर चौक पडा, पर विना रुके वोला, "मैं—आया, शशि, तुम लेटी रहो—" और जल्दी से उतर गया। कोई कार्यक्रम उसके मन मे स्पष्ट नही था, केवल इतना स्पष्ट था कि वह रामेश्वर से साक्षात् करने जा रहा है।

रामेश्वर देहरी के ठीक सामने वैठा था, शेखर ने उसे क्षण-भर पहले देखा, किन्तु क्षण ही भर मे रामेश्वर के चेहरे का बन्द झिलमिल का-सा भाव प्रतिकूलता से कँटीला हो आया, घनी और पहली ही मिली हुई भवे सेहुड के झाड-सी उलझ गईं—

"तुम्हारी इतनी मजाल—क्या करने आए हो तुम यहाँ पर—"

रामेश्वर की गरज को उपेक्षा से एक ओर ठेलते हुए शेखर ने कहा, "क्या करने आया हूँ, यह तो यही पर तय करूँगा, पर आपने यह किया क्या है—होश मे है आप ?"

"वेहया पैरवी करने आया है—तेरे पास गई नालिश लेके—निकल जाओ मेरे घर से—तुम्हारी क्या लगती थी वो—" रामेश्वर का चेहरा घृणा और प्रतिहिंसा से वेहद कुरूप हो आया, उसके नथने और ओठ फडकने लगे, शेखर ने जान लिया कि उसका विद्वेष अस-गति की उस सीमा पर पहुँच गया है कि अगर रुक-रुककर नही बोलेगा तो तुतलाने लगेगा! पर आखिर उसे इतने रोष का अधिकार क्या है—क्या वह प्रपीडित है ? वह, नृशस अन्धा आततायी! उसने कडे पडकर कहा, "मै जवाव देने नही, माँगने आया हूँ—"

रामेश्वर कई क्षणो तक गीले पलीते की तरह "तु-तु-तु" करता रहा, मानो शेखर की स्पर्धा पर उसके चेहरे का तमतमाया हुआ विस्फार निर्वाक् हो गया हो। शेखर ने इस अव-सर से लाभ उठाते हुए एक तने हुए, द्रुत स्वर से कहना शुरू किया, "शशि मेरे पास थी, मै देर से लौटा था, वह मुझे आत्म-घात—" क्षण-भर अटककर, "तसल्ली देने ठहरी थी,

फिर वर्षा—" किन्तु फिर अनुभव करके कि वह जवाब दे रहा है, और वह भी कुछ असंगत, उसने ओठ काटकर वह वाक्य अधूरा ही छोड दिया। "आप कितना बडा अनर्थ कर रहे हैं, आपको पता नही है। शशि—आप उसके पैर छूने लायक भी नही है, और आप—" उसे विस्मय हुआ कि शशि के प्रति कोई अव्यक्त दायित्व उससे अब भी इस व्यक्ति को 'आप' कहकर सम्बोधन करा रहा है।

फटे हुए बाँस पर आरी के दराँतो का जैसा स्वर होता है, वैसे स्वर मे रामेश्वर के पिछली तरफ दूसरे कमरे के किवाड से कोई सहसा बोला, "तो जा चाट उसके तलुवे तू—तुझसे चटवाकर उसका जी ठण्डा होगा—"

शेखर ने चौककर देखा, रामेश्वर के पीछे एक स्त्री का चेहरा है जिसकी असख्य साँवली झुर्रियो मे से रामेश्वर की बासी प्रतिकृति झाँकती है, वही झखाड-सी भवे है किन्तु उनके नीचे के विवरो मे आँख की जगह फफूँद के गुल्म है क्या रामेश्वर की माँ है? शेखर ने उसे पहले नही देखा था, न जानता था कि वह कब, कैसे आई है।

"तसल्ली देने ठहरी थी इसे! रात-भर तसल्ली पाकर ही इतना हौसला हो गया है—बदमाश बदकार कही का!" साँप की फुफकार की तरह शेखर की ओर थूककर मानो उसे आवेश की नयी निधि मिली, और शेखर ने देखा कि उसके पार्श्व मे एक बूढा चेहरा और आ गया है जिसकी खिचडी मूँछे काँप रही है।

"यही असली पाजी है, कम्युनिस्ट बना फिरता है। अभी साल की जेल काटकर आया है, भले घर मे कोई घुसने नही दे, कम्युनिस्ट तो औरत को साझामाल मानते है, नास्तिक! इनका तो काम ही है लडकियो को बरगलाना और सुधार के नाम पर रडियाँ बनाना। टुच्चे तो होते है, पैसा पास नही होता, सस्ता तरीका यही है। पहले बहिन, फिर कामरेड, फिर रडी। किसी का घर बिगडे, इन्हे क्या—इन्हे तो रडी मिलती है—भले घर की, जवान, और मुफ्त!" मानो इस जाति के लोगो का अपराध वर्णनातीत हो, इस भाव से भरकर अपने भीतर का सारा विष एक ही शब्द मे उगलते हुए उन खिचडी मूछो ने क्षण-भर रुककर फिर कहा, "कम्युनिस्ट!"

शेखर को लगा कि यह कोई दूसरी दुनिया है; कर्दम और फिसलन और काली वमी की कोई दुनिया जिससे विषैली भाफ उठती है—चकित और विमूढ वह इस कुत्सित दुहरे आक्रमण पर क्रुद्ध भी नही हो सका, केवल हतवाक् रह गया। पर रामेश्वर के गुस्से का घोडा जैसे इस कोडे की दुहरी मार से तिलमिलाकर लगाम तुडा भागा—रामेश्वर ने एकाएक आगे बढकर एक थप्पड शेखर के मुँह पर मार दिया।

अवश्य ही यह एक दूसरी दुनिया है, जिसमे सोचकर, विवेक-से—या इच्छा से भी—कुछ नही होता, सब कुछ अपने-आप, घटना के भीतर किसी अशिव, आसुरी शक्ति की प्रेरणा से होता है—घटना की कौंध अपने-आपको आँक जाती है धुँधली-सी रेखा कि शेखर के मुँह पर थप्पड पडा है, स्वय चालित प्रतिक्रिया कि शेखर के हाथ ने उठकर

आक्रान्ता की कलाई को जकड लिया है, कि मुट्ठी क्रमश कडी पडती जाती है और कलाई को पीछे मोडती जा रही है---कलाई जिसमे हिंसा पथरा गई है और जो अब उस जकड के नीचे कॉपने लगी है। धुँधला-सा विचार कि वह जकड इतनी कडी पड जायगी कि कलाई की हड्डियाँ कडकडा जायँगी--कि कलाई रामेश्वर की है, कि वह कलाई न होकर रामेश्वर की गर्दन होती तो—होती तो

किन्तु क्यो है वह कलाई, क्यो नही है वह गर्दन ? अवश्य वह गर्दन है, जैसे कलाई कडकडाती है, वैसे ही गर्दन भी कडकडा सकती है, क्योकि जकड मे कुछ ईप्सा नही है, कामना नही है, वह केवल जकड है, आसुरी शक्ति जो अपने-आप चलती है, यद्यपि उसके पैर अन्धे है--

दूसरी दुनिया के पर्दे को फाडकर एक स्पर्श शेखर की भुजा पर पडा और शशि ने कहा, "शेखर।"

मुट्ठी की जकड खुल गई, पर स्तब्ध हाथ वही का वही रह गया। फिर एकाएक शेखर को लगा, वह किसी गिजगिजी, गलीज़ चीज़ को पकडे था, उसने उँगलियाँ फैलाई और फिर हाथ एकाएक नीचे गिर पडा।

सन्नाटे मे उस आसुरी शक्ति का प्रवाह बहुत देर तक अप्रतिरोध बहता रहा

फिर शशि ने कहा, "मै डरती थी कि तुम यही करोगे। यहाँ क्यो आए तुम ?"

शेखर का सम्पूर्ण विद्रोह उसके मौन मे से झाँकता रहा।

"तुम जाओ यहाँ से--"

शेखर की आँखे स्थिर होकर शशि की आँखो मे गड गई। कुछ क्षणो के बाद उसने पूछा, "और तुम ? तुम भी चलो--"

"तुम चले जाओ। तुम यहाँ से मेरे कहने से जाओ।" उसके स्वर मे आज्ञा का गर्व था जो जानता है कि उसकी प्रभुता केवल आसपास की प्रजा को ही नही, उस मिट्टी को भी चलाती है जिसपर उसके पैर खडे है, क्योकि वह भी उसकी सम्पत्ति है।

शेखर चुपचाप लौटकर सीढियाँ उतरने लगा। इस निष्कासन पर उसका सारा व्यक्तित्व चीत्कार कर रहा था, किन्तु उसके मुँह से एक शब्द नही निकला और उसके विवेक ने किसी विचार का स्पष्ट निश्चय किया तो यही कि एक नही, पचास शेखर भी जितनी श्रद्धा, जितनी आस्था, जितना प्यार इस राज्ञी को दे सकते है, वह सब उस एक क्षण के सामने हेय और नगण्य है।

उसने मुडकर नही देखा, किन्तु वह किसी छठी इन्द्रिय के सहारे सब जान रहा था जो उसके पीछे हो रहा है चार स्तब्ध शरीर, शशि की आँखे एक वृत्त बनाती हुई एक से दूसरे पर, दूसरे से तीसरे पर जा टिकती है और खडी रहती है। उस दृष्टि मे क्या है, उसे पढने की योग्यता किसी मे नही है, उसमे भी नही, जिस पर जाकर वह टिक गई है, और जिससे वह आगे नही बढेगी, सहसा अपने भीतर सिमट आएगी।

[illegible] के बिस्तर [illegible] और आँगन में [illegible] लगने का [illegible] स्वर। [illegible], उसके [illegible] सीढ़ी [illegible] थी। [illegible] कुछ [illegible], [illegible] और फिर धीरे-धीरे [illegible] सीढ़ी [illegible] लगा। तब उसने जाना कि उसके पीछे बहुत धीमा [illegible] भी [illegible] है।

सीढ़ियों के [illegible] पीछे [illegible] किन्तु [illegible] में मुड़ के [illegible] 'हटो हूँ—'

उसी [illegible] स्वर में [illegible] उठा।

'[illegible] उसकी [illegible]—तुम्हें।'

शेखर [illegible] कि [illegible] उसके ऊपर [illegible] है। [illegible], किन्तु [illegible] कि शशि उसके बराबर [illegible]

* * *

कमरे में घुसते [illegible] जितना कुछ जानने को था, जितना कुछ पूछने को था और शेखर ने अब नहीं जाना और नहीं पूछा, पूछा अभी भी नहीं, और जाना भी न जाने [illegible] की [illegible] बातों की [illegible] के सहारे पूछने और जानने का समय भी नहीं था, शेखर भी जानता था कि [illegible] देखता है उसके पीछे और उसके [illegible] में उसके अधिक [illegible] का कुछ घटित हो गया है, होता रहा है, किन्तु इस भावना के बाद, जानने और पूछने का मौका कब था जब कि [illegible] और [illegible] [illegible] थी और जवाब माँगती थी।

शशि चारपाई पर लेटी रही, पड़ी थी अर्धनिद्रा की तरह एक करवट लिये हुए। उसकी पलकें [illegible] थीं और कुछ देर बाद खुल जाती थीं। शेखर जानता था कि वह [illegible] रही है।

शशि स्वस्थ नहीं है, कुछ प्रबन्ध करना होगा—बिस्तर नहीं है, शशि के पास कपड़े भी नहीं हैं, खाने की व्यवस्था—ऐसा नहीं है, कुछ भी नहीं है...

शाम होने से पहले-पहले कुछ प्रश्नों का उत्तर तो आवश्यक था ही। शाम का खाना होटल से आता है, पर होटल को सूचना देनी होगी—इस समय के लिए वह स्वयं कुछ बना लेगा—होटल, बस से पहले बिस्तर और ओढ़ने के लिए अधिक कम्बल।

शेखर ने बदलने के लिए कपड़े निकाले और बाहर जाने लगा। शशि ने निष्प्रभ स्वर से पूछा, "अब कहाँ जा रहे हो?"

"जरा कालेज जा रहा हूँ, घण्टे-भर में लौट आऊँगा।" फिर एक कदम वापस आकर, "शशि, घबराना मत, मैं और कुछ नहीं करना। और तुम—तुम यहीं लेटी रहो, बाहर मत निकलना।"

कपडे वदलकर शेखर फिर शशि के पास लौटा और थोडी देर उसे देखता रहा। फिर वोला, "तुम अव सो जाओ, वहुत थकी हो। रात-भर बैठी रही, और सवेरे से—"

शशि ने अनुगत-भाव से उत्तर दिया, "अच्छा सो जाऊँगी।"

चलते-चलते शेखर ने दुलार से मुस्कराकर कहा, "मै वच्चा हूँ कि तुम ?"

डेढ घण्टे वाद जव वह होस्टलो से बगल मे तीन कम्वल, एक दरी और एक नमदा लेकर, जेब मे उधार के दस रुपये डाले और मुँह पर तात्कालिक सफलता का भाव लिए लौटा तो शशि फिर नल के पास निश्चल बैठी थी, और पानी बहे जा रहा था

शेखर ने अपना विस्तर झाडकर, नयी चादर निकालकर चारपाई पर शशि के लिए विछा दी, और कमरे के कोण के दूसरे भाग मे अपने लिए विस्तर करने का निश्चय करके वाकी कपडो का गोल वहाँ डाल दिया। फिर वह शशि को चारपाई तक लिवा लाया, उसके मन की सतह पर आशका की एक वर्फीली पपडी जम गई और वह शशि से कुछ पूछ भी नही सका, उसे लिटाकर कुछ खाने का प्रवन्ध करने वह कोठरी मे गया तो देखा, अँगीठी मे आग है, रसोई के वर्त्तन विखरे पडे है, दाल और उवले आलू का शाक एक ओर पडा है, कुछ-एक रोटियाँ भी वनी रखी है, पर काम जैसे वीच मे छोड दिया गया है, आटा भी ढँका नही है और कोठरी की खिडकी मे दो गौरैया चिडिया ताक मे बैठी है कि कब चोच भर ले जायँ—आटे मे चोच के दो-एक चिह्न भी है उसने कमरे मे लौटकर जरा ज़ोर से कहा, "शशि तुम——तुम वडी नालायक हो।"

शशि ने अपराधी की तरह मुस्कराते हुए कहा, "मै क्या करती, वर्त्तन समेटने का वक्त ही नही मिला, अभी ठीक-ठाक कर देती हूँ—"

शेखर ने निहत्थी झल्लाहट के साथ कहा, "मै यह कह रहा हूँ ? तुमने काम क्यो किया—अच्छा, अव अपनी करतूत का फल चखो, तुम बैठो, मै थाली परोसकर लाता हूँ।"

"मैने कोई अपने लिए वनाया है ? तुम खाओ—"

"यह तुम्हे दण्ड दिया गया है कि पहले तुम खाओ, फिर वर्तन धो-धाकर मै खाऊँगा——"

"नही, यह अन्याय है——तुम्हे खाना पडेगा।" फिर——अनिच्छापूर्वक, "वर्त्तन चाहे मुझे मत माँजने देना—"

"अच्छा, माफ किया। अपने लिए भी साथ ही ले आता हूँ—"

शशि ने मुर्झाए स्वर मे कहा, "नही, शेखर, मै नही खाऊँगी।"

"क्या ? पहले ही दिन तुम रोटी वनाकर खिलाओगी ओर आप उपवास करोगी ? क्या समझा है मुझे तुमने ? मै—विल्कुल नही खाऊँगा।" फिर स्थिति को कुछ हल्का करने के लिए, 'आप' शव्द के आकार को ऐसे ढग से लुप्त करते हुए कि शशि पहचान ले, शेखर पिता की नकल उतार रहा है, "मै अतिथि-पूजक आऽर्यो की सन्तान हूँ—"

शशि ने किंचित् मुस्कराकर उसके प्रयास को स्वीकार करते हुए कहा, "अतिथि वनकर

मैं सवेरे आई थी—पर तुमने अतिथि रहने नहीं दिया। अब तो मैं—" एकाएक स्वर बदलकर, "हाँ, अब भी अतिथि ही बनाना चाहो तो—" शेखर का मुँह देखकर शशि फिर रुक गई और बोली, "नही कहती, लो। तुम्हे दु:खी नहीं करना चाहती, शेखर, मैं जरूर खाती, पर मैं—खा सकती नही—"

एकाएक चिन्ता मे भरकर शेखर ने कहा, "क्यो शशि? क्या हुआ है तुम्हें—तुम्हे कही—चोट आई है?"

"मैं—मुझे—मेरी तबियत ठीक नही है—"

शेखर ने जान लिया कि इसमें स्वीकृति नहीं, छिपाव है, किन्तु वह शशि को जानता है, अगर उसे कुछ नहीं बताना है तो नही बताना है, आग्रह व्यर्थ है।

"तो बिल्कुल नहीं खाओगी—थोडा-सा भी?"

"नही, शेखर। तुम अपनी थाली यहीं ले आओ, मेरे सामने खाओ तो मेरा भी खाना हो जायगा—"

" "

"ना मैं किसी तरह नही सुनूंगी—नहीं तो मैं समझूंगी, मेरे हाथ का खाना तुम्हे अग्राह्य—"

शेखर चुपचाप कोठरी की ओर चल पडा।

बिना भूख मिट्टी के गोले निगलने मे भी इतना आत्म-दमन करना पडता है कि नही, नही मालूम। पर शेखर के मन मे कही धुँधला-सा यह ज्ञान भी है कि शशि से उसकी ओर स्नेह की एक आप्लवनकारी धारा बही आ रही है, और उसके अन्तर का स्नेह स्वय शशि की ओर उठ रहा है, जैसे जल-प्रपात मे गर्त की उत्सुक फेन-धारा को सिर-आँखो पर लेने के लिए उमड-उमड आती है और यह कि दु:ख और लाञ्छना की खाद मे यह जो दुहरे वात्सल्य का अकुर फूटा है, यह मानव जीवन के सबसे बडे और अलौकिक चमत्कार का उन्मेष है

* * *

मैं सचमुच बहुत-सी बातें नही जानता था उस समय और पहले तो भाँपने की, कल्पना करने की भी सामर्थ्य नहीं थी। फिर क्रमश: जान गया। किन्तु जानने और न जानने की अवस्थाओ के बीच कोई रेखा नही खींच सकता, स्पष्ट याद नही कर सकता कि कब घटना के पीछे का पूरा इतिहास मुझे बताया गया। बताया गया अवश्य, क्योकि वह जैसे मेरे चेतना-कोष की एक अलग मंजूषा है जो मानो कभी उस कोष के बाहर नही था, सदा से उसका अग है—मेरे अस्तित्व का अग। इतना अभिन्नतम अग, कि जब याद करता हूँ तो जान पडता है, वह सब मेरी अपनी अनुभूति है, शशि की अनुभूति के श्रवण पर टिकी हुई कल्पना या चित्र नहीं। याद मे मैं स्वय शशि हो जाता हूँ, उसके विचार सोचता हूँ, उसकी

स्मृतियाँ याद करता हूँ, उसकी वेदना सहता हूँ, उसका मौन, स्पर्धाहीन अटूट अभिमान मुझमे जाग उठता है शशि अब नही है, किन्तु मै शशि हूँ, इसलिए मै भी अब नही हूँ, केवल था। किन्तु अब भी मै अपने से अधिक उसके दु ख से दु खी हूँ, उसके अभिमान से उन्नत, अत वह जीती है

कहते है कि जिन घटनाओ का अनुभव बहुत तीव्र अनुभूति के साथ किया जाता है, वे चेतना के पट पर पत्थर की लकीर की तरह अमिट खिच जाती है, और उनका स्मरण एक पूरे चित्र का स्मरण होता है, इस या उस रेखा या आकृति का स्मरण नही। अर्थात् स्मृति मे वे घटनाएँ आती है तो एक अनिवार्य, परिवर्त्तनहीन अनुक्रम लेकर, जिसमे स्मरण करने-वाले की कलम की स्वेच्छा नही, घटना की बाध्य अनुगतिकता है एक दूसरा सिद्धान्त है कि तीखी वेदना-जन्य अनुभूति को चेतना भुलाने का प्रयत्न करती है और क्रमश आत्म-प्रतारणा के इतने पर्दो मे लपेट देती है कि उसकी आकार-रेखा बिल्कुल ओझल हो जाती है, व्यक्ति की स्मृति मे बिल्कुल निकल जाती है। किन्तु मै देखता हूँ कि तीव्रतम अनुभूति की ये घटनाएँ न तो स्मृतिपट से मिटती है, और न पत्थर पर लिखे हुए इतिहास की तरह नित्य और अचल है। देखता हूँ कि कुछ दृश्य है जो बिजली की कौंध की तरह जगमग है, कुछ और है जो बुझ गए है ओर घटना के अनुक्रम का धागा तोड गए है, तोड ही नही, उलझा भी गए है, जिससे मै उन ज्वलन्त घटनाओ को भी ठीक कालक्रम से नही देखता—मनमाने क्रम से जलती हुई आती है और चली जाती है, ओर मै दावे के साथ नही कह सकता कि क्या पहले हुआ, क्या पीछे हुआ, इतना ही कह सकता हूँ कि यह सब अवश्य हुआ, और इसमे यह ध्वनित नही है कि केवल इतना ही हुआ या कि इसी क्रम से हुआ

या कही यह बात तो नही है कि चरम-शास्ति की प्रतीक्षा करते हुए अभियुक्त के स्वीकारी भाव को दबाकर स्मृति के घोडे पर रचयिता की आकलन बुद्धि चढ बैठी है ? क्या अन्तिम दिनो मे अपने जीवन का अर्थ, अभिप्राय, उसकी निष्पत्ति और सिद्धि खोजता हुआ मै अपने उद्योग की सफलता के मोह मे पड गया हूँ—केवल अकन की निर्ममता से डिगकर सृजन की आसक्ति मे पड गया हूँ ?

किन्तु क्या सृजन ही सबसे बडी निर्ममता, सबसे बडी अनासक्ति नही है जब कि वह अपनी ही प्रतिमूर्त्ति को अपने प्राणो का दान है ?

और क्या घटना का सत्य ही सबसे बडा सत्य है, और उसका अनुक्रम ही जीवन का अनिवार्य अनुक्रम ? जो स्वीकारी है, उसके लिए क्या जीवन का अनुक्रम ही बडा नही है ? भीतरी और बाहरी दोनो क्रमो के विरोध का अविरोध भी क्या एक अधिक गहरा स्वीकार नही है ?

बाहर से आकर शेखर देखता है कि शशि की चारपाई के पास फर्श पर मौसी विद्यावती बैठी है। उसका हृदय धक् से हो जाता है, शशि, शेखर और रामेश्वर के त्रिकोण के बाहर

और भी ससार है जो सगत नही है, इस बात की जैसे वह अनदेखी कर गया था। समाज सगति के घेरे से बाहर है, इस बारे मे उसे सन्देह नही था, पर मौसी किसी तरह भी बाहर नही है यह भी असन्दिग्ध है, और इस दूषित उलझन मे मौसी—

शेखर ने स्थिर भाव से प्रणाम किया और कहा, "मौसी फर्श पर क्यो—"

मौसी ने हाथ के इशारे से उसे आशीर्वाद दे दिया, मुँह से कुछ नही बोली, शेखर ने एकाएक देखा कि उनका चेहरा बिल्कुल पीला है और आँखो के नीचे के काले अर्धचन्द्र के नीचे से निकलकर दो रेखाएँ ओठो के कोने छूती हुई ठोडी को घेरने जा रही हैं, और शशि का चेहरा उनकी ओर है पर आँखे चारपाई की बाही पर गडी हैं—

शशि ने कहा, "शेखर, तुम अभी बाहर जाओ।" वह ठिठका, फिर लौट गया, शशि मे उसका विश्वास आत्मविश्वास से बढ गया था। आँगन में पहुँचकर उसने पीछे किवाड भी बन्द कर दिया, और आँगन मे टहलने लगा। एकाएक कोठरी मे पहुँचा और सब चीज़ो को उलटने-पलटने और ताक को पुन साफ करके सँवारने लगा

शेखर और डाक्टर बात कर रहे हैं। दाई ओर एक पर्दे की ओट मे शशि लेटी है, और पर्दे तथा डाक्टर के बीच मे मौसी खडी हैं, एक हाथ उनका पर्दे को पकडे ही रह गया है, मानो इस दुविधा में कि मौसी को उसके पीछे ही रहना चाहिए या बाहर आ जाना चाहिए।

"पेट मे अवश्य काफी चोट आई है। बहुत एहतियात करना होगा। कोई सीरियस बात नही है, पर आप जानते हैं अन्दरूनी चोट के सेप्टिक हो जाने का अन्देशा रहता है। दवा मैं दे रहा हूँ, बाकी पूरा विश्राम सख्त जरूरी है, और खाने को कोई ठोस चीज़ मत दीजिए।"

"जी।"

डाक्टर नुस्खा लिखने के लिए झुके है, पर्दे की ओट से शशि के उठने से मेज के चर-मराने का स्वर आता है—

मौसी पूछती हैं, "और पीठ का दर्द—"

"वह तो अपने-आप ठीक हो जायगा—गिरने से झटका आ गया होगा—" फिर कुछ सोचकर, "कहाँ दर्द होता है?" और पुन उठ खडे होते हैं, शेखर अकेला पर्दे की ओर देखता हुआ रह जाता है।

"यहाँ? यहाँ? और जरा झुक जाइए तो—" फिर एकाएक बदले हुए स्वर से, "ओह"

दृश्य फिर पूर्ववत् हो जाता है, मौसी का हाथ वही पर्दे पर है, डाक्टर शेखर के सामने हैं, पर चेहरा दूसरा है।

"क्यो, डाक्टर साहब—"

डाक्टर साहब गहरी दृष्टि से शेखर की ओर देखते हुए कहते हैं, "आप हज़बैंड हैं?"

"नही, मेरी वहिन है।"

"ओ. माफ कीजिए, और ये मदर है ?"

मौसी की ओर उन्मुख होकर, "माताजी, ये आप ही के साथ रहती है ?"

शेखर उत्तर देता है, "नही, ससुराल मे रहती है, हम लोग तो दिखलाने लाए है—क्यो, क्या बात है ?"

डाक्टर चुप हो जाते है। देर वाद, जैसे कुछ सोचते हुए, कुछ निर्णय करते हुए, कहते है, "माताजी, यह पीठ की चोट तो गिरने की चोट नही है।"

"और ?"

डाक्टर का मौन जैसे उन्हे कहता है, "मै कई सन्तान का पिता हूँ, आपका अपना भी अनुभव है—"

मौसी मुडकर पूछती है, "शशि, तुम्हे याद नही, यह चोट कैसे लगी ?"

शशि नही वोलती, मौन का जैसे अन्त करते हुए डाक्टर कहते है, "इस चोट के लिए लिनिमेण्ट देता हूँ; हल्की मालिश करके सेक दीजिए।" फिर क्षणभर के विकल्प के बाद, शेखर से, अग्रेजी मे, "इट्स नॉट एक्सिडेटल, इट इज ए डेलिवरेट ब्लो, द किडनी इज रप्चर्ड।" (यह आकस्मिक चोट नही है, जान-बूझकर किया हुआ आघात है—गुरदा फट गया है।)

शेखर भी अग्रेजी मे पूछता है, "इज इट डेंजरस ?" (क्या चोट साघातिक है ?)

"नो, वट् इर्रेपेरेब्ल् " (नही, किन्तु असाध्य—)

"ह्वाट ट्रीटमेट वुड यू एडवाइज ?" (आप क्या इलाज सुझाते है ?)

"रेस्ट, एड एड्योरेस—करेज, चीफली करेज " (विश्राम और धीरज, मुख्यतया धीरज)

डाक्टर को ख्याल आता है कि लगातार अग्रेजी वातचीत भी अधिक आश्वस्तकर नही होती, मौसी की ओर उन्मुख होकर कहते है, "पूरा विश्राम वहुत जरूरी है—यह नुस्खा डिस्पेन्सरी से ले लीजिए—दो-तीन दिन वाद फिर देखना उचित होगा—" मानो अनुमति है कि रोगी को लाने के वजाय मुझे वही वुलाया जा सकता है—

दोतल्ले पर रामेश्वर का कमरा, अपमान की शिंजिनी से तना हुआ शशि का देह-चाप, धनुष-सा ही सधा हुआ, सामने रामेश्वर का चेहरा, सजीव दिवार-सा जो नीव हिलने से टूटकर गिरने को है, उसके पीछे दो और दीवारे जो गिरेगी नही क्योकि पहले ही ध्वस्त है और वरसो की फफूँद से ढेर-सी हो गई है

सास के हाथो फेकी गई राख को एक हाथ से आँखो के आगे से पोछते हुए शशि कहती है, "अगर आप सबका यही अटल निश्चय है तो—"

दोनो हाथ जोडकर वह सिर थोडा-सा झुकाती है, सिर पर पडी हुई राख के दो-चार कण झरकर हाथो को छूते हुए नीचे गिर जाते हैं, वह मुडती है, एक कदम आगे सीढी है, एक सीढी वह उतर गई है—

आरी किचकिचाती है, "देखो वेहयाई—"

आरी की रडकन से जैसे वह दीवार ढह पडती है, रामेश्वर झटककर आगे बढता है और चट्टी पहने हुए पैर की भरपूर ठोकर शशि की पीठ पर पडती है, "कुलटा।"

कमान दुहरी हो जाती है, फिर प्रतिक्रिया से शिजिनी रुनुक उठती है, "आपकी अन्तिम देन पीठ फेरकर नही लूँगी, लीजिए, अव दीजिए—" और टूटती दीवार के सामने एक और दीवार खडी हो जाती है जो कमान-सी लचकीली है इसलिए टूटेगी नही—

आरी उत्साह से किचकिचाती है, "मार और एक, मार—"

पेट मे लगी हुई लात से शशि एक वार 'हुक।' करके रह जाती है,उसकी आँखो के आगे अँधेरा छा जाता है, दीवार टटोलती हुई वह घूमती है कि इस आमुख पाई हुई भेट के वाद अव चले—

ताँगे मे पीछे मौसी का स्वर, "डाक्टर अँग्रेजी मे क्या कहते थे—"

मुडकर, "कुछ नही, कहते थे कि विश्राम वहुत जरूरी है, चुपचाप लेटी रहे नही तो तकलीफ वढ जायगी—"

मौसी शशि से पूछती है, "चोट कैसे लगी? गिरने से तो सचमुच—"

शेखर और अधिक मुडकर, "मौसी, आगे गिरने से कभी पीठ मे चोट लगती है? और मुँह-हाथ पर कोई—"

शशि धीमे से, "घर पहुँच ले—"

मौन मे केवल ताँगेवाले का जीभ चटकाना या कभी-कभी 'व-ए-च्चो-वएच।'

कोठरी की एक-एक चीज सँवारी जा चुकी है, बल्कि सारा रख-रखाव दो वार फिर वदला जा चुका है। क्या शशि और मौसी की वातचीत खत्म ही नही होगी, और क्या वह अव वाहर ही वाहर रहेगा?

और यह जो शशि उसके जीवन मे सत्य की तरह पैठ गई है—यह जो वह शशि के जीवन मे उल्का की तरह छा गया है, मौसी क्या उसे झेल लेंगी—झेल सकेगी? जिससे मौसी को वचाने शशि अपने को मिटा रही थी, वह तो अव भी मौसी के आसपास है—

शेखर नल खोल देता है और वर्त्तन लाकर धार के नीचे रखता है, ठण्डी छीटे जैसे उसे सहारा देती है—

आखिर भीतर मे मौसी की आवाज आती है, "शेखर।" शेखर उसमे पढ लेना चाहता है कि वह अपराधी ठहराया जा चुका है, या जवाव के लिए वुलाया जा रहा है या वरी है—

और मौसी के पास जा खडा होता है। मौसी मुँह उठाकर उसकी ओर देखती है, उनके चेहरे मे एक मूढ़ वेदना है, और कुछ नही—"वैठ जाओ।"

शेखर उनके पास ही नीचे वैठ जाता है।

"तुम क्या कहते हो ?"

न जानता हुआ कि प्रसग क्या है, शेखर कुछ वोल नही सकता।

"मै तो इसी विश्वास मे पली हूँ कि स्त्री का पति ही सव कुछ है। स्त्री भी पति की कुछ है, मै जानती हूँ, पर जिस तरह अधिकार देना सीखा था, उसी तरह लेना नही सीखा, और अव वूढी हो गई, कुछ नया नही सीख सकती।" स्वर मे प्रतिवाद, अभियोग, आदेश कुछ नही है, केवल प्रकटीकरण का भाव—

"शशि कहती है कि अव लौटना नही है। चाहने न चाहने का सवाल भी नही है, सकने न सकने का सवाल है। मै वहाँ से होकर आई हूँ।"

शेखर चौकता है, "कैसे" ?

"उन्होने तार देकर वुलाया था, तभी तो आई। वे कहते है कि उनके जाने शशि मर गई है, और हम सव थे ही नही। सास कहती थी कि अगर वह अव—पर छोडो, क्या लाभ याद करके—"

शशि कहती है, "माँ, कही उन्होने तुम्हारा अपमान तो नही किया—क्या कहते थे वे लोग—"

"वेटी, जिन्होने तुझे निकाल दिया उन्होने मेरे अपमान मे क्या कसर छोडी ! कहने लगी, अव वह तुम्हे घर ढूकने दे तो गोमास खाए, पतिघातिनी होय—"

"फिर—"

"फिर क्या ! लौटना तो अव नही है। पर पति को सर्वस्व मानने के लिए ससुराल लौटना ही एकमात्र उपाय है, यह तो मै नही समझती। जो रास्ता पति ही वन्द कर दे, उस पर चले विना भी धर्म निवाहा जा सकता है।" थोडी देर चुप रहकर, "शशि कहती है, वह अव मेरे साथ नही लौटेगी, और चाहे कही जाना हो—"

शेखर विना वोले शशि की ओर देखता है।

"माँ, तुम दु ख मत मानो, मै ठीक कहती हूँ—"

"शशि कहती है, मै लौट जाऊँ, और जैसे घरवालो ने उसे मरी समझ लिया है, मै भी समझ लूँ—मन से नही तो कर्म से।"

"क्यो ?"

उत्तर शशि देती है। "क्योकि मेरा जो भोग है, उसमे माँ क्यो फँसे ? उन्होने काफी भोग लिया है। अव उन्हे अलग रहना चाहिए, शादी करके उन्होने मुझे सौप दिया था, अव जो होता है उसका दायित्व क्यो ले ? और मै क्यो उन्हे लेने दूँ—"

"मौसी, अपराध सबसे अधिक मेरा है, मैंने ही धूमकेतु की तरह आकर सबको इतना दुःख दिया है—मैं—"

"नही, शेखर, जो होना था उसका सब जिम्मा अपने ऊपर मत लो—" फिर मानो मुख्य प्रसग की ओर लौटकर, "शशि कहती है कि मै तटस्थ रहूँ, और समाज जो दण्ड उसे दे उसे उसी को अकेली सहने दूँ।" वे शेखर की ओर देखती है, और उत्तर नही पाती, फिर कहने लगती है, "पर मै तटस्थ कैसे रह सकती हूँ ? अपने शरीर से जिसे बनाकर अपने लहू से बीस साल तक सीचा, उसे अपने ही हाथ से काट फेंकूं, यह क्या मेरी हार नही है ? कैसे अनदेखी कर जाऊँ मै—"

"माँ, ऐसे सोचने से काम नही चलेगा। तुम अभी तो मान चुकी हो कि मै न लौटूं—" सारी बातचीत मे पहली बार आवेश मे आकर शशि कहती है, "और मुझे घर ले जाकर मेरी सारी आफत तुम अपने सिर पर ले लो, उसमे मेरी हार ही नही, अपने को मारकर जो कुछ मैंने किया है वह सब भी इतना विफल हो जाता है कि—" फिर सहसा अपने को वश मे करके "और तुम हार से बच जाओ, ऐसा नही है।" कुछ देर रुककर "हाँ, यहाँ न रहने को कहो, तो—"

शेखर कहता है, "मेरे अपराध की चुकती मुझे भी करनी है। शशि से समाज को जो वसूलना है—"

"मै उसे यहाँ रहने से मना नही करती। मेरे साथ नही आती तो उसके बाद यही दूसरी जगह है। लोग मुझे कहा करते थे, पर मैंने बराबर सबको यही उत्तर दिया है कि इन दोनो की एक धमनी है—मैंने तुम्हे कभी अलग नही माना, शेखर, चाहे लोकाचार की दृष्टि से हमारा रिश्ता न कुछ के बराबर है। यहाँ भी रहे तो मेरे पास रहने के बराबर है—सिवाय इसके कि मैं अपनी सन्तान को छोड रही हूँ—शशि को ही नही, तुम दोनो को—"

शेखर की आँखे चरमरा रही है, वह चाहता है कि रो उठे, "मौसी, मौसी—मा—"

"माँ, अपनाना मन से होता है, तो छोडना भी मन से होता है। तुम अगर मुझे—हमे—मन से नही छोडोगी तो क्यो तुम्हे क्लेश होगा ? और—हम भी—कभी भूलेंगे नही कि—"

मौसी शेखर की ओर उन्मुख होकर कहती है, "और तुम्हारे पिता को—मैं क्या उत्तर दूंगी—" एकाएक उनका स्वर टूट जाता है, वे शशि के सामने खाट की बाही पर सिर टेक देती है, शशि एक बाँह के उनका कन्धा घेर लेती है, और उनके आँचल मे अधछिप जाती है, मौसी की किसी अन्धड द्वारा झकझोरी जाती दुबली देह को देखता हुआ शेखर भी बिना हिले रो उठता है—फिर एकाएक विस्मरण की राख मे से त्रिवेणी की धारा से धुला हुआ नया बोध कहता है कि शशि की हार नही हुई—

"यह लो, शेखर—"

मौसी सौ रुपए का एक नोट बढाती है, "फिर और भेज दूँगी—"

"मौसी, मैं—"

"यह तुम्हारे लिए नही, शशि के लिए दे रही हूँ—अभी वह बीमार है और—"

कुछ हिचकिचाते स्वर मे, "मौसी, यह तो ठीक नही है—मै कुछ प्रबन्ध कर लूँगा, फिर—"

मौसी आहत स्वर से कहती हैं, "शेखर, जहाँ से हारना था, हार गई, टूटना था, टूट गई—कुछ तो सन्तोष मुझे हो—"

"माँ से अभिमान मत करो, शेखर, ले लो मैं कहती हूँ—"

शेखर धीरे से हाथ बढाता है, जैसे सफाई मे कहते हुए, "शशि अच्छी हो जायगी तब और मत—" और मन-ही-मन सोचता है कि किसी तरह भी और नही—

"ईश्वर करे यह अच्छी हो जाय जल्दी आगे कोई बडा सुख नही है, पर दुःख भोगने की शक्ति शरीर मे चाहिए—"

"माँ, मै बहुत अच्छी हूँ—"

शेखर कहना चाहता है, "मैं साथ रहूँगा—"

इस बातचीत को भेदता हुआ सुन पडता है मौसी के सीढियाँ उतरने का धीमा स्वर, वे स्टेशन जाने के लिए शेखर के पीछे-पीछे उतर रही है

"मौसी, आप चिन्ता न कीजिएगा—"

"अच्छा, शेखर, देखो परमेश्वर क्या लाता है" शशि की ओर उन्मुख होकर "शशि, मैंने क्या तुझे इस दिन के लिए जना था" उनका स्वर फिर काँपने लगता है एकाएक, "शेखर क्या सचमुच तुम आत्मघात करने चले थे ?"

लज्जित मौन

"इतनी-सी बच्ची थी यह, तब तुमने नहाते हुए लोटा मारकर इसका सिर फोड दिया था, तब भी यह तुम्हे बचाने के लिए झूठ बोली थी कि अपने आप लग गया—नालायक शुरू से ही तुम्हारा पक्ष लेती आई है—" उनके स्वर की व्यथा-भरी झिडकी मे कितना अभिमान है, कितना माधुर्य—पर यह बात तो शेखर ने पहले नही सुनी, पूछता है, "कब, मौसी ?" और सोचता है कि आत्मघात की बात टल गई—

मौसी सुनाने लगती है, "जब तुम छोटे-से थे, तब पहले-पहल—"

साँझ का सन्नाटा, जिसमे ठिठुरकर जमा हुआ धुआँ आँखो के रास्ते प्राणो मे भर जाता है, कमरे मे लालटेन के स्थान पर लैम्प का प्रकाश, शेखर जल्दी-जल्दी खिड-कियाँ बन्द कर रहा है कि वह धूमिल गीला बोझ कमरे मे न जम जाय—शशि चुपचाप सिमटकर लेटी है, उसकी आँखे शान्त है, और निरायास शेखर के साथ-साथ जाती है वह जानता है—

"शशि, तुम बडी झूठी हो।"

"क्यो ?"

"इतना झूठ ? मुझे तो बिलकुल ही कुछ नही बताया, मौसी से कहा कि गिर गई थी--इतना झूठ ! और प्रयोजन क्या था भला—"

शशि ने आश्वस्त-भाव से कहा, "मै झूठ नही बोलती।"

"पर सच तो वह नही था—मेरे सामने तो सिर्फ चुप लगाई थी, पर—"

"शेखर, मै समझती हूँ कि अनावश्यक कष्ट ही सबसे बडा झूठ है—मौसी को और दु ख देने का क्या मतलब था ? और उन लोगो की बात--उन पर मेरा कोई अभियोग नही है, उन्हे तो अब गिनती नही--"

"और मै--"

"तुम ! तुम क्या--पर तुम क्रमश जान जाते, तभी बताना कोई जरूरी था ?"

"बताया तो तुमने अब भी नही , सच बताओ, चोट कैसे लगी ? किसी ने मारा था ?"

"मै तो चोट का भी न बताती, पर जब मौसी के आगे सीधी भी न हो सकी और मुँह मे फिर खून आने लगा तो बताना पडा—"

"खून ?"

शशि की हँसी मे हल्की-सी अपराध-स्वीकृति है, "हाँ, उठने-चलने से वमी होने लगती थी और खून—"

एकाएक नल के पास बैठने का रहस्य उसकी समझ मे आ जाता है, वह स्तब्ध-भाव से कहता है, "और तुम काम भी करती रही ढीट होकर—" फिर मर्माहत-भाव से, "और मुझे रोटी खिलाने को—न खाता तभी तो क्या मर जाता--"

स्वय ही शान्त नही, दूसरे को भी शान्त करनेवाले स्वर मे शशि कहती है, "तुमने बाबा की बात बताई थी कि दर्द से बडा एक विश्वास होता है—"

"हाँ, क्यो ?"

"दर्द से बडी एक लाचारी होती है—जितना बडा दर्द, उतनी ही बडी —नही तो दर्द के सामने जीवन हमेशा हार जाय।"

इसका सत्य शेखर के मन मे धीरे-धीरे पैठता है। वह सोचता हुआ-सा कहता है, "हाँ, मै जानता हूँ—" किन्तु फिर हठ पकडकर और कुछ विस्मय से भी, "कितनी झूठी हो तुम —झूठ की विशारद !"

"तुम क्या कम झूठे हो ?"

"क्यो मैने क्या किया है—"

"अग्रेजी मै भी समझती हूँ, शेखर। ज्ञान बहुत नही है, पर जितना है, पक्का है। नॉट डेजरस, बट इर्रेपेरेब्ल् !" वह मुस्करा देती है

शेखर स्तब्ध-भाव से चुप रह जाता है.

"पर शेखर, मै घबराई नही। डाक्टर ने जो दवा बताई वह मेरे पास है—काफी है अभी—"

"क्या—"

"एण्ड्योरेस—एण्ड करेज, चीफली करेज शेखर, मै अच्छी हूँगी और तुम्हारे साथ चलकर बताऊँगी।"

ताँगा दौडा चला जा रहा है, मौसी स्टेशन जा रही है, शेखर पहुँचाने जा रहा है और उनके पार्श्व मे बैठा है। उसका मन न जाने क्यो मौसी के प्रति ममता से उमडा आ रहा है जिसे वह व्यक्त करने का साधन नही जानता, चाहता है कि मौसी का हाथ पकड ले और स्टेशन पहुँचने तक थामे रहे—

"शेखर, शशि क्या अच्छी होगी अब ?"

"क्यो मौसी ? आप घबरा क्यो रही है—"

"घबराती नही, शेखर, पूछती हूँ कि तुम उसके मन को मुझसे ज्यादा जानते हो। क्योकि यह मन की बात है—अगर उसके मन मे अच्छा होने की हठ है तो यहाँ अच्छी हो जायगी, नही तो नही—नही तो कही नही। मै उसे जानती हूँ—अपनी लडकी से हारने मे हार नही है मेरी, शेखर!"

"मुझे तो आशा है कि वह जल्दी अच्छी हो जायगी—"

"परमात्मा करे—शेखर, तुम फिर तो नही सोचोगे उलटी-पुलटी बाते—"

"क्या ?"

"तुमने बहुत बडा उत्तरदायित्व ले लिया है। आत्मघात की बात सोचने का अधिकार नही है तुम्हे। कभी भी नही था—जीवन सदा ही एक थाती है और उसे यो फेकना विश्वास-घात है—"

"मौसी, अब तो मुझे बहुत कुछ करने को है—"

"कब नही था, शेखर! तुम देखते नही रहे—"

शेखर एकाएक आत्मग्लानि से भरकर कहता है, "अगर मै सचमुच उस दिन लौटकर न आता, तो—यह सब न होता!"

"अपने को ऐसे नही कोसते, शेखर! और क्या पता इससे भी बुरा होता? शशि शायद फिर भी रात-भर तुम्हारी प्रतीक्षा करती—और सवेरे जो हुआ वह फिर होता—क्योकि वह तो होना ही था, कोई सफाई सफाई नही थी, रामेश्वर ने तो तुझ से कह दिया कि—" एकाएक चुप!

"क्या कहा, बताइए न—"

"कहा कि—बात तो नयी नही थी, केवल पता लगना नया था, और शादी भी एक बहाना था ताकि—शेखर, तीन दिनो में क्या कुछ देख-सुन लिया है मैंने!"

स्टेशन पर मौसी कहती है, "अब तुम जाओ, शेखर, गाडी के चलने तक ठहरने की जरूरत नही है। बैठ तो गई, अब पहुँच जाऊँगी ही—"

"नही, मौसी, क्या हुआ फिर—"

"साँझ से पहले तुम वापस पहुँच जाओ, इसीलिए कहती हूँ। सन्ध्या के झुटपुटे मे शशि को अकेले मत छोडो—वडा उदास समय होता है, खासकर जाडे मे—" एकाएक उनका हाथ शेखर का कन्धा थपथपाता है, शेखर अनुगत होकर प्रणाम के लिए झुकता है, मौसी उसके बाल सहला देती है,—"जाओ, वेटा—" उनका कण्ठ रुँध आता है और शेखर जानता है कि उनके करुण आशीर्वाद की छाँह उसी पर नही, शशि पर भी है

* * *
*** *** ***

साँझ और सवेरा, सवेरा और साँझ—इस प्रवाह ध्रुव सत्य तो एक कि शेखर और शशि साथ है, एक सूत्र मे गुँथे है, कि जीवन मे, उद्योग मे, एक उद्देश्य है, एक साध्य है जिसमे से स्वय प्रेरणा का सोता फूटता है कुछ अवश्य करना है—वहुत कुछ करना है—शशि के लिए और अपने साध्य के लिए

"सुधारक, तुम्हारा ध्यान समाज की तरफ कम और भोजन की तरफ ज्यादा होता जा रहा है—तय कर लो, पहले सुधारक हो कि रसोइया !"

"क्यो ? और सब कुछ की तरह हमारा पाकशास्त्र भी सुधार माँगता है—वह भी तो शास्त्र है—"

"और उसमे भी रचनात्मक अभिव्यजना की गुंजाइश है—क्यो न ? पर सवाल यह है कि तुम्हारे अनुकूल कौन-सा माध्यम है—कलम और कागज़, या वेलन और आटा।"

"तुम यह तुलना करती हो तो देखता हूँ, दोनो एक ही वात है। रोटी वनाता है रसोइया, खाते है मेहमान, तारीफ होती है गृहस्वामी की। किताव लिखता है लेखक, मज़ा लेती है जनता, और मुनाफा पाता है प्रकाशक !"

"देखती हूँ कि शरीर को थोडा कष्ट देने से तुम्हारी वुद्धि वहुत ताज़ी हो गई है। अव कुछ काम-धाम आरम्भ करोगे कि नही। मे अव अपना कोई काम तुम्हे नही करने दूँगी—"

"अव लिखूँगा। वल्कि वहुत-सा तो लिखा रखा है।" शेखर जल्दी से कहता है, क्योकि शशि यद्यपि कुछ स्वस्थ दीखती है तथापि इतनी स्वस्थ अभी नही है कि ऐसी शपथ ले ले ! "लेकिन समस्या लिखने की नही है, तुम जानती हो, समस्या यह है कि लिखकर क्या हो ! रोटी तो पक जायगी, पर अगर अछूत के घर कोई पाहुने न आए तो ?"

"तुम्ही कहा करते हो कि धर्म की शक्ति वही तक है जहाँ तक वह अर्थ को साथ ले चलता है—नही तो अर्थ जीतेगा ! अगर अच्छा खाना ब्राह्मण का ही होता हो, तव तो ठीक है, पर जव वैसा न हो—"

"पर रुचिकर और स्वास्थ्यकर मे भी तो भेद है, और मै अगर ."

"यो उलटी वाते सोचने से काम नही चलेगा—जो स्वास्थ्यकर है वह रुचिकर भी हो, इसका उद्योग करना होगा —"

"शशि, वह जो सुधार-सभा के लिए वक्तव्य तय्यार किया था, उसे पूरा कर दूँ तो कुछ काम का हो ?"

"पूरा कर दो। जब तक लिखने की सुविधा है, तब तक जितना सब लिख सको लिख डालो—क्योंकि जब साथ ही उसे निकालने की भी चिन्ता हो तब लिखने मे बाधा होगी—"

"पर वह चिन्ता तो अभी रहेगी ही। अब—"

"अभी क्यो ? अभी तीन महीने तुम बेफिक्र लिख सकते हो—कम-से-कम एक पुस्तक हो जायगी—"

"तीन महीने ? और क्या खाकर—अस्वीकृति के स्लिप ?" फिर एकाएक शशि का आशय समझकर, "देखो, शशि, मै इन बातो मे नही आने का। मौसी जो इलाज के लिए दे गई है वह इलाज मे ही जायगा, मेरे खाने मे नही, और—तुम्हारे भी खाने मे नही, समझी ? यो काम की नीव खोखली होती है।"

शशि स्निग्ध भाव से शेखर की ओर देखने लगी। "अच्छा, मौसी से न लेना, मुझसे लोगे ?"

तीखे स्वर से, "क्या ?"

शशि ने धीरे-से अपने गले मे पडी हुई सोने की जजीर को छू दिया।

"यही है—बाकी तो सब पीछे छोड आई। पर यह एक अकेला है, इसलिए और भी 'ना' नही कह सकोगे।"

शेखर ने बात टालते हुए कहा, "अच्छा, चारा नही होगा तो ले लूँगा—इसे जमा-पूँजी समझकर रख छोडो। अभी तो जो लिखा है उसका कुछ बनाता हूँ।"

पर उसके मन मे यह विचार फिर गया कि उतना पर्याप्त नही है, कि उसे और बहुत कुछ लिखना होगा अगर वह उस माला को वही बनाए रखना चाहता है, और वह माला भी तो शशि को माँ ने दी थी

शशि के पास भूमि पर बैठकर, खाट की बाही से पीठ टेककर और उठे हुए घुटनो पर कागज़ रखकर लिखने का उपक्रम चिन्ता ने भी शेखर के मन मे वह तीव्रता नही जगाई जिसके खारेपन मे लेखनी डुबाकर वह आलोचना करने बैठे, उनका मन अनुभूतियो का छाया-पट है, अनुभूतियाँ जो मधुर होकर भी स्वय अपने राग-तत्त्व से पृथक् हो गई है क्योंकि शेखर अपने आपसे तटस्थ हो गया है, वह लिखने बैठा है आलोचना से कुछ अधिक रचनात्मक वह लिखना चाहता है, और उसके निर्वेद सन्तोष के पीछे तीखी अनुभूतियो का भी इतना अवशेष है कि रचना सप्राण हो, सतेज हो

और यह बोध कि यद्यपि उसकी एकाग्रता मे सहायक होने के लिए शशि बिलकुल निश्चल पडी रहेगी, तथापि शेखर के कन्धे के ऊपर से दो आँखे बराबर उस सफेद फलक पर टिकी है, जिस पर शेखर को अपना अन्तरग बिछाना है उसे लेखक के भाग्य की कटुता पर झीकने का क्या अधिकार है जब कि लेखन का सबसे बडा पुरस्कार उसे प्राप्त है—

एक रसज्ञ पाठक जो लिखने से पहले ही पढ रहा है—और आस्था से मिलने वाली शक्ति उसे दे रहा है ?

किन्तु यह ज्ञान तो बाधा है—ऐसे मे वह लिखेगा कैसे ?

क्रमश वह सुख भी पृथक् हो जायगा, शेखर, तब वह केवल शक्ति देगा, तुम लिखो तो

धीरे-धीरे एकाकीपन आया—स्निग्ध किन्तु सम्पूर्ण ..

प्रकाश मन्द पडने लगा था, शेखर आगे झुकता गया था, जब प्रकाश इतना मन्द हो गया कि झुककर भी देखना दुस्तर हो चला, तब उसने घुटने ढीले छोडकर, पीठ सीधी करने के लिए कन्धे और सिर को पीछे फेका—

शशि की साँस वह स्पष्ट सुन सका, और उसे भान हुआ कि वह कन्धे पर साँस का गर्म स्पर्श भी अनुभव कर सकता है वह पृथक्त्व झुटपुटे मे घुल गया, शेखर एकाएक शशि की निकटता से उमड आया और कुछ लजा भी गया, "तुम सब पढती रही हो ?"

"शेखर, एक दिन मै नही रहूँगी, तब तुम बहुत बडे आदमी होगे और कम्पोजीटर तुम्हारी मेज के पास खडे रहेगे कि तुम्हारे हाथ से कागज छीनकर ले जायँ। पर तब भी मै योही पीछे खडी होकर पढा करूँगी—और तुम नही जानोगे। लेकिन अगर अच्छा नही लिखोगे तो मै तुम्हारे कान मे चिल्ला दूँगी—"

शेखर बत्ती करने को उठा।

"शशि, झुटपुटे मे तुम एक गाना गा दो, फिर मै थोडा और लिखूँगा, तब तक खाना आयेगा।" शशि अभी कुछ खाती नही, ठण्डा दूध पीती है और कुछ रासायनिक पेय जो डाक्टर ने बताए है—

वह चिमनी साफ कर रहा था कि कमरे का तरल वातावरण मुखर हो उठा—

"दीप, जल !

तिमिर के रहस्य-गर्भ प्राण के समीप चल—"

पर सहसा रुककर शशि ने कहा, "आज नही शेखर, कल गाऊँगी—"

शेखर समझ गया, पर उस समय वह वेदना का नाम लेना नही चाहता था, धीरे-धीरे शशि के गान के बोल गुनगुनाने लगा। फिर बोला, "यह तो गाना नही है—"

"और क्या है ?"

"कविता—शशि, ये शब्द तुम्हारे है ?"

"मै—कवि !"

शेखर ने लैम्प उठाया, मानो उसे रखने का स्थान ढूँढ रहा हो, और उसके भरपूर प्रकाश मे शशि के चेहरे को देखने लगा।

तभी तीन-तल्लेवाले बच्चो ने आकर कहा, "हमको आज पैसे मिल गये है—कल

हम कागज़ लाएँगे—आप पतग जरूर वना देगे न?" लडकी वडे चिन्तित भाव से शेखर के मुँह की ओर देखने लगी।

क्षण-भर शेखर चुप रह गया—कितनी दूर की वात थी जव उसने वचन दिया था फिर उसने पूछा। "कितने पैसे मिले है?"

"चार आने—"

"और मुझे दो आने—पिताजी कहते है कि लडकियाँ पतग नही उडाती—मुझे रगीन चुन्नी मिली है—"

"पतग नही उडाती?" फिर यो दिखाते हुए मानो इसका कारण याद या गया हो, "हाँ, सच तो, लडकियाँ गुव्वारे उडाती है।"

"आपको गुव्वारा वनाना आता है?" निराश भाव से लडकी पूछती है।

"हाँ, आता है—"

लडका कुछ अविश्वास से कहता है, "हूँ—लडके नही उडाते गुव्वारे?"

शेखर हँसता है। "अगर बसन्ती चुन्नी ओढ ले तो उडा सकते है।"

शशि लडकी को वुलाकर पूछती है, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"कुसुम कुमारी। और भइया का नाम वेद है।"

"वेदकुमार नन्दा—" वह मानो अपनी मान-रक्षा करता हुआ कहता है।

"अच्छा, तुम लोग कल कागज लेने जाओ तो पहले मुझसे पूछ जाना—"

वच्चो को जीने तक पहुँचाकर शेखर धीरे-धीरे टहलने लगा। परसो वसन्तपचमी है—सवेरे—सवेरे—सवेरे .

वसन्ताक निकल गया था, सम्पादक दफ्तर मे नही थे, किसी तरह शेखर ने उनका पता लगाकर जा पकडा। पहले तो उन्होने पहचाना नही, फिर याद दिलाने पर वोले, "आप मिलिटरी मे भी रहे है क्या—"

"नही तो—"

"वडे पक्चुअल है—"

शेखर पी गया।

"जो कुछ पत्र-पुष्प हम दे सकते है, कभी देर नही करते—आप जानते है, तुरत दान महाकल्यान—"

कडे स्वर से, "जी"।

"पर काम तो आफिस मे जाकर ही हो सकता है—"

"तो मै साथ चला चल सकता हूँ—"

सम्पादकजी ने कन्धे सिकोडकर कहा, "चलिए फिर, अभी ही सही।"

एक कापी के पन्ने योही उलट-पुलटकर उन्होने पढते हुए स्वर से कहा, "श्रीचन्द्र-

शेखर, पत्र-पुष्प—यह लीजिए।" धीरे-धीरे दराज खोलकर उन्होने हाथ वढाया और शेखर के आगे पेश किये—दो रुपए। खीसे काढते हुए वोले, "सेवा मे—"

शेखर थोडी देर आँखे फाडकर देखता रहा, फिर उसने सम्पादक के हाथ से रुपए खीच लिए। फिर ढीठ होकर वोला, "धन्यवाद।"

दरवाजे के पास पहुँचकर मुडकर वोला, "आप खाते मे 'पत्र-पुष्प' लिखते है ?"

"हाँ, क्यो ?"

किन्तु सम्पादक की अवज्ञा उचित नही है, धैर्य उसे सीखना होगा शेखर ने आयास-पूर्वक कहा, "योही", और जो उत्तर देना चाहता था वह मन-ही-मन दुहरा लिया, "केवल 'तोय' लिखने से एक शब्द वच जायगा—"

घडो तोय

पतग और गुब्वारा देखकर शशि ने पूछा, "यह वच्चो के लिए लाए हो ?"

"हाँ।"

"और अपने लिए ?"

"अपने लिए ? मै कोई वच्चा हूँ—"

"थोडा-सा रग ले आओ, तुम्हे एक रूमाल ही रँग दूँ—पगडी तो तुम वाँधते ही नही—"

"और तुम ?" यह अनिवार्य प्रश्न पूछकर शेखर चुप लगा गया, उसने सोचा कि कल वडे सवेरे घूमने जाकर वह सरसो के फूल ले आएगा और शशि को उपहार देगा

"हर वात मे मै जरूरी हूँ ?—"

"अच्छा, दोपहर को ले आऊँगा, अभी तुम ठड मे हाथ न भिगोओ—"

जव दोपहर तक वच्चे पूछने नही आए तव शेखर ने ही पुकारा, "वेद ! वेदकुमार ! कुसुम !"

थोडी देर वाद वेद गम्भीर मुद्रा लिए आया और कमरे के वाहर ही खडा रहा। शेखर ने कहा, "क्यो, अन्दर आ जाओ—पतग नही वनवाने—"

वेद ने हतप्रभ स्वर से धीरे-धीरे कहा, "माँ ने मना किया है।"

"क्यो—क्या मना किया है—"

"कहती है, वहाँ मत जाओ।" फिर शशि की ओर देखता हुआ, "कहती है, भले घर के लड़के ऐसी जगह नही जाते—"

शेखर चुपचाप रह गया—कनखियो से शशि की ओर देखकर उसने दृष्टि फिर सामने कर ली।

वेद मुडकर धीरे-धीरे जाने लगा।

"ठहरो, वेद---ये लेते जाओ।" शेखर न छहो पतग, डोर, मझा और गुब्बारा उसे देते हुए कहा, "यह कुसुम को दे देना---इसके नीचे मोमबत्ती जलाने से वह उड जायगा---"

वेद का चेहरा क्षण-भर खिल गया, फिर वुझ गया। "माँ डाँटेगी---"

"नही, इन्हे ले जाकर छत पर रख दो, अपने पैसो से दो-एक और ले जाना और सब उडा लेना। यहाँ नही आओगे तब तो माँ कुछ नही कहेगी न---"

वेद चला गया।

शेखर कमरे मे यो इधर-उधर करने लगा, मानो उसे कुछ काम ही हो।

शशि ने कहा, "शेखर, जाने दो रग, योही समय नष्ट करना है, बैठकर लिखो---या लाओ, मुझे लिखाओ, तुम बोलते जाओ, मै लिखती हूँ।"

शेखर चुपचाप उसके पास बैठ गया, यद्यपि वह जानता था कि उस समय वह न लिख सकेगा, न लिखा सकेगा, उस समय केवल सरसो के फूलो का एक गुच्छा उसकी दृष्टि के आगे था जो वह कल तडके नही लाएगा

क्या शशि की वे आँखे आज भी---अव भी---मेरे कन्धे के ऊपर से इस कागज़ की ओर झाँक रही होगी जो मै रँग रहा हूँ, और जेल की इस लालटेन के फीके आलोक मे पढती होगी कि मै कैसा लिख रहा हूँ? मै, जो वडा आदमी तो क्या हुआ, होने मात्र के किनारे पर खडा अनस्तित्व के गर्त्त मे झाँक रहा हूँ शशि, मेरे कानो मे तुम्हारे चीखने का स्वर कभी नही पडा है---और तुम्हारे स्वर के प्रति मै वहरा अभी नही हुआ हूँ, धीमे से धीमे स्वर के प्रति भी नही कन्धे के ऊपर से आती हुई, श्रुतिमूल के पास हलके से रोमाचकारी परस से छूटनेवाली तुम्हारी नियमित साँस का ही स्वर मै निरन्तर सुनता रहा हूँ, और झूठ मैने नही लिखा

*　　*　　*
**　　**　　**

भले घर के वच्चे जिन लोगो के पास नही जाते, उन लोगो का एक-एक कदम उन वच्चो के वडे सजग-भाव वे देखा करते है जब सूर्य ऊपर चढ आया और भीतर आँगन में धूप आ गई, तब शशि देहरी पर आ बैठी थी कि आकाश देख ले और छत पर किल-कारते वच्चो का स्वर सुन ले, और शेखर उसके पास दीवार के सहारे खडा हो गया था। किन्तु एकाएक उसने जाना, ऊपर से कई आँखे झाँककर उन दोनो को देख रही है, और उन आँखो मे वैसा ही अपलक शीतल पर्यवेक्षण है जैसा केकडो या अन्य ठण्डे रक्त के जीवो मे होता है जब उसने स्थिर दृष्टि से ऊपर देखा तो एकाएक कई हाथ उठे और साडी या चुनरी का पल्ला आगे खीच लाए, केंकडो की आँखे उस पर मे विल्कुल हटकर शशि पर टिक गई। केवल एक वार वेद ने झाँककर आँगन मे देखा, फिर एक

स-सभ्रम दृष्टि सामने डालकर हट गया। शेखर कमरे के भीतर चला गया और धीरे-धीरे टहलने लगा, थोडी देर वाद शशि भी चली आई और लेट गई।

काफी देर वाद—तीसरे पहर के लगभग—शेखर ने कुसुम के चीखकर रोने का स्वर सुना और आँगन मे निकल आया। थोडी देर वाद एक धमकी से चीख दव गई, फिर कोठे की मुंडेर पर कुसुम का चेहरा आ गया जिसके ओठ अव भी सुवकियो से कुंचित हो-हो उठते थे, पर जिसकी आँखे निर्निमेष नीचे देख रही थी।

गुब्बारा फाड डाला गया था .

चौतल्ले पर रहने के अनेक लाभ है, चौतल्ला ससार को काफी दूरी पर रख सकता है, किन्तु चौतल्ला की भी एक छत है, और जाडे की धूप मे ससार की लहरे उछल-उछल आती है शेखर अनुभव करने लगा कि वह कमरा जो आश्रय था अव कारागार वन गया है, और अव वहाँ अधिक रहना नही होगा। वह जानता था कि शशि भी अनुभव करती है, किन्तु दोनो ही जैसे अनदेखी का अभिनय कर रहे थे .

पर यहाँ रहना नही होगा, तो क्या लाहौर मे कही रहना होगा—क्या सव स्थान एक-से नही हो जायँगे—हो गये है ? किन्तु अन्यत्र कहाँ—और कैसे

सामर्थ्य के नाम पर शेखर के पास थी 'हमारा समाज' की पुनर्मंडित हस्त-लिपि, 'कुटुम्व का इतिहास', समाज और राजनीति, दो-एक और निवन्ध, तीन-चार कहानियाँ, अपने दो हाथ और ढीठ मन, और—शशि का स्नेहिल आशीर्वाद—सप्तपर्णी की छाँह ! .

पुन वही चक्कर, प्रकाशक से प्रकाशक और अवकी वार शास्त्र-सम्मत अनासक्त भाव से, और सिद्धान्तो की वैसाखियाँ छोडकर ! किसी तरह, किन्ही शर्तों पर 'हमारा समाज' और 'कुटुम्व का इतिहास' फलप्रद हो जाय—इसलिए नही कि फल वह चाहता है, इसलिए कि इस उपपत्ति का वह निमित्त चुना गया है

किन्तु समाज मे जितने आन्तरिक गठन की, उसने कल्पना की थी, उससे कही अधिक थी—जहाँ वह जाता, प्रकाशक न केवल उससे, वल्कि दोनो पुस्तको के इतिहास से परिचित मिलते, और उनके मुंह पर एक क्षीण विद्रूप मुस्कान कहती, वे रचना से ही नही, रचयिता से भी परिचित है

निराशा का अन्तिम साहस लेकर शेखर उन्ही सम्पादक के पास पहुँचा जिनसे उसने पत्र-पुष्प के नाम पर तोय पाया था—उसने अनुभव किया कि तोय मिलना भी वडी वात है !

सम्पादक ने उसे वैसे ही सिर से पैर तक देखा, जैसे कोई आसन्न सकट को तौलकर तय्यार होना चाहता हो।

"आपके विचारार्थ कई-एक चीजें लाया हूँ—"

"अच्छा, वडी कृपा है—आप इन्हें छोड जाइए, मैं—"

"देखिए, साफ वात अच्छी होती है। आपको प्रकाशनार्थ सामग्री चाहिए, या नही चाहिए। मुझे उसका एवज्र चाहिए ही चाहिए। और—"

दवे विरोध-भाव से, "आप जानते है, हमारा पत्र गृहस्थ-समाज का पत्र है—घरो मे जाता है—"

"तो ?"

"हमारे ग्राहक मध्य श्रेणी की ग्राहिकाएँ है।"

"समझा, पर—"

"इसलिए हमें यह भी ध्यान रखना पडता है कि हमारे पत्र मे नाम किन लेखको के छपते है।"

अव वह स्थिति नही थी कि शेखर इसे निरी अपनी नगण्यता की ओर सकेत समझ ले। बोला, "समझा। साफ वात है, इसलिए धन्यवाद। पर नाम का आग्रह मुझे नही है। आप नाम न दीजिए, कोई और नाम दे दीजिए, जो चाहे कीजिए।"

कुछ आश्वासन से, कुछ विस्मय से, "ओह—अच्छा।"

"और इसमे आपको सुविधा हो, तो आप कहानी-कविता न लीजिए, लेख लीजिए—आजकल तो लेख प्राय छद्मनाम से या वेनाम छपते है क्योकि सम्पादक स्वय लिखते है—"

"ओहो—तो यानी आप मेरी गर्दन कटवाना चाहते है—"

शेखर ने थोडा-सा हँसकर कहा, "मेरा लिखा हुआ आपका समझ लिया जाय तो गर्दन कटने की वात हो सकती है अवश्य—"

"और आपका ही लिखा समझा जाय, तो भी मै बच ही जाऊँगा, ऐसा तो नही है—"

"ठीक। पर मै तो आपको सर्वाधिकार दे रहा हूँ, आप हस्तलिपि के साथ जो करना चाहे करे—"

अन्त मे यह निश्चय हुआ कि 'हमारा समाज' की लिपि सम्पादक को दे दी जायगी, वे उसे सशोधित करके पहले क्रमश छापेगे, और फिर यदि पाठको मे उत्साह दीखेगा तो पुस्तकाकार—पुस्तक पर सम्पादक का नाम होगा, लेखक का नही। सम्पादक को घटाने-वढाने, वदलने, छापने या न छापने की पूरी स्वतन्त्रता होगी। और इस सर्वाधिकार-विसर्जन के वदले शेखर पाएगा पुस्तक-प्रकाशन के दो मास वाद सौ रुपए, या तुरत साठ रुपए, किन्तु तुरत की कार्रवाई के लिए उसे एक शर्त्तनामा लिखकर देना होगा जिसमें ये सव वातें लिखी जायँगी।

इसके लिए गवाह भी आवश्यक समझे गए, फलत जहाँ शेखर ने पहले उनसे भेंट की थी वही पर शर्त्तनामा लिखा गया और शेखर ने हस्ताक्षर कर दिए। वही से रुपया लेकर सम्पादक शेखर को देने लगे तो वोले, "आपने जिन शर्त्तो पर स्वीकृति दी है, उनका पूरा अभिप्राय आप समझते ही है। वाद में सम्पादक से मतभेद होने पर आपको गिला

नही होना चाहिए। हम सद्भावना से ही सब कुछ कर रहे है, आपको यह सन्तोष होना चाहिए कि आपके विचारो का पूरा नही तो आशिक प्रचार तो हो रहा हैं।"

शेखर इसे कडवी घूँट करके पी गया। सम्पादक फिर कहने लगे, "आजकल ऐसा जमाना है कि सद्भावना का श्रेय किसी को नही मिलता। आप ही कल को सोचें कि पुस्तक मैंने क्यो दे दी—"

अबकी शेखर से नही रहा गया। बोला, "आप अगर डरते है कि मै पीछे पुस्तक पर अपना लेखकत्व का अधिकार जमाना चाहूँगा, तो यह डर निर्मूल है। प्रकाशन के बाद पुस्तक मे कुछ रहेगा जिस पर मै अधिकार जमाना चाहूँगा या जिसका मै उत्तरदायी भी हूँगा, ऐसा भरोसा मुझे नही है। मैंने तो पुस्तक कुएँ मे डाल दी—और मुंडेर पर पडे हुए साठ रुपए उठा लिए।"

सम्पादक चुपचाप शेखर के मुँह की ओर देखते रहे। दो गवाहो मे से एक का, जो युवक था, चेहरा देखकर शेखर को लगा कि उसमे कुछ करुणा-मिश्रित उत्सुकता है शेखर ने नमस्कार करके विदा ली और बाहर निकल आया।

एकाएक उसके पीछे एक स्वर ने कहा, "क्षमा कीजिएगा—"

शेखर ने मुडकर देखा, वही युवक कुछ झिझकता हुआ उससे बात करने को चला आ रहा था।

युवक ने इधर-उधर करते हुए कहा, "मेरा नाम रामकृष्ण है। विद्याभूषण को आप जानते है न—"

"कौन-से विद्याभूषण ? जो जेल मे थे ? उनसे—"

"हाँ, वही। वे मेरे साथ पढे थे। उन्होने आपकी बात मुझे लिखी थी, पर आपने यह हस्तलिपि क्यो बेच डाली—"

शेखर ने सक्षेप मे कहा, "जरूरत थी, इसलिए। पर विद्याभूषण ने क्या लिखा था ?"

"आपने ठीक नही किया। आपके लिखने मे शक्ति है। और विद्याभूषण ने लिखा था कि आपके विचार ऊँचे है, और आपमे साधना और लगन है। आपकी प्रतिभा की देश में जरूरत है।"

शेखर ने रूखे-से हँसकर कहा, "बडी सख्त जरूरत! और मुझे कुछ रुपए की—"

रामकृष्ण ने कहा, "आप यदि हमारी सहायता कर सकते—"

"किस काम मे ?"

"पचासो कामो मे। इसीलिए विद्याभूषण ने आपकी बात लिखी थी। उनका विचार था कि आप साहित्यिक रुचि रखते है इसलिए लिखने और प्रकाशन के काम में सहायता दे सकेंगे, इसीलिए मुझे आपका पता दिया गया था क्योकि मेरा प्रेसवालो से वास्ता है। पर अगर आप अनुमति दें तो कभी आपके घर आकर पूरी बात—"

"मेरा कमरा है ग्वालमण्डी के चौतल्ले पर। आप कभी भी आइए—"

शेखर ने नम्बर और पहुँचने का रास्ता आदि समझा दिया।

रामकृष्ण ने फिर कहा, "आपने पुस्तक देकर भूल की। केवल साठ रुपए की बात थी तो शायद मैं—हम लोग—"

शेखर ने कुछ कौतूहल और कुछ सकोच का अनुभव करते हुए कहा, "हम लोग कौन? कौन ऐसे परमार्थी लोग है जो—"

"हमारा सगठन है—हम अपने कार्यकर्त्ताओ की भरसक सहायता करते है—"

एकाएक प्रकाश पाकर शेखर ने पूछा, "आप किसी क्रान्तिकारी दल के सदस्य है?"

"यही समझिए। हम जन-सेवक है, और आपस मे एक दूसरे की सहायता करना अपना कर्त्तव्य—"

"जन-सेवक कभी सहायता का देनदार भी हो सकता है यह तो मैंने अभी देखा नही। इसके साधन कहाँ से आते है?"

"कही से आते ही है—पर बातचीत घर ही पर होगी—मै आ सकता हूँ न?"

"हाँ, किसी भी दिन।"

"अच्छा, दो-तीन दिन मे आऊँगा—"

शेखर ने विदा ली।

साठ रुपए बडी चीज होते है, क्योकि वे मुक्ति का साधन भी हो सकते है एक घर मे जहाँ चारो ओर——बल्कि नौ दिशाओ मे—पडोसियो की रुखाई है और ऊपर से पाले की मार!—बँधे रहने के शाप से मुक्ति का साधन, क्योकि बिना ऋण चुकाए और आगे बढने का प्रबन्ध किए मुक्ति कहाँ है! वह छोटा-सा कोणाकार कमरा एक दिन जिस आसानी से सप्तपर्णी की छाँह पाकर घर बन गया था, उसी आसानी से सिमट भी गया, क्योकि अभी छाँह-ही-छाँह उसने जानी थी, जडो की जकड नही। पुस्तके एक पेटी मे चली गई, कपडे एक ट्रक मे—शशि के पास अभी था ही क्या!—और माँगा हुआ बिस्तर लौटाकर शेखर जो दो मोटे खुरदुरे कम्बल ले आया था वे बिस्तरबन्द का काम दे सकते थे शेखर ने और सब तय्यारी कर ली थी, केवल बिस्तर दोनो पडे थे, क्योकि अभी कुछ निश्चय नही हुआ था कि जाया कहाँ जाय शेखर के मन मे रह-रह कर विचार आता था कि जब स्थानान्तर करना ही है, तो क्यो न इतनी दूर जाया जाय कि आस-पास के गुञ्झरो के धागो की खीच वहाँ तक नही पहुँचे, कि शान्ति से काम किया जा सके, शशि कुछ विश्राम पाकर स्वस्थ हो सके, और जीवन को कुछ अर्थ दिया जा सके पूँजी उनके पास नही है, वे शून्य से ही आरम्भ करने को प्रस्तुत है, ऋण से आरम्भ करने की बाध्यता मे क्यो रहे पर साथ ही उसे कुछ डर भी लगता था कि बहुत दूर जाना कही शशि के लिए अहितकर न हो, एक कोमल भावना उसे कहती थी कि पौधा अपने स्वाभाविक वातावरण

से बहुत दूर जाकर नही पनपता शशि मे दृढता है और सहिष्णुता है अवश्य, पर. कभी वह सोचता, जब स्वभाव ने उसे और परिस्थिति ने शशि को एक वातचक्र में डाल दिया है जहाँ घूमना-ही-घूमना है, भटकना और विद्रोह करना, तो क्यो न वह सब भूलकर अपने को और शशि को उसी अनिश्चित साहसिक जीवन मे झोक दे, किन्तु फिर शशि की स्वास्थ्य चिन्ता उसे रोक देती। और इस प्रकार बाहर सब ओर से हाथ समेट लेने पर भी उस कोणाकार कमरे के दोनो भागो में दो नियमित साँसो का सखा-भाव अक्षुण्ण पनपता जाता

रामकृष्ण दो दिन देर करके आया, साथ एक और व्यक्ति को लेकर। शेखर उन्हे लेकर कमरे के बैठक अश मे बैठा, शशि कोने की ओट हो ली।

रामकृष्ण ने कहा, "हम आपसे एकान्त में बात करना चाहते थे—"

इशारा समझकर शेखर बोला, "मेरी बहिन मुझसे अधिक विश्वासपात्र है—और भरसक मेरी मदद भी करेगी—"

"ओहो—तब तो उन्हे हमारे साथ सहयोग करना चाहिए—हमारे पास स्त्री-कार्य-कर्त्ताओ की कमी है—"

काम की बाते होने लगी। शेखर सगठन के बारे मे बहुत कुछ जानना चाहता था, किन्तु उस समय की मानसिक स्थिति मे पूछने की बजाय कुछ करने की माँग ही उसमें अधिक तीव्र थी, और जब रामकृष्ण ने बताया कि वे फौज के सिपाहियो में ब्रिटिश विरोधी प्रचार करना चाहते है ताकि सिपाही विद्रोही होकर भारत की स्वाधीनता का उद्योग करें, तो उसने इसके लिए एक जोरदार वक्तव्य लिखना तत्काल स्वीकार कर लिया—और इतने उत्साह के साथ कि कुछ वाक्य उसी समय उसके मानसिक कानो मे गूंजने लगे

शशि ने अनुमति दे दी, एक ही दिन में अपील लिखी गई और अगले दिन रामकृष्ण आकर उसे ले भी गया। साथ ही वह शेखर को पढने के लिए दो-एक पुराने पर्चे और अपने सगठन की नियमावली भी देता गया और साथ कहता गया कि "इन्हे जरा ध्यान से रखिएगा—" अर्थात् ये जब्त की हुई सामग्री है

यो शेखर दो दिन और ठहरा, फिर दो दिन और, फिर दो दिन और—और सातवें दिन रामकृष्ण के साथ जाकर शहर की किसी गली के घर मे चार-पाँच घण्टे डुप्लिकेटर चलाकर अपने लिखे हुए पर्चे की तीन-चार हजार प्रतियाँ भी छाप आया।

इसके बाद निश्चय हुआ कि शेखर को अभी कुछ दिन और वही ठहरना चाहिए, और यदि उस घर मे ठहरना असम्भव है तो रामकृष्ण शहर में कही और प्रबन्ध कर देगा। शेखर ने मन-ही-मन सोचा, 'यह सब तो ठीक है, पर जब रुपए खत्म हो जायँगे तब स्थानान्तर जाना कैसे होगा?' पर प्रकाश्य कुछ कह नही सका

* * *

आत्मकथा लिखना एक प्रकार का दभ है—उसमें यह अहकार है कि मेरे जीवन में

कुछ ऐसा है जो कथनीय है, देय है, रक्षणीय है स्मरणीय है हो सकता है कि ऐसा हो, किन्तु व्यक्ति स्वय यह दावा करनेवाला कौन होता है? भूसी स्वय नही कहती कि यह देखो, मेरी कोख मे प्राणद अन्न है—वह अन्न दूसरे की देह मे वल बनकर वोलता है

किन्तु क्या मै ऐसे ही आत्मकथा लिख रहा हूँ? क्या यह आत्म-प्रकाशन है? क्या अव भी मेरा मर्म नही कहता कि 'जो मेरा है, जो सारभूत है, जिससे मै सिक्त और अभिषिक्त हूँ, उसे छिपा लो!' क्या अव भी मै नही चाहता कि जो मात्र मेरे जीवन मे महत्त्व का है और इसलिए—शायद—रक्षणीय या देय हो सकता है, उसे मैं अपना ही रहने दूँ और अपने साथ ही ले जाऊँ, गोपन ही रखूँ, क्योकि प्रकाशन तो विभाजन है, सम्पत्ति का सहभाग हो सकता है, पर अपने-आप का सहभाग मैं कैसे कर सकता हूँ फिर भी मै आग्रहपूर्वक अपने को खोलता हूँ, क्योकि यह आत्मकथन नही है, केवल स्वीकार है, साक्षी है, आत्म-साक्षात्कार है। 'मैं मेरा हूँ, किन्तु केवल इसी अर्थ मे और इसी मात्रा मे जिसमे कि मै अमुक का हूँ, और अमुक का, और अमुक 'का'—इस ऋण का स्वीकार ही मेरा धन है, नही तो मैं कुछ नही हूँ, एक आकस्मिक अणु-पुञ्ज हूँ जिसका न कारण है, न परिणाम!

नये 'घर' मे शेखर किरायेदार नही था, लगभग अतिथि था। रामकृष्ण ने आकर वताया था कि अलग मकान तो बहुत तलाश करके भी नही मिल सका, और फिर ऐसी जगह रहना भी ठीक नही जहाँ बहुत अधिक पूछताछ हो, क्योकि यह उनके काम के लिए सवसे अधिक शकनीय बात है, इसलिए उनके दल ने निश्चय किया है कि एक सहयोगी के यहाँ ही शेखर को स्थान दिया जाय, शशि और वह दोनो वही रहेगे और खाने की व्यवस्था भी घर ही से होगी, यद्यपि उन्हे छोटे-छोटे दो अलग कमरे मिल जायँगे और वे चाहेगे तो खाना भी कमरे मे पहुँचा दिया जायगा, अन्यथा खाना वे परिवार के साथ खा सकेगे। और कमरो के लिए उन्हें किराया नही देना पडेगा, वह सहयोगी अपने चन्दे के रूप मे दल को भेट दे देगा। केवल दोनो के भोजन के लिए तीस रुपए मासिक की व्यवस्था शेखर करेगा

और क्रमश शेखर ने पाया कि वह एक नये जीवन मे प्रवेश कर रहा है, समाज के प्रति उसका विद्रोह-भाव उग्र तो उतना ही है, किन्तु समाज के प्रति उतना न होकर एक नया रूप ले रहा है—एक अमूर्त्त भावना का विरोध वनता जा रहा है—भावना जिसका धुँधला-सा ज्ञान उसे पहले भी था, किन्तु जो जेल के दस महीनो मे कुछ स्पष्ट होती गई थी और अव इन नये सहयोगियो के सम्पर्क से एकाएक स्थिर हो चली थी—इतनी स्थिर और स्पष्ट मानो मूर्त्त होती जा रही हो कभी-कभी एक भीषण सन्देह उसके भीतर जाग उठता कि वह फिर एक वार मूर्ख तो नही वन रहा है, क्योकि उसके अनजाने उसकी वौद्धिक घृणा को एक सर्वथा अवौद्धिक और स्थूल पात्र दिया जा रहा है जिसमे वँधकर उसकी गति नष्ट हो जायगी और वह केवल विष उत्पन्न करनेवाली रह जायगी, आग नही फिर कभी वह सोचता कि उसका समूचा रागात्मक जीवन एक हवाई पीठिका पर वीतता रहा है और

अब एक मजबूत भित्ति मिल जाने से वह दृढ हो जायगा और यथार्थ के साथ अधिक सामजस्य पा सकेगा

यो दिन बीतते चले, और वह गुप्त आन्दोलन के फैले हुए जाल में अधिकाधिक उलझता चला। उस उलझन में सन्तोष था, सान्त्वना थी, एक छिपा दर्प था जो जानता है कि अपने को स्वेच्छया भाड मे झोक रहा हूँ, और एक आशा थी कि इस प्रकार उठाया हुआ खतरा भूल का भी मार्जन करता है और इसलिए जीवन को सार्थकता देता है। दाँव खेलना बुरा है, किन्तु जब यह जानते हुए खेला जाय कि पाँसे आग के है और उन्हे छूने मे ही हाथ जलते है, तब क्या उसके समर्थन में कुछ भी नही है ? शेखर जानता था कि यह भावना-मूलक क्रान्तिकारिता बडी खतरनाक हो सकती है, क्योकि इसका बल आकाश-लता का बल है, जिसकी जडे कही नही होती और जो इसलिए अपने आधार को ही खा जाती है; किन्तु वह यह भी आशा करता था कि जब वह इस मौलिक दुर्बलता को पहचानता है, तब उसका शिकार नही होगा, यथासमय बुद्धि उसकी सहायता करेगी और सूने मोर्चे की रक्षा करने आ डटेगी

और इस अ-यथार्थता के माया-प्रागण मे यथार्थ एक था जिसे वह निष्कम्प करो मे थामे था—शशि का प्यार, जिसकी रुद्ध अभिव्यक्ति के नीचे था शेखर का अडिग विश्वास कि वह प्यार ज्ञान से परे है, अनुभूति से बडा है यह विश्वास और यह बोध ही इतना बडा यथार्थ हो गया था कि पकड मे न आए—शेखर कभी इस विषय में सोचने लगता तो एकाएक उसे जान पडता कि यही वह सबसे बडा अ-यथार्थ है जो और सब पार्थिव को भी अपार्थिव बनाए दे रहा है

प्यार प्लवन-शीला नदी की तरह है—उसमे स्थैर्य की अवस्था नही होती। जिस प्रकार नदी या तो अपने अन्तर्वेग से अपने पाट को काटती और गहरा करती हुई चलती है, या फिर अपने प्रवाह की तलछट से नये कगार बनाती और पाट पूरती जाती है, उसी प्रकार प्यार भी या घटता है या बढता जाता है—या बदलने लगता है—नदी की धारा की ही भाँति।

और अ-पार्थिव महदनुभूति के उस प्लवन मे भी शेखर को धीरे-धीरे बोध होने लगा कि कही कुछ अवरोध या अटकाव है, उस अगाध और अपरिमेय मे कही कुछ ऊना है.. उसने अपने को नये काम मे डुबा लिया था, और वह देखता था कि शशि उसके काम म हाथ बटा रही है और समाज-शास्त्र का जो अध्ययन उसने बीच में छोड़ दिया था उसे आगे बढाती हुई निरन्तर पढती और सकलन करती रहती है, इससे वह समझता था कि दोनो अपने-अपने काम में पूर्णतया निरत है और अपने अस्तित्व को सार्थक कर रहे है, और उन सार्थकता को पुष्ट करने वाला सिरमट है उनका परस्पर समीपत्व, उनका सहयोग और सख्य, उनका यह कितना बडा प्यार—शेखर के जीवन का सबसे बडा सत्य किन्तु कभी अचानक उनकी दृष्टि मिलने पर शेखर की आखें एक अस्पष्ट असन्तोष और झिझक मे भरकर परे हट

जाती और जैसे उसका दृश्यबोध बिखर जाता, और फिर एकाएक वह अपने-आपसे खीझ उठता कि क्यो वह इस पूर्णता मे एक रिक्त का और एक सकोच का सृजन कर रहा है तब वह इस सकोच को धो डालने के लिए शशि के और निकट आने का यत्न करता, अत्यन्त आत्मीयता के कुछ-एक क्षणो मे शशि के स्वास्थ्य की चिन्ता से भर उठता और जान लेता कि भीतर कही शशि रुग्ण है और अपनी पीडा की अनदेखी कर रही है, क्योकि शेखर के अतिरिक्त कुछ नही देखना चाहती, कि उस एकाग्रता मे एक आतुर आशका है कि वह और कुछ भी देखेगी तो सब छिन्न-भिन्न हो जायगा—उस शापग्रस्ता बन्दिनी के दुर्ग की तरह जिसका कल्याण निरन्तर बुनाई (उधेड-बुन !) करते रहने मे था, और जिसके दर्पण मे बाहर की दुनिया का प्रतिबिम्ब देखते ही सब कुछ गहन-तिमिराच्छन्न होकर ध्वस्त हो जायगा और इसका बोध होते ही उसके अपने भीतर अगणित आशकाएँ जाग उठती, उनकी कोडे की-सी मार से उसका उद्विग्न प्यार और भी तिलमिला उठता, उसे लगता कि वह शशि के और भी इतना निकट आना चाहता है जितना कि हो नही सकता, हो नही सकता, सोचा नही जा सकता, क्योकि वह उससे भी निकट है जितना कि वेदना से टीस प्यार की वेदना, कि वेदना का प्यार—'प्रिय, तुम्हारे प्यार की वेदना मुझसे सही नही जाती '

पर्चे और पैम्फलेट लिखने का काम बहुत अधिक नही था, शेखर के पास समय काफी रहता था। क्रमश वह जानने लगा कि दल का कार्यक्रम केवल प्रचार तक सीमित नही है, उसकी बहुमुखी कार्य-प्रगति थी अस्त्र-सग्रह, विस्फोटक पदार्थो की तय्यारी और अनेक प्रकार के रासायनिक अन्वेक्षण, गुप्त सग्रहालयो का सगठन आदि कई और भी दिशाएँ है दल के विषय मे उसकी जानकारी का वृत्त क्रमश बडा होता जा रहा था, या होने दिया जा रहा था, प्रकाशन के कामो मे वह केवल सहायक से बढकर सहकारी सचालक-सा हो चला था और इस नाते कार्य की अन्य दिशाओ का ज्ञान उसके लिए स्वाभाविक-सा मान लिया गया था और प्रचार के अन्तर्गत स्त्रियो और विद्यार्थी-समाज मे जाग्रति और राजनैतिक असन्तोष फैलाने का जो कार्य था, उसमे शशि का सहयोग माँगना इतना अधिक स्वाभाविक था कि शेखर ने कभी सकल्प-पूर्वक वैसा सोचा भी नही, योही कर डाला शशि भी थोडा-थोडा लिखने लगी, और मुद्रण के काम मे भी सहायता देने लगी, दो-एक बार घूमकर छिपे-छिपे पर्चो का वितरण भी कर आई फिर (न जाने किसकी सम्मति से) सोचा गया कि ऐसे लुका-छिपी के काम दूसरे भी कर सकते है, अत शशि जहाँ तक हो सके प्रकाश्य ही काम करे, और इसके लिए विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो की सभाओ मे जावे

वैसा भी होने लगा। शेखर कभी विद्यार्थियो की सभाओ मे चला जाता, क्योकि प्रचार की योग्यता के लिए यह जानना आवश्यक है कि जिनमे प्रचार किया जाय, उनकी मनोधारा किधर बहती है, किन्तु वह कार्रवाई मे कोई भाग न लेता, वह काम दूसरे ही किया करते। शशि विद्यार्थिनियो या कभी स्त्रियो की मीटिंगो मे जाती, और वहाँ से लौटकर शेखर को

सुनाती कि क्या-क्या हुआ, किसने क्या कहा और किसने क्या उत्तर दिया कभी-कभी उसकी आँखे एकाएक उत्साह से भर उठती, और वह मीटिंग मे वरती हुई किसी उक्ति का विशदीकरण करने लगती, उसमे इतनी तन्मय हो जाती कि शेखर प्रसन्न होकर सोचता, शशि सुखी है और तुष्ट है, जीवन मे अर्थ की कमी उसे नही खल रही और कभी एकाएक चमत्कृत भाव से यह पाता कि पढकर और तर्क और ऊहापोह द्वारा वह जहाँ नही पहुँचा था, वहाँ शशि अपने सहज सूक्ष्म बोध द्वारा पहुँच गई है। तव वह मुग्ध दृष्टि से शशि की ओर देखता रह जाता, और शशि की युक्तियाँ और उक्तियाँ उसके आलोकित मनोगुम्फ मे गूंजा करती .

"हम लोगो की नैतिकता भौगोलिक नैतिकता है—विन्ध्याचल के इस पार उत्तर भारत है, उस पार दक्षिणी प्रायद्वीप है—उसी प्रकार यह नीति की रेखा है, इसके इस पार सत् है, उस पार असत् इसीलिए हमारी नैतिकता निष्प्राण है, उसका अन्तिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नही है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक.

"इन नैतिकता के मूल मे निषेध है, इसलिए यह स्वय नकारात्मक है। ससार के सभी स्मृति-शास्त्रो की पडताल की जाय, उनमे जो वैचित्र्य या विभिन्नता है उसे गौण मानकर एक ओर रख दिया जाय तो सब मे शाश्वत नीति के नाम पर मिलेगे तीन समान सूत्र—कि सन्तोष कर, सत्य बोल, और अगम्य-गमन न कर। गहरे जाकर देखे तो ये क्या है ? तीन बडे निषेध—पहला मानव की स्वाभाविक लोभ-वृत्ति का निषेध, दूसरा उसके सहज भय का निषेध, और तीसरा उसकी सहज द्वन्द्व-वृत्ति का वर्जन ! क्यो निषेध नीति का मूल हो—क्यो न नीति इतनी बडी हो कि सहज-वृत्ति का बहिष्कार करने की बजाय उसे व्यापृत कर ले, अपने मे सोख ले, लील जाय ?"

गूंज धीरे-धीरे शान्त हो जाती, फिर अनुगूंज मे हठात् एक खोखला-सा स्वर आ जाता, और शेखर के हृदय को सहसा भीचती हुई एक गाँठ कहती कि एक बुनियादी सत्य की अनदेखी पर खडा हुआ यह सब विवेक व्यर्थ है, व्यर्थ, और निष्परिणाम है यह बोध जिसमे रस की उपपत्ति नही है !

शेखर से प्रोत्साहन पाकर शशि क्रमश अधिकाधिक बडी सभाओ में जाने लगी, विद्यार्थिनियो की समितियो का स्थान कालेज के विद्यार्थियो और विद्यार्थिनियो की सभाओ ने लिया, फिर विद्यार्थियो के अतिरिक्त अन्य जनता की सभाएँ भी शामिल हो गई। शेखर स्वय न जाता, उत्कण्ठा-पूर्वक शशि के लौटने की प्रतीक्षा करता, और उसके लौटने पर उसके दीप्त चेहरे को देखकर ऐसा प्रसन्न होता मानो उसी ने कोई जय-लाभ किया हो इस उत्साह मे वह यह चीन्ह न पाता कि शशि के चेहरे की वह लाल और गर्म दीप्ति विजय की या उल्लास की ही दीप्ति है या और किसी आन्तरिक उद्वेग की, और अपने उत्साह में वह यह न देखता कि शशि के स्वर में जो तनाव है, वह मीटिंग के या विषय के महत्त्व के साथ

कोई अनुपात नही रखता सन्ध्या आती और रात घनी हो जाती, उनके दो कमरो का अलगाव जाडे के चगुल मे जकडा जाता, और शेखर शशि के कमरे के असाधारण मौन के कारण उठकर झाँककर देखता कि शशि निर्निमेष छत की ओर देखती पडी है कभी वह इतने से भी नही समझता, फिर कभी वह डर से भर जाता कि शशि स्वस्थ नही है और कभी अचानक उसका साथ छोडकर चली जायगी—किन्तु इससे आगे उसकी बुद्धि न जाती—काम के और कुछ अपने इस प्यार के सम्मोहन ने मानो एक विशेष सीमा से पार देखने की उसकी शक्ति को सुला दिया था .

इस मन्त्र-बद्ध अल्प-बोध से शेखर ने शशि को एक सार्वजनिक सभा के लिए तय्यार किया जिसमे बहुत-से वक्ता बोलनवाले थे। असहयोग आन्दोलन की तात्कालिक लहर अपने उत्कर्ष पर थी, और चाहे जहाँ, जैसी भी सभा हो, उसमे राजनैतिक प्रश्नो का उठ खडा होना अनिवार्य हो गया था, इसलिए गुप्त दलो के लोग भी सब तरह की सभाओ मे भाग लेने लगे थे कि उनके सहारे अपने प्रभाव का वृत्त और अपने सहायको की सख्या बढा सके। इस विशेष सभा मे मुख्य विषय 'स्त्रियो के समानाधिकार' पर बोलने के लिए शशि को तय्यार करके शेखर ने स्वय भी साथ जाने का निश्चय किया था, क्योकि सभाओ के सहारे ही नये सम्बन्ध-सूत्र जोडे जा सकते है और नये सम्भाव्य सहायको से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है

सभा मे मच के पास ही एक ओर की अगली पँक्तियो मे बैठे हुए शेखर का व्यक्तित्व मानो दो असमान खण्डो में विभक्त हो गया था—एक वक्ताओ की बात सुन रहा था और दूसरा जैसे समूची सभा के आन्तरिक स्पन्दन को भाँप रहा था—उसके पुंज रूप को भी, और पुज के अन्दर अलग-अलग इकाइयो के अलग-अलग स्पन्दन को भी, उसकी अनुकूलता या प्रतिकूलता का व्यास नापता हुआ

शशि बोलने को उठी—धीरे-धीरे आगे बढकर, एक हाथ की उँगलियाँ हल्के स्पर्श से मेज पर टेककर खडी हो गई, एक उछलती दृष्टि उपस्थित जनसमूह को जैसे चीन्ह गई, फिर शशि ने बोलना आरम्भ किया।

उस दुहरी सजगता से देखते हुए शेखर ने जाना कि शशि के सामने आते ही जनता में कौतूहल और औत्सुक्य की एक लहर दौड गई है, उसका सामूहिक मन जैसे आगे को झुक आया है, और उसके साथ ही शशि जैसे उसी अनुपात मे सिमट गई है, पीछे हट गई है, और एक आवश्यक बात कहने की लाचारी का-सा अनिच्छुक भाव उसके चेहरे पर घना हो आया है हल्का-सा अभिमान का भाव उसके मन मे उठा, शशि इतनी घिरी होकर भी इन सबसे कितनी दूर है, कितनी तटस्थ ! जिनका भीतरी जीवन सम्पन्न है, विशाल है, वही बाहरी जीवन से इतने असलग्न अनासक्त रह सकते है और क्या इस भीतरी सम्पन्नता का ही अनुमान उस सभा को नही ललकार रहा, क्या उसी के आकर्षण से वह आगे नही खिंची हुई, क्या

शेखर सभा के एक-एक चेहरे का भाव पढने मे इतना तन्मय हो गया कि कुछ भी सुनना भूल गया, यो शशि के घने, शान्त, पर किसी आन्तरिक स्पन्दन से गूंजते हुए स्वर की लहरे अनसुनी भी उसके भीतर पैठ रही थी, जब तक वह स्वर वैसा था तब तक शेखर आश्वस्त था और अर्थ की उपलब्धि आवश्यक नही थी--

पर स्वर की गूंज मे एक हल्की-सी कम्पन क्या है, उसका घनापन क्यो बिखरने-सा लगा है, उस शान्ति के नीचे यह विद्रोही तीखापन क्यो जगा आ रहा है---

" आदर्शो का अभिमान आसान है, विवाह का हिंदू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श---किन्तु अभिमान की काही के नीचे आदर्श का पानी क्या अभी बहता है कि बँधकर सड गया है ? गृहस्थ-धर्म उभयमुखी होता है, किन्तु आज के जीवन मे पुरुष की ओर से देय कुछ भी नही है, सख्य तो दूर, करुणा भी देय नही रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गई है, निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहाँ चाहे अपनी तुष्टि की आग मे होम कर दे ! और इसकी कही अपील नही है, क्योकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी की किसलिए जाती है ?' यह आदर्श नही, आदर्शो की समाधि है, देह नही, सदियो की सूखी त्वचा मे निर्जीव हड्डियो का ढाँचा है—"

शेखर जैसे सोचता-सा है कि शशि सभा से दूर है, किन्तु अपनी बात से बिल्कुल भी दूर नही है—अन्य लोग जैसे विषय के बाहर से, ऊपर से बोलते है, पर शशि मे वह आग सा सुलग रहा है—क्या इतनी तीव्रता के साथ बोलना चाहिए ? किन्तु नही तो बोलना ही क्यो चाहिए, अगर देने की ज्वाला नही है तो अँधेरा—

उसकी चेतना अचकचाई-सी फिर सभा की ओर लौटती है—लोग तो सुन नही, मुस्करा रहे है---और शशि की आँखो की स्थिरता जैसे विचलित सभा मे कही—कही-भी, कुछ-भी खोज रही है जिस पर टिक जाय---एकाएक सभा मे कही से कहकहा उठता है और फिर सारी सभा अट्टहास से गूंज उठती है, जिसकी गडगडाहट को भेदती है या तो दो-चार सीटियाँ या शशि का चीखता-सा स्वर, "ठीक है, यही है आपके पास देने को, आपका आदर्श, यह हृदयहीन बुद्धिहीन रेकता हुआ तिरस्कार—"

सभा को क्या हो गया है ? और क्या यह शशि ही है ? नही, शशि, नही, सभा से लडने का कोई लाभ नही है, सभा का अविवेक समूह का पुजगत अविवेक है, उससे—

शशि का तमतमाया हुआ चेहरा देखकर शेखर लपककर मच पर पहुँचा और चारो ओर छाई हुई ठठाती हुई अव्यवस्था के बीच से उसे हटाने के लिए उसे खीचने लगा, पर शशि जैसे उसे जानती ही नही थी, केवल सभा को जानती थी, और अपने आहत तमतमाए नारीत्व को किसी तरह पीछे खीचकर शेखर उसे मच से हटाकर पीछे के कमरे तक ले गया, वहाँ एक कुर्सी पर उसे बलात् बिठाकर उसने मच की ओर का द्वार धडाके के साथ बन्द कर दिया, उधर से आता हुआ बहुरूप कोलाहल धीमा पडा तो शशि फिर उठी, पर शेखर उसे बाहर की ओर ले गया, जाता ताँगा रोककर शशि को उसमे बिठाकर स्वयं बैठ गया,

"चलो—" कहकर "किधर बाबूजी ?" का उत्तर देते-देते उसने अनुभव किया कि शशि की देह अभी तक थर्रा रही है, जैसे तीर को प्रेरित करने के बाद प्रत्यचा कॉपती रहती है वह स्तब्ध बैठा रहा, केवल ठिकाने पहुँचकर, तॉगेवाले को पैसे देकर जब वह बॉह का सहारा देने के लिए शशि की ओर बढा, तब उसने बडी कोमल चिन्ता के स्वर मे कहा, "शशि—"

जैसे शशि के भीतर कुछ टूट गया हो, वह लडखडा गई और शेखर की सँभालती हुई बॉह ने जाना कि वह बेहोश हो गई है

कमरे मे उसे लिटाता हुआ शेखर यह नही सोच सका कि मूर्छा देवताओ की देन होती है, कि असह्य तनाव से अपनी देन की रक्षा के लिए ही वे विस्मृति के फूल बरसाते है, कि उस मन्त्र-सिक्त नीद मे प्राणी की सूक्ष्म देह विश्राम पाकर स्फूर्त हो उठती है, शशि के मुँह पर छीटे देता हुआ और एक कापी से पखा करता हुआ वह कुछ भी सोच नही सका, भीतरी घबराहट की लहर सहसा बढकर एक उन्मत्त आवेश बन चली उँगलियो की सूनी पकड मानो न-कुछ की हड्डियो को मसलने लगी

एकाएक शशि ने खोई-सी ऑखे खोली, उसे खोजकर पहचाना और फिर तनकर कहा, "जानते हो वे क्यो हँसे थे, शेखर ?" और चेतना फिर बुझ गई।

वह भीतरी लहर उमडकर उसे लील गई। उसके हाथ जैसे तोडने-फोडने को फडक उठे, उँगलियो की सूनी पकड न-कुछ की हड्डियाँ मरोडने लगी शेखर ने पानी का एक गिलास शशि के पास रख दिया, शरीर के कपडे कुछ ढीले कर दिए, एक चादर उढा दी, फिर एक बार चारो ओर देखकर बाहर चल पडा—मीटिग की ओर उनकी इतनी मजाल बर्बर पशुओ की—शशि को हँसते है, शशि को, शशि के जीवन को और उसकी यातना को मेरे सामने हँसे कौन-सा मुँह——

किन्तु जब वह सभा-स्थान पर पहुँचा तो वह खाली हो चुका था, सभा बिखर गई थी कुछ देर वही खडे रहकर वह लौटा, बाहर सडक पर आया तो अचानक एक ओर उसे हँसने का स्वर सुनाई दिया। उधर मुडकर उसने देखा, दो सूट-धारी नवयुवक बाबू चलते हुए हँस रहे थे। क्यो, किस बात पर, यह पता नही था, पर उनका हँसना ही जैसे शेखर को डस गया, वह उनकी ओर बढा और जान-बूझकर दोनो को धक्का देता हुआ बीच से निकल गया।

"ए—देखो जी—"

इसी की शेखर को जरूरत थी। उत्तर मे उसने कडककर कहा, "क्या है ?" और एक घूँसा बाबू को दे मारा। क्षण-भर मे दोनो गुत्थमगुत्था हो गए, बाबू का साथी हक्का-बक्का देखता रह गया। किन्तु यह देखकर कि अकेले साथी की जीत नही होगी वह भी उलझने को तय्यार हुआ, पर तब तक भीड जुटने लगी थी, लडाई आगे नही चली, लोगो ने खीच-खॉचकर अलग कर दिया और जब तक बाबू लोग उन्हे सब मामला समझाने लगे तब तक शेखर अलग होकर सबको घूरता हुआ चल पडा धीरे-धीरे बोध उसके भीतर जागने लगा

कि वह अभी एक मूर्खता करके चुका है, पर साथ ही एक विश्रान्ति का, तनाव के मिट जाने का भी अनुभव उसे हुआ वह जल्दी-जल्दी घर की ओर चला, क्योकि तनाव का ज्वार उतरते ही शशि के लिए चिन्ता ने उसे आ घेरा।

शशि की मूर्छा टूट चुकी थी, पर शेखर ने उसे छूकर देखा, उसकी देह तीव्र ज्वर से जल रही थी। वह शशि के माथे पर हाथ रखकर सिरहाने भूमि पर बैठ गया।

"क्षमा करो, शेखर—"

" "

"पता नही मुझे क्या हो गया था—हिस्टीरिया इसी को कहते है ?"

"नही, हिस्टीरिया उसे कहते है जो मुझे हुआ था।" शेखर फीकी हँसी हँस दिया। "दो वावुओ से मार-पीट कर आया।"

"कव ?"

"अभी, जव तुम—सोई थी।"

क्यो ?"

"क्यो जानता तो हिस्टीरिया कैसे होता ? क्यो न जानने को ही तो हिस्टीरिया कहते है। पर शशि, शशि, शशि—" शेखर से कुछ कहते नही वना, वह धीरे-धीरे शशि के केश सहलाने लगा, और जव शशि ने अपना हाथ उसके हाथ पर रख दिया तव विल्कुल निश्चल हो गया

यह भूल अव फिर नही होगी, शशि, झूठे अहकार को लेकर मै अपना सौभाग्य दूसरो को दिखाना चाहता था, विना जाने कि सौभाग्य तभी होता है, जव दिखाने को पास कुछ न होने पर भी व्यक्ति सम्पन्न होता है शशि, तुम्हारे दिन पुनीत हो, क्षण-क्षण पुनीत हो, शशि

* * *
** ** **

दिल्ली

धुएँ की यवनिका मे से कभी दायी ओर यमुना का पुल झिलमिला जाता है, कभी और भी दाये हटकर किले की एक वुर्जी और दीवार, और कभी धुंध के और भी कट जाने पर सामने जमुना की दुवली श्यामल देह भी रेत के लम्वे परिधान में लिपटी दीख जाती है, और पार झाऊ की झाडियाँ, और अधूरे छोड दिए गए एक कूएँ का स्तूपाकार गोला शशि को तकियो के सहारे कुछ उठाकर, ताकि वह खिडकी के वाहर का दृश्य देख सके, शेखर स्वय उसके पीछे खडा है, और भोर का पहला उद्घाटन जो देखा उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। धुंध और धुएँ के वीच से जो कुछ दीखता है, वह सव नया और अपरिचित है, किन्तु उसके नयेपन के प्रति ही एक वन्धुभाव उसमे जागता है, क्योकि यह सव लाहौर नही है, वे दोनो एक विपैले वृत्त के वाहर निकल आए है और यहां की धुंध के पीछे

अवश्य एक नया व्यक्तित्व है जो मित्र का है, बन्धु का है--चाहे उसे पहचानने मे कुछ दिन लग जायँ

यहाँ आने के पीछे एक इतिहास था। षड्यन्त्र-कारियो के जीवन का जो कुछ नया ज्ञान शेखर ने पाया था, उसके आधार पर उसने एक छोटा-सा उपन्यास लिख डाला था, जिसमे कला गौण थी, उस जीवन को ज्वलन्त रूप से जनता के आगे उपस्थित करना, और उसको निमित्त बनाकर उग्र असन्तोषकारी विद्रोहात्मक विचारो का प्रचार करना ही मुख्य उद्देश्य था। उपन्यास इतना 'गरम' था कि प्रकाश्य रूप से उसका मुद्रण हो ही नही सकता था, अत प्रकाशक खोजने का सवाल नही था, पर रामकृष्ण ने हस्तलिपि उससे लेकर दो-चार व्यक्तियो को दिखाई थी और फिर शेखर को बताया था कि गैर-कानूनी तौर पर उसे छापने और बेचने का प्रबन्ध हो सकेगा, और एक 'सिम्पेथाइज़र' ने इस काम के लिए बहुत-सा रुपया भी दिया है, फिर यह भी कि पुस्तक लाहौर ही मे छपेगी अत शेखर का यहाँ से चले जाना ही उचित है, जैसा कि वह स्वय चाहता है, और यह सम्भव बनाने के लिए दल ने निश्चय किया है कि सिम्पेथाइजर से पाये हुए रुपए मे से ढाई सौ शेखर को दे दिया जाय, जिससे वह अन्यत्र जाकर अपने योग्य व्यवस्था कर सके। शेखर ने दिल्ली जाने का निश्चय कर लिया, क्योकि बडे शहर मे शान्ति से रह सकना अधिक सम्भव है, और बिना अपनी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किये कुछ जीविका कमाने की भी व्यवस्था हो सकती है, और फिर दल के लिए भी वह बहुत कुछ कर सकेगा रात के सफर से शशि को कष्ट न हो, इसलिए प्रात काल चलकर वे रात को दिल्ली पहुँचे थे, दल के एक सदस्य ने यमुना के पास सस्ते किराये पर ढाई कमरे का एक मकान ढूंढ रखा था जहाँ वे रात को पहुँच गये थे। और भोर की पहली किरणें दो परदेशियो को जगाकर दिल्ली के धुँधले दृश्य दिखाकर परिचित बनाने का प्रयास कर रही थी

दिल्ली मे यमुना का तीर, ढाई कमरे का सर्वत सम्पूर्ण मकान, पास मे ढाई सौ रुपए, अपरिचित इसलिए स्वच्छन्द वातावरण, और—सप्तपर्णी की छाँह अगर देवता है तो उन्हे धन्यवाद कि यह सम्भव हुआ है, कि शशि की वत्सल छाँह मे वह खडा हो सका है और अपने को उस वात्सल्य के प्रति उत्सर्ग कर सका है कि उस वात्सल्य को कुचलने के लिए बढा आता कलुष पीछे रह गया है, कि आस-पास एक नया वायुमण्डल है जिसमे परिचय नही है इसलिए करुणा अवश्य है, कि अपने को होम कर देने मे शशि ने अपने जीवन का जो अश पगु कर लिया है, उसे पुनर्जीवित करने का, नही तो कम-से-कम उसका दर्द भुला देने का निर्बाध अवसर शेखर को मिला है शशि से उऋण होने की स्पर्धा वह नही करता, पर जो पाना ही पाना रहा है, उसकी विनत स्वीकृति की भी आजादी उसने अब तक नही पाई थी, अब वह उसे मिलेगी, और वह शशि की सेवा कर सकेगा

शेखर दिल्ली कोई निश्चित कार्यक्रम लेकर नही आया था। तत्काल ही कुछ आमदनी

करने की बाध्यता भी अभी नही थी। तथापि उसने अस्पष्ट निर्णय कर लिया था कि कुछ कमाई का काम अवश्य करता रहेगा, और वह काम भी यथासम्भव ऐसा होगा कि उसे अपने ही वर्ग के सम्पर्क (अर्थात् सघर्ष !) मे न लाए, बुद्धिजीवी वे हो जिन्हे बुद्धि से जीविका कमाने के अतिरिक्त और कुछ नही करना है ! वह केवल अपने शरीर का श्रम बेचकर ही काम चलाएगा, ताकि अपने बुद्धि के घोडे को पराई उपयोगिता की गाडी मे न जोतना पडे—उसका सर्वनाश न करना पडे।

किन्तु क्या काम वह कर सकता है ? कालेज की पढाई ने उसे शारीरिक उद्यम के लायक नही बनाया ! उसकी कुछ सामर्थ्य बच गई है तो कालेज के कारण नही, इसलिए कि वह सम्पूर्णतया कालेज का नही हो सका ! बहुत सोचकर और दल के दो-एक व्यक्तियो से मिलकर उसने निश्चय किया कि वह साइनबोर्ड पेटर का काम करेगा—इसमे आज़ादी भी बनी रहेगी, पूँजी भी विशेष नही लगेगी, थोडी-बहुत कलाकारिता भी दर्शाई जा सकेगी, और—काम चल गया तो आमदनी भी हो ही जायगी। दल का स्वार्थ यह था कि इस प्रकार और भी दो-तीन व्यक्तियो को आश्रय दिया जा सकेगा—वे रात कही रहेगे, और दिन-भर शेखर की 'दुकान' मे काटा करेगे, ताकि रात के आश्रय की जगह कोई सन्देह न हो, वहाँ यही समझा जाय कि दिन मे नौकरी पर जाते है, और दिन तो कट ही जायगा। बाहर का काम न आवेगा तो अपना ही कुछ-न-कुछ काम किया जा सकता है, दुकान के लिए स्थान दल के खर्चे पर लिया जायगा और बाकी सामग्री का प्रबन्ध शेखर स्वय करेगा।

फलत अठारह रुपए मासिक पर नई सडक के ऊपर की मजिल मे एक कमरा लिया गया, सामने के छज्जे के बाहर शेखर ने एक बडा-सा रगीन बोर्ड तय्यार करके लटका दिया, और तीन सहकारियो को लेकर दुकान आरम्भ कर दी ! काम कुछ नही था, किन्तु काम का दिखावा करने के लिए दो-चार बोर्ड अधरगे करके इधर-उधर फैलाये गये, पतले बोरिये का एक बडा-सा पर्दा रँगा गया, और छोटे-बडे टीन और कनस्टर इधर-उधर फैला दिये गये। जाडो के दिन थे, बहुत सवेरे आना आवश्यक नही था, शेखर लगभग ग्यारह बजे वहाँ पहुँचता और बडे कामकाजी के ढग से रग-बगू फैलाकर कुछ-न-कुछ बनाने बैठ जाता, उसके 'सहकारी' प्राय कुछ पहले आते और आकर कुछ पढते-लिखते रहते, पहले अपना रूप पेटरो जैसा बनाकर और सामने पेटरी का उपक्रम करके ! कभी जीने पर पैरो की आहट होती, तो सब किताबे-कापियाँ छोडकर 'काम' की ओर दत्तचित्त होते या कोई एक सिगरट भी पीने लगता—जब आहट के पीछे जमादार या कोई भूला-भटका मोची या लेस-फीतेवाला निकलता तो सब एक-दूसरे को कनखियो से देखकर मुस्कराते कि अच्छे बेवकूफ बने !

और चार-पाँच बजे शेखर बडे उत्साह से घर लौटता, देखता कि बहुत मना करने पर भी शशि उठकर कुछ काम मे लगी है और तत्काल प्रत्येक काम मे टाँग अडाकर शशि को बाध्य कर देता कि वह हारकर छोड दे। यह समझौता हो चुका था कि शशि नित्य एक शाक और रोटी बना दिया करेगी, और झाड़ू-बुहारी, चौका-बर्त्तन शेखर करेगा, पर नित्य

ही इस पर झगडा होता, क्योकि शशि कहती, चौका-बुहारी उसका काम है, और शेखर निश्चय जानता कि रसोई उसे करनी चाहिए। फिर सहसा धुध घिर आती, और उनका छोटा-सा घर एकाएक सारे ससार से सिमटकर अलग, बहुत दूर कही अलग होकर स्तब्ध शान्त और स्निग्ध पर उस स्निग्धता मे एक गहरी उदासी स्पन्दित होती, और उस उदासी मे एक अपूर्व स्निग्धता, जिससे दोनो एक-दूसरे के बहुत समीप अनुभव करते और साथ ही न जाने किस सकोच से खिचे हुए शेखर सोचता, सप्तपर्णी की छाँह मे जो शीतलता है, अपूर्णताओ का जो निराकरण है, उसके बाद और कुछ चाहने की गुंजाइश नही है, किन्तु यह सोचने मे ही एक अपूर्णता उसके भीतर रडक उठती और वह जानता कि वह कुछ चाहता है जिसे आकार नही दे सकता, शब्दो मे नही बाँध सकता कभी एकाएक बीच मे शशि बोल उठती, 'शेखर, ऐसे आराम से नही चलेगा,—अब कुछ लिखना शुरू करो न?' और वह उतर देने की बजाय सोचने लगता, शशि सचमुच यही चाहती है, या कि इस आराम के पीछे के खोखल को देखकर ही उससे बचने को कह रही है? क्योकि खोखल वहाँ अवश्य है, यद्यपि वह उसे देख नही सकता, पहचान नही सकता, माप नही सकता—और इसलिए भर नही सकता

दिन आए कि लटकते हुए पत्तो ने एकाएक जाना कि वे बहुत पीले पड गए है, और बोझ के धक्के से लडखडाकर गिर पडे भूले-से झकोले डालो को कँपाकर बाकी पत्तो को भी गिराने लगे। समीर की शीतलता कम नही हुई, किन्तु उसके भीतर मानो बडी दूर के किसी झूठे वसन्ती वायदे के रोमिल स्पर्श का भ्रम होने लगा, धुध फीकी पड गई, दिन के वेग के साथ पजे मिलाने मे अन्धकार का असुर प्रतिदिन कुछ ढिलाई करने लगा और शेखर की दुकान मे ग्राहक आने लगे! एक दिन एक साथ ही तीन बोर्ड तय्यार करने का आर्डर पाकर सहकारियो समेत वह काम मे लगा रहा, शाम को लोटते समय अपनी निबटती हुई पूंजी मे से एक टिकिया मक्खन और थोडे-से टमाटर खरीदता लाया और घर पहुँचते ही उत्साह से पकाने भी बैठ गया—डाक्टर ने कहा था, शशि को टमाटर ओर फल और ताजे हरे शाक खाने चाहिएँ, और सर्दी लगने से या नमी से बचना चाहिए अगले दिन वह आमदनी के पाँच-सात रुपए लेकर लौटेगा,इस उत्साह ने उसे शक्ति दी कि वह आज अभी शशि को यह सु-समाचार न सुना दे किन्तु जब वह शशि को खाना खिलाने बैठा—शशि क्रमश अधिकाधिक अनुगत होती जाती थी और जो वह कहता था, बिना प्रतिवाद मान लेती थी, यहाँ तक कि कभी वह स्वय इस अतिशय आज्ञाकारिता से विस्मित हो उठता था!—तो न जाने क्यो उसे लगा, शशि उदास है नयी बात नही थी, शशि के चेहरे की वह स्निग्ध उदासी उतनी ही शान्त थी, शायद उत्तर-माघ और फाल्गुन की खिचडी साँझ के रगो का ही असर था पर शेखर को सहसा जान पडा, शशि उदास है, और इसलिए उदास है कि उसके बारे मे सोचती रही है तब सहसा उसने कहा, "शशि, मुझे बधाई दो, आज दूकान मे काम मिला है।"

शशि ने हँसते हुए कहा, "ओ-हो, तब तो बडी खुशी की बात है। क्या काम मिला ?"

"तीन बडे-बडे बोर्ड—कोई नयी कम्पनी खुल रही है, उन्ही के तेल-साबुन के बोर्ड, और एक पन्द्रह फुट का नाम का बोर्ड।"

"अच्छा पेटर साहब! तब तो आपका सितारा चमक उठा—और रग-बिरगा!" फिर एकाएक शशि की दृष्टि काँपकर थाली पर जा रुकी और स्थिर रह गई।

"क्यो, शशि, क्या है ?"

"अब तुम लिखोगे नही, शेखर ?"

शेखर अचकचा-सा गया सचमुच, साइनबोर्ड के रग क्राति के रग नही है और वातावरण की शान्ति ने उसे प्रोत्साहित न करके तन्द्रा मे डाल दिया है—वह कुछ कर नही रहा है, निरा साइनबोर्ड पेटर हो गया है, और वह भी असफल

उसने लज्जित-से स्वर मे कहा, "क्यो नही लिखूंगा ? मैं भूला नही हूँ, शशि, मैं लिखूंगा—"

"नही, शेखर, तुम कुछ नही कर रहे हो। मेरे लिए खाना बनाना और तेल-साबुन के बोर्ड रँगना, इसमे तुम कैसे रह सके हो अब तक भी ?"

तब शेखर ने जैसे अण्टी खोलकर सच बात निकालते हुए कहा, "शशि, मुझे सूझता नही क्या लिखूँ। पहले आस-पास का दबाव लिखने नही देता था, पर उसी मे से लिखने की प्रेरणा भी मिलती थी, अब आस-पास शान्ति है, पर—लिखूँ क्या तुम बताओ ? आस-पास कही कुछ हो ही नही रहा—"

"शेखर, तुम यह कहो कि लिखने को कुछ नही है ? और क्या आस-पास की घटना ही सच है, अनुभव का सच कुछ नही है ?"

"अनुभव का क्या सच ? अनुभव मे तो झूठ-ही-झूठ आया है—और अनुभव भी मेरा कितना—"

शशि ने आग्रह से कहा, "मैं यह नही मान सकती, शेखर, कि तुम्हारे पास लिखने को सामग्री की कमी है। तुम भूले नही, अनदेखी कर रहे हो। क्या बाबा मदनसिह की बात मे लिखने को कुछ नही है ? क्या मोहसिन से तुम्हे कुछ नही मिला जो आगे औरो को दिया जा सकता है ? क्या रामजी अपात्र था ? तुमने भी बडा अनुभव हो सकता है ज़रूर, पर मैं कहती हूँ, जो सत्य तुमने देखा है, जिसका अपने रक्त में अनुभव किया है, उसकी बात लिखो तो अवश्य लेखनीय होगी। बात बडी नही चाहिए, बात का अनुभव बड़ा चाहिए, आदमी की पकड़ बड़ी चाहिए—बात को वश मे करने की लगन और साहस। ताप लकडी मे नही होता, आग मे होता है, और तुम अपने अन्तर के सच की बात लिखोगे तो उसमे जरूर आग होगी—ऐसी आग जिसके आगे कुछ नही टिकेगा और जिसमे मेरे ससर्ग का पाप भी धुल जायगा!"

अन्तिम वाक्य से चौककर शेखर ने प्रतिवाद करना चाहा, पर शशि की आँखो मे एक दीप्ति जाग उठी थी जिसे देखकर वह चुप रह गया।

"देखती हूँ, मैं तुम्हारे मार्ग मे वाधा वन रही हूँ। पर इसे अनिवार्य नही मानती, जिस दिन देखूँगी कि यह अनिवार्य है उस दिन—उस दिन—" एकाएक रुककर, "नही, शेखर, तुम सव लोगो को भूलकर अपना निजी सत्य लिखो, जो भी हो—"

अनुभव करके कि शशि जिस ढग से वात कर रही है, उसका विषय निरे लिखने से अधिक गहरा चला गया है, शेखर ने कुछ हँसी-सी मे कहा, "तव तो तुम्हारी कहानी लिखूँ—निजी सत्य—"

शशि मुस्कराई भी नही, और भी गम्भीर होकर वोली,—"हाँ, जव मैं भी ऐसा सत्य हो जाऊँगी, निरा सत्य, जिसे तुम तटस्थ होकर देख सकते हो, तव मेरी कहानी लिखना—" एकाएक फिर दीप्त होकर, "और कहानी ऐसी वुरी नही होगी, शेखर।"

शेखर स्तव्ध रह गया।

शशि हाथ धोने के लिए उठी। शेखर भी रसोई से उठकर कमरा लाँघकर यमुना की ओर के वरामदे मे जा खडा हुआ और एकटक नदी की ओर देखने लगा—नदी का जल धुएँ मे छिप गया था, पर जहाँ उसे होना चाहिए वहाँ धुएँ मे भी एक खुलेपन का-सा भान होता था, उसी पर शेखर की दृष्टि टिकी थी।

शशि भी वरामदे मे आकर उससे कुछ दूर पर खडी हो गई।

शशि ठीक कहती है। कब उसकी वात गलत होती है? क्योकि उसकी हर वात मे अपने को तपाकर पाया हुआ कचन होता है—जैसे वावा की वातो मे होता था शशि उसी की सम-वयस्क है, किन्तु कितना गहरा विवेक है उसमे, कितनी प्रशस्त सवेदना, कितना विशद ज्ञान—प्रज्ञा! क्यो शशि स्वय नेता नही है, क्यो वह शेखर के जीवन मे एक अप्रधान, अनुगत, अधीन पद लेकर सन्तुष्ट है, क्यो उसे आगे वढाने के लिए अपनी आहुति दे रही है, अपने को निरन्तर मिटा रही है? क्या इतना वडा आत्म-वलिदान वह स्वीकार कर सकता है? क्या गारटी है कि इतने वडे त्याग से जो वनेगा, उसका आत्यन्तिक मूल्य उस देने के वरावर होगा? और हो भी तो कैसे वह इन दामो उसे ले सकता है

शेखर ने मुडकर शशि की ओर देखा। झुटपुटे मे उसकी आकृति नही दीखती थी, केवल यमुना पर टिकी हुई अपलक आँखे दीखती थी। विना विवृत्ति के उसने कहा, "शशि, तुम अपने को वरावर मिटाती जाओगी और मैं निर्लज्ज होकर सव स्वीकार करता जाऊँगा—यह नही होगा। तुम जो हो, उसका गौरव मैं जो हूँ उससे पचास गुना—सौगुना ज्यादा है—उसकी वलि मैं नही लूँगा, नही लूँगा, नही लूँगा।"

शशि ने चौककर उसकी ओर देखा, फिर पास आकर कहा, "हूँ, क्या कह रहे हो, शेखर?"

एक गहरी साँस लेकर शेखर फिर वोला, "कहता हूँ, मैं तुम्हारा वहुत कृतज्ञ हूँ, शशि

कितना यह कह नही सकता, पर इसलिए तुम्हारा यह अपमान नही कर सकता। तुम मुझे कुछ वताना चाहती हो, पर तुम्हारा ज्ञान मुझसे अधिक है, वोध मुझमे वडा है, सवेदना मुझसे गहरी है, और तुम उस सवको मिटा रही हो—मेरे लिए ?"

शशि और पास आ गई। "तुम पूछते हो, तो कहती हूँ। लो सुनो। स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आई है। ज्ञान सव उसमे सचित है, जैसे धरती मे चेतना सचित है। पर वीज अकुरित होता है, तो धरती को फोडकर, धरती अपने-आप नही फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मै इसे अपमान नही समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति मे स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। धरती-धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है, क्या हुआ अगर उसके लिए सृजन पुलक और उन्माद नही, क्लेश और वेदना है ?"

सन्नाटा छा गया। यमुना के ऊपर छाए हुए धुएँ मे से जैसे एक नीरव साँय-साँय उमडने लगी

"मै अपने को मिटा नही रही—जिस शेखर को मै देखती हूँ, उसके वनाने मे मेरा वरावर का साझा होगा, इसलिए लेन-देन का कोई सवाल नही है, और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।"

और घना सन्नाटा, और फिर और भी नीरव साँय-साँय की और भी उच्छृखल उमडन —और उस उमडन के वीच मे से सहसा आलोक का लहरिल पारावार और शशि के अ-दूरत्व, अपार्थक्य का प्लवनकारी वोध—शेखर ने हठात् आगे वढकर केशो और त्वचा के संगम स्थल पर शशि का माथा चूम लिया, और फिर साँस के-से स्पर्श से उसके ओठ

"नही, शेखर, नही, वह नही—" एकाएक टूटते-से स्वर मे, "वे जूठे है !" दशित-सी शशि पीछे हट गई, और उसकी तीखी सिसकी सुनकर ही शेखर ने जाना कि क्या घटित हो गया है और जानकर जैसे वह एकाएक जडित, हतसज्ञ हो गया, और सामने शशि को रोती खडी देखकर भी न हिल सका, न वोल सका, निर्निमेष शशि के धुँधले चेहरे की ओर देखता रह गया।

"शेखर—"

" . "

"शेखर, मुझ क्षमा करो—वह नही तुम नही जानते, मेरे जीवन का एक अग है जो जूठा हो गया है, और एक ऐसे व्यक्ति के स्पर्श मे—जिसकी—छाँह मे भी तुम्हें—वचाना चाहती हूँ "

वहुत धीरे-से मानो अपनी ही वाणी से लज्जित, "शशि "

"सच कहती हूँ, तुम नही जानते अगर जीवन मे उसे विल्कुल निकालकर फेंक सकूँ, तो फेक दूँ—पर सकती नही मैने उसको—अपने विवाह को वहुत निकट, वहुत सच मानकर झेला इसके लिए तय्यार थी कि वह मुझे मिटा दे, नष्ट कर दे, पर उसने नष्ट नही किया, केवल पग करके, जूठा करके छोड़ा दिया और अव "

शेखर ने साहस बटोर कर एक हाथ शशि के कन्धे पर रखा और अनुभव किया कि कन्धा भी सकुचित हो गया है, फिर भी किसी तरह कहा, "शशि, मत रोओ "

शशि सिसकती रही। शेखर ने फिर कहा, "तुम योही अपने को क्लेश दे रही हो—वह पात्र नही है, शशि वह निकल गया है तुम्हारे जीवन से—अनुताप मत करो—उसके लिए रोना—"

एकाएक और भी फूटकर, बिखरकर शशि ने कहा, "मै उसे कब रोती हूँ—मै अपने प्यार को रोती हूँ जो मैने उसे दिया "

रात मूर्तिमती करुणा है, अन्धकार देवताओ का कोई रामबाण मरहम है जो कुल वेदनाओ की टीस को सोख जाता है

अँधेरे मे घिरे हुए उस दुहरे एकान्त मे एक दूसरे की व्यथा के स्पन्दन को देखते हुए, न देखकर स्पष्टतर जानते हुए और इसलिए न देखकर आश्वस्त, शशि और शेखर चुपचाप पडे रहे। शशि का सिसकना क्रमश मूक हो गया था, और वह धीरे-धीरे टटोलती-सी भीतर चली गई थी। देर बाद शेखर ने भीतर जाकर रसोईघर की बत्ती बुझा दी थी, और फिर अपने बिस्तर पर जा लेटा था

अन्धकार मे उसे कुछ नही दीखता था, किन्तु शशि की वेदना स्पष्ट दीखती थी वह तो सदा दीख सकती थी, पर इस अन्धकार मे उसे कुछ अधिक भी दीख रहा था जो पहले नही दीखा था सप्तपर्णी की छाँह पारिजात की छाँह है, उसमे निरी सान्त्वना नही है, उसमे उत्साह है, उसमे गन्ध है, रस है, प्रस्फुटन है, निरा अतीत नही, उसमे स्पन्दित वर्त्तमान और उनींदा भविष्य भी है—और इसीलिए उसमे इतना बडा शून्य है जो अभी तक नही भरा

शेखर ने देखा, निर्निमेष आँखो से, निष्कम्प दृष्टि से देखा देखा देवते चौक जायँ सुनकर तो चौक जायँ—पर उस प्यार को कहना ही क्यो जरूरी है ?

शेखर, तुमने आरम्भ से ही क्यो नही अपनी नियति को देखा ?

*　　*　　*

जाडो का एक और प्रभात—वही क्रमश धूसर, ताम्रलोहित, लाल और फिर सफेद होनेवाली प्रात कालीन धुन्ध, फिर दिशाहीन आलोक, फिर अलसाई-सी पहली रवि-किरण किन्तु किरण से पहले ही शेखर उठा और शशि के कमरे की खिडकी के पास जा खडा हुआ, काँच पर जमी हुई नमी को एक उँगली से नीचे बहाकर, भीतर झाँकने लगा।

शशि सोई थी—मुद्रा से जान पडता था कि रात्र-भर जागकर अभी सोई है; उसका शरीर छुईमुई-सा सिकुडा हुआ था, पर तकिये पर एक ओर झुका हुआ चेहरा जैसे आगे उठा था, ओठ किंचित् खुले थे, और माथे मे आगे को लटक आया बालो का एक गुच्छा उसके श्वास-प्रश्वास के साथ झूल रहा था ।

शेखर बहुत देर तक निश्चल खडा उसके चेहरे को देखता रहा—उसकी दृष्टि एक अत्यन्त स्नेहल स्पर्श से उसे सहलाती रही, जैसे उस उन्मुक्त लट को शशि का प्रश्वास शशि की पलके पारदर्शी-सी जान पडती है, यह उसने पहले भी लक्ष्य किया था, पर अब उसे लगा मानो समूचा चेहरा पारदर्शी हो गया है—मानो इतने दिनो चुपचाप सही हुई यातना ने उस स्वच्छ त्वचा को और भी शोधकर एक आन्तरिक कान्ति दे दी है शशि का चेहरा पीडित चेहरा नही है, और इस प्रशमन के क्षण मे तो कदापि नही—किन्तु उसे देखकर सहसा किसी व्यापक शुभ्र वेदना का बोध हो आना अनिवार्य था—ऐसी वेदना, जो चॉदनी की तरह नहला और कँपा जाय

'नही, नही, शेखर, वे झूठे है—' क्या कुछ भी ऐसा है जो उस चेहरे को झुठला क्या, छू भी गया हो—जिस प्रकार श्वेत दीप्ति की सीमा तक तने हुए धातु को कोई छू नही सकता, उसी प्रकार यह वेदना से मँजा हुआ दीप्त चेहरा भी अस्पृश्य है—जब तक कि कोई समान दीप्ति ही उसे छू न ले—

किन्तु शशि की तपस्या क्या उसे सचमुच इतनी दूर ले गई है—इतनी अलघ्य, अपरिमेय दूर—क्या वह शोधक दुःख उसी के आगे स्फटिक की दीवार-सा आ गया है—जिसमे सब-कुछ अतिशय स्पष्ट दीखे, किन्तु हो अस्पृश्य ?

धुन्ध का अन्तरालोक बढकर किरण बन गया, शेखर ने एक लम्बी साँस ली जो हठात् शशि के लिए आशीर्वाद बन गई, फिर दबे-पाँव वहाँ से हटकर काम पर जाने की तय्यारियो मे लगा अच्छा ही है कि शशि अभी सोई रहे, विश्राम भी कर ले और—क्या जाने, उसके जागते ही वह घना सकोच भी उमड आये जो .

पेन्टर-मण्डली फिर दिन के अधिकाश भर काम करती रही, बोर्ड तय्यार हो गए। साँझ को अभी सूखे भी नही थे कि गाहक लेने आ गया, दो उसी दिन चले गये और तीसरे के अगले दिन जाने की बात ठहरी—दो के दाम भी चुका दिये गये। शेखर ने आमदनी मे दो हिस्से किए—एक उसका था, दूसरा दल का—दल अनेक प्रकार के खर्च चलाता है जिसमे प्रत्येक सहयोगी को भी भरसक कुछ देना होता है आय के पचभाग मे लेकर आधे तक देने की परम्परा है

सात रुपए लेकर शेखर घर की ओर चला। यह अक्षरश पसीने की कमाई है—मजूरी है, और आज वह दल को भी कुछ दे सका है और अपने उद्योग का फल लेकर घर की ओर—शशि की ओर—भी जा रहा है शशि, जो प्रिय सदा से थी, किन्तु जो—किन्तु जो—शेखर को शब्द नही मिलते, वह केवल कल्पना कर सकता है कि प्रिय का कोई विराट्-रूप हो, जिसमे जीवन की इयत्ता समा जाय, तो वही रूप शशि ने धारण कर लिया है

किन्तु कल जिस उत्साह से वह काम मिलने की बात लेकर घर लौटा था, आज न जाने क्यो काम का फल लेकर लौटने मे वह उत्साह नही जागता, ज्यो-ज्यो वह घर के

समीपतर आता जाता है त्यो-त्यो एक अज्ञान आशका, एक झिझक उसे पकड रही है निस्सन्देह शशि आनन्दित होती, किन्तु वह जैसे डरता है, उस आनन्द मे भी वह सहसा हताश हो जायगा, और उस हताश को तुरत पहचानकर शशि भी न जाने किस अभेद्य दूरी मे सिमट जायगी और यह है प्रेम का विराट्-रूप—निस्सशय विराट् और निस्सशय प्रेम ।

घर के वाहर वह क्षण-भर रुका तो ठिठका रह गया। भीतर शशि गा रही थी—पजावी के टप्पे—पहाडी सुर मे जो वैसे ही पहाडो के सूने अकेलेपन का, अगम्य ऊँचाइयो और अलघ्य दूरियो का सुर होता है, और जो शशि के गले की गूँजती हुई तरलता कारण और भी असह्य हो गया था, मानो किसी निर्व्यक्तिक असीम विरह का सुर हो

दो पत्तर अनाराँ दे—
दु ख साड्ढा समझनगे
दो पत्थर पहाड़ाँ दे !
मेरा चोला लीराँ दा—
इक वारी पा फेरा
तक हाल फकीराँ दा !

शेखर को एक ग्रीक गाथा याद आई जिसमे किसी दु खिनी वनदेवी के आँसू कल-स्वनित जल-प्रपात वन जाते है जिसका प्रवाह हर आते-जाते पथिक के भीतर करुण चीत्कार कर उठता है और एक टीस छोड जाता है—फिर उसने धीरे-धीरे भीतर प्रवेश किया

आहट सुनते ही शशि चुप हो गई, वह मौन एकाएक शेखर को इतना घना लगा कि उसने तत्काल कुछ कहने के लिए कहा, "लो आज कमाई करके लाया हूँ।"

"अच्छा ? कितनी—" शशि हँसने का प्रयत्न करती है।

"तुम लो तो, वहुत है—वे हिसाव। लो हाथ वढाओ—"

शेखर एक-एक दो-दो करके रुपए निकालकर शशि के हाथ मे रखने लगा। जव सातो रुपए निकल आए और उसका हाथ रुक गया, तव शशि ने चिढाते हुए स्वर मे कहा "और ?"

"और क्या ? एक दिन की तो कमाई है।"

शरारत से हँसकर, "वस, कुल इतनी ही ? इसी के लिए हाथ फैलाने को कहते थे ?"

थोडा-सा चिढकर पर हँसते-हँसते ही शेखर ने कहा, "और क्या अव—जो कुछ था, सव तो दे दिया—" और एकाएक अपनी वात के गूढतर अभिप्राय से स्तम्भित होकर चुप हो गया।

उस चुप्पी से वह गूढतर आशय शशि पर भी व्यक्त हो गया, उसका चेहरा गम्भीर हो आया, आगे वढा हुआ हाथ नीचे लटक आया, और वह धीरे-धीरे भीतर चली गई। भीतर मे शेखर ने रुपए रखे जाने की खनक सुनी, फिर स्वय वरामदे की ओर चला गया।

फिर एक सूनापन उसके मन मे छा गया—आँखे अनदेखनी हो गई उस शून्य मे वह धीरे-धीरे शशि से सुने हुए शब्द गुनगुनाने लगा—

दु ख साड्ढा समझनगे
दो पत्थर पहाडाँ दे—
दो पत्थर पहाडाँ दे

पत्थर क्या समझेगे दु ख—शायद यही अभिप्राय है कि उस दु ख को कोई नही समझ सकता दो पत्थर पहाडाँ दे किन्तु पत्थर पहाडो के है, जिन्होने सदियो तक बर्फीली आँधियो के प्यासे प्यार के नीचे चोटियो को छीजते देखा है, सदियो तक पवन को अन्धी उँगलियो से नगी चट्टानो पर जीवन की हरियाली की एक छोटी-सी फुनगी को भी छू सकने की निराशा मे हाहाकार करते देखा है, जो अभिमान कि ऊँचे-ऊँचे उठे है और अहकार की तरह ढह गए है—पहाडो के पत्थर शायद सचमुच दु ख को समझ सकते हो दु ख साड्ढा समझनगे दो पत्थर पहाडाँ दे

शशि फिर उसके पास आकर चुपचाप खडी हो गई। शेखर को उससे पहली साँझ याद आ गई, और एक क्षण के लिए उसे लगा कि उस साँझ की घटना की आवृत्ति दिनो के बाद दिनो और बरसो के बाद बरसो तक होती चली आ सकती है—निष्परिणाम आवृत्ति और फिर भी वह कुछ नही माँग सकता, क्योकि उन दोनो की धमनी एक है, चाहे शाप की एकता से एक, चाहे वरदान की

शशि ने कहा था, वह सृष्टि है, जिसमे वह सहभागी है, समान स्रष्टा है किन्तु यह निर्माण है, रचना है—जीवन के अशेष विफल-पथ पर यह अन्तहीन अभियान ?

"शेखर, मै वापस चली जाऊँ ?"

"हाँ—"

"वापस—वहाँ जहाँ दे दी गई थी—"

चकित और आहत स्वर मे शेखर ने पूछा, "शशि क्या कह रही हो तुम—वहाँ वापस! यह क्या अभी हो सकता है ?"

"हाँ। वे—प्यार देना जानते होते तो शायद न हो सकता, पर अभी शायद—हो सकता है। अधिक-से-अधिक—"

"वह मै नही पूछता, शशि, तुमसे पूछता हूँ—क्या यह अभी हो सकता है—तुम्हारी ओर से अभी—"

"ओह मै शेखर, मै देख रही हूँ कि मै तुम्हारे मार्ग मे बाधा हूँ, तुम्हे नीचे खीच रही हूँ। और वह मै कभी नही होने दूँगी—उससे कही आसान है लौट जाना—"

नही "तुम कैसी बाते करती हो, शशि ? मेरी तो बात ही अभी छोडो—तुम लौटने की सोच कैसे सकती हो—"

"क्यो ? अगर उसमे तुम्हारी उन्नति है, तुम्हारी सुविधा है, तो—"

"और तुम्हारी अपनी आत्मा कुछ नही है ? ऐसा कोई कुछ नही हो सकता जिसके लिए आत्मा का हनन—"

"मेरी आत्मा उसमे नही मरेगी, शेखर। मै वहाँ भी जी लूँगी—जी सकूँगी—क्योकि तुम्हे बचाती रहूँगी—तुम्हे बढाती रहूँगी। तुमसे दूर हटती हूँ, शेखर, क्योकि पगु हो गई हूँ, इसलिए नही कि—प्यार का अर्थ नही जानती। कोई स्त्री प्यार नही जानती जो एक साथ ही बहिन, स्त्री और माँ का प्यार नही देना जानती—और मै लौटकर इसलिए जी सकूँगी कि—माँ की तरह तुम्हे पाल सकूँगी—तुम नही जानते कि यह विश्वास मेरे लिए कितना आवश्यक है—अब और भी अधिक ! जरूर जी लूँगी। जीवन वह कीडे का होगा, पर नारी अग्निकीट हो सकती है, जिसके पेट मे निरन्तर आग जलती है "

शेखर ने क्षुब्ध स्वर से कहा, "मै यह सब नही सुनूँगा, शशि, तुम तो पागल हो गई हो—मनोवैज्ञानिक केस हो गई हो। तुम—" शब्द न पाकर उस कमी को आवेश द्वारा पूरा करते हुए, "तुम निरी हिन्दू हो गई हो—आत्म-पीडन को तपस्या माननेवाली हिन्दू ! पर तुम्हारा आत्म-हनन मुझे स्वीकार नही है—और वैसी मूर्खता दो जन भी कर सकते है।"

शेखर ने देखा कि शशि चुपचाप रो रही है। न जाने क्यो एकाएक कडे पडकर उसने कहा, "शशि, तुम्हारे दु ख से मेरा कुछ बने, तो धिक्कार उस बनने को ! तुम्हारे—"

"तुम नही समझते, शेखर, तुम समझते हो, मै दु ख को तूल दे रही हूँ। क्या मै चाहती हूँ वहाँ लौटना ? पर मै प्यार का नाम नही लेती, क्योकि—मुझसे नाम लिया जाता नही—उतना प्यार तुम सोच भी नही सकते, शेखर !"

और उसे फिर वही आहत और निर्वाक् छोडकर शशि भीतर चली गई, और थोडी देर बाद उसकी सिसकियो का दुर्बल स्वर शेखर तक पहुँचने लगा

क्या शशि ठीक कहती है ? अगर शशि उसे नीचे घसीटती है, तो और क्या है जो उसे उठाएगा, उसे रसातल ही जाने से बचा लेगा ? और पगु होने की बात—क्या वह शशि के भीतर की ही कठोर निर्ममता नही है जो उसे पगु बनाती है, जिसने उसके जीवन को एक गाँठ मे बाँध दिया है और खुलने नही देती—क्या उस गाँठ को चुपचाप स्वीकार करना ही कर्त्तव्य है, क्या उसमे बँधे हुए जीवन को विद्रोह के लिए उभारना कर्त्तव्य नही है? अगर जीवन वरदान है—अगर जीवन कुछ भी अर्थवाद है, तो उसकी प्लवनशीलता को बनाये रखना कर्त्तव्य है, डूब जाने को निरीह भाग्यवाद से स्वीकार कर लेना जीवन की अवहेलना है और पाप है हार ही झूठ है, हारा हुआ ही झूठा है, जो परास्त नही है उसमे मलिनता कौन-सी है ? शशि आहत है, किन्तु जो ग्लानि उसे सुझाती है कि जीवन जूठा हो गया है, क्या वह ग्लानि ही इस बात का प्रमाण नही है कि जीवन की शक्ति परास्त नही हुई—और इसलिए जूठी भी नही हुई, अनाहत और अनवनत है ? नही, शशि को हारने नही देना होगा, इस तरह घुल जाने नही देना होगा—वह स्वय नही लडती तो उसकी ओर से लडना होगा—

शेखर ने शशि के पास जाकर कहा, "सुनो, शशि, तुमसे कुछ वात कहने आया हूँ।"

शशि ने अपना गीला चेहरा उसकी ओर फेरकर एक वार देख दिया, वोली नही। शेखर दोनो हाथो से उसका सिर पकडकर अचचल आँखे उसकी आँखो पर टिकाकर, धीरे-धीरे, शब्दो पर ज़ोर देता हुआ वोला, "तुम कही जाओगी नही, और—हारोगी नही, और—डरोगी नही।" फिर हाथो की जकड ढीली किए विना आगे झुककर एक वार फिर उसने शशि के ओठ अपने ओठो से छू लिए। शशि का सिर पीछे को ऐंठा हुआ था, सारी देह काँप रही थी, और आँखे वन्द थी, सिर उठाकर शेखर ने शशि की वन्द गीली काँपती हुई पलको को देखा और एक वार फिर आगे झुककर उसके ओठ चूम लिए। ओठ भी काँप रहे थे, और आँसुओ से खारे थे

फिर शेखर ने सिर छोड दिया और शशि के कमरे से वाहर चला आया, वत्ती जलाई और रसोई मे जाकर वर्त्तन इधर-उधर करने लगा थोडी देर मे खिचडी तय्यार हो गई, पहले से आया रखा दूध गर्म हो गया, और तव उसने शशि के कमरे के सामने आकर कहा, "शशि, उठो, खाना तय्यार है। मुँह-हाथ धो लो।"

भीतर से स्थिर, सधे हुए स्वर ने कहा, "आई"।

उस स्वर की शान्ति ने जैसे शेखर को आश्वासन दिया। शायद जीवन अभी असम्भव नही हो गया है

कहते है कि वासना नश्वर है, प्रेम अमर। दोनो मे कोई मौलिक विपर्यय है या नही, नही मालूम, किन्तु यदि ये दो है तो यह बात कितनी झूठी है! प्रेम के एक ही जीवन है, वह एक वार होता है और जव मरता है तो मर जाता है, उसे दूसरा जीवन नही मिलता। अमर तो वासना है, जो चाहे खण्डित होकर गिरे, चाहे तृप्त होकर, गिरते-न-गिरते रक्तवीज की तरह नया जीवन पाकर फिर उठ खडी होती है

शिक्षा, सभ्यता, सस्कार हमे अपने से ऊपर उठाते है, अपने व्यक्तित्व की सीमाओ से निकालकर एक वृहत्तर अस्तित्व के, उच्चतर, अपर-लौकिक वलिक सार्वलौकिक अनुभूति के क्षेत्र मे ले जाते है।

किन्तु व्यक्ति-जीवन की कितनी वडी गाँठ है सस्कार और शिक्षा! क्योकि जो भी शिक्षित है, जो सस्कारी जीवन के सूक्ष्मतर स्पन्दनो को पहचानते है (वे स्पन्दन जो निरे शिष्ट लोकाचार से गहरे कुछ है), वे जीवन के महान् क्षणो में—प्रेम के या किसी भी गहरे भाव-विलोडन के क्षण मे सहसा पाते है कि उसमे पूर्णता नही है, तन्मयता, चूडान्त तद्गति नही है, है एक अद्भुत असगत तटस्थता—स्वय अपने भावो से एक प्रकार का अलगाव, जो कर्त्ता को ही कर्म का दर्शक और आलोचक वना देता है—अर्थात् अपने को अपनेपन की सम्पूर्णता से वहिष्कृत कर देता है हम कल्पना मे चित्रित करते है एक प्रेयस (अथवा

प्रेयसी) जो कि हमारी आत्मा के सूक्ष्मतम कम्पन के साथ स्पन्दित हो सकता है (या हो सकती है), जो कि न केवल हमारे शारीरिक और सामाजिक अस्तित्व का सहभागी हो सकता है, बल्कि हमारी कोमलतम और अत्यन्त व्यक्तिगत सूक्ष्म अनुभूतियो मे भी साझा कर सकता है—कला की, कविता की, सगीत की, यहाँ तक कि सुख-दुख की भी अनुभूतियो का साझा किन्तु वास्तव मे प्रेम में हम पाते है कि हम कही भी, कभी भी, अपने अलग व्यक्तियो को एक मे या दूसरे मे या प्रत्येक को दोनो मे नही लीन कर सकते सख्य होता है, सम्बन्ध होता है, बडी अन्तरग अभिन्नता का सम्बन्ध, किन्तु सदैव वह सम्बन्ध एक माध्यम का आश्रित होता है, हमारे अस्तित्व से बाह्य कुछ के अधीन होता है—किसी चित्र के, विचार के, कविता के, गीत के, ध्वनि के, सुन्दर स्वप्न के जो कि हमारा ही है, पर हमारा होकर भी अन्तत हमारा नही है, क्योकि हम स्वय एकान्त हम नही है, उस मौलिक और आत्यन्तिक 'हम' की एक शिक्षा-मण्डित, सस्कारी सभ्य केचुल है

दिन सुन्दर थे और बबूल के फूलो की गन्ध को उडाते हुए समीर मे एक स्निग्धता आ गई थी जिसमे और अनेक प्रकार का सौरभ अँगडाइयाँ लेता और शशि के उस पहले विक्षोभ का तीखापन दब गया था, वह शान्त थी, और शेखर को लगता था कि इस सख्य के बाहर कुछ नही है—यानी मूल्यवान् कुछ नही है, और यहाँ सख्य ही सिद्धि है और सुख है किन्तु चेतना के इस स्तर को आडे काटता हुआ एक दूसरा स्तर था जो कहता था कि काम है, कि समष्टि के प्रति व्यक्ति का देय है, कि अपूर्ति है और कुण्ठा है और इसलिए विद्रोह है, कि उलझने है और गाँठे है और रस्सियाँ और बन्धन है और इसलिए क्रान्ति है, और एक तीसरा स्तर था कि सूम की तरह जो धन बटोर वह बैठे रहना चाहता, वह अपने-आप नष्ट हो रहा है, कि शशि शान्त है पर घुल रही है, और एक दिन सहसा लुप्त हो जायगी और स्तरो मे बँटे हुए इस जीवन का क्षोभ सहसा उसमें फूट पडता, सब बन्धन रडक उठते, वह चाह उठता कि किसी तरह यह उलझन कट जाय, चाहे फिर इसके साथ उसका कोई अग ही क्यो न कटकर चला जाय फिर वह सोचता, यह सब विक्षोभ उम असन्तोष के सस्कार का ही फल है जिसमे उसका अन्तर रँगा गया है, तब वह माँगने लगता कि यह विद्रोही आत्मा ही किसी तरह कुचली जाय, छिन्न भिन्न हो जाय, ताकि वह अपने-आप को बँधने और पालतू बनाया जाने दे सके—न केवल बद्ध और आनत बल्कि स्वेच्छा से और अनुगत भाव से बद्ध—ताकि वह विद्रोह का अनवरत, अग्नेय, कसमसाता अधीर उत्फोट भूल जाय आग की लौ का धर्म है ऊपर उठना, इस ज्ञान मे कोई सन्तोष नही था जब वह सब कुछ भस्म नही कर सकती थी और न मिटा ही सकती थी

अगर वह अनपढ गँवार होता, अगर वह पशु होता—कुछ भी होता जो कि वह सम्पूर्णतया हो सकता, कुछ भी जिसमे कि वह निर्द्वन्द्व आमस्तक डूब सकता

* * *
** ** **

'रगसाजी के कारखाने' मे क्रमश काम आने लगा, और थोडी-बहुत आमदनी होने लगी। जैसा जीवन शेखर विता रहा था, उसका खर्च इस आमदनी मे—आमदनी के उस आधे अश मे जो उसका था—मजे मे चल सकता था। लोगो से मिलने-जुलने से उसने दिल्ली आने का निश्चय करने के पूर्व ही सन्यास ले लिया था, क्योकि वह नही चाहता था कि शशि को फिर तिरस्कृत होकर शहर छोडना पडे, और इन दिनो राजनैतिक आन्दोलन के हो-हल्ले के कारण वह और भी अलग रहता था—दल के सभी लोगो ने मिलना-जुलना यथासम्भव कम कर दिया था और केवल गिने-चुने 'सहायको' से मिलते थे, सम्पर्क का काम, और कम गोपनीय पत्र-व्यवहार सब इन्ही की मार्फत होता था, और चन्दा आदि भी इन्ही की मार्फत उगाहा जाता था। इसलिए 'सामाजिक खर्च' के नाम पर कोई खर्च शेखर को नही करना पडता था, व्यसन कोई विशेष था नही, और मनोरजन की, सिनेमा-तमाशे की उसे कभी सूझी ही नही,—न शशि को ही।

किन्तु दूसरी ओर शशि की हालत फिर गिरने लगी थी, वह कुछ कहती नही थी, लेकिन शेखर उसके चेहरे पर पढ लेता था कि वह घोर यातना भुगत रही है। डाक्टर के आदेश यथा-सम्भव पालने और पलाने का वह यत्न करता था, और कोई विशेष व्याघात भी उसमे नही पडता था, क्योकि शशि आश्चर्यजनक रूप से अनुगत और 'आज्ञाकारिणी' होती जा रही थी, किन्तु फिर भी उसका शरीर क्रमश दुर्बल होता जा रहा था और कभी-कभी दर्द मे वह सहसा आँखे बन्द करके इतनी निश्चल हो जाती थी कि शेखर सोचने लगता, वह क्या प्रत्येक बार बेहोश हो जाती है? वह शशि को लेकर एक प्रसिद्ध डाक्टर के पास गया था, उन्होने देखकर रोग का इतिहास पूछा था, फिर पुरानी सब हिदायते दुहराकर कहा था कि गुरदे के कारण बडी एहतियात की जरूरत है, और फिर पेट का भी एक्स-रे कराने का परामर्श दिया था। तीन-चार दवाएँ भी बताई थी शशि की अनिच्छा रहने पर भी एक्सरे लिया गया था और डाक्टर के पास पहुँचा दिया गया था, शेखर के शशि को फिर ले जाने पर उन्होने देर तक एक्स-रे के प्लेट को देखकर गम्भीर स्वर से कहा था, "हूँ, मेरे सन्देह का खण्डन नही होता पर देखे—" और समझाने लगे थे कि कैसे पीठ को ठण्ड और नमी से बचाना बहुत जरूरी है, और पूरा विश्राम, और मानसिक शान्ति, और फल और नरम शाक, और किसी तरह की भी उत्तेजना का निवारण

इन सबमे खासा खर्च होता था शशि पर उसकी चिन्ता का कुछ असर न हो, इस अभिप्राय से वह बहुत तडके उठने लगा, उठकर वह आवश्यक व्यवस्थाएँ करके घूमने चला जाता और घूमते-घूमते अपनी चिन्ताओ को थका डालने का उद्योग करता, ताकि जब लौटे तो स्वच्छ मन लेकर लौटे नदी के किनारे-किनारे बेलारोड को आर-पार घूमकर कभी वह खेतो मे भी मुड जाता, एक दिन खेतो पार करते हुए उसने उस बडे से पौदे मे से दो-चार टमाटर तोड लिए और घर ले आया, अगले दिन से वह बिना विशेष कुछ सोचे ही चादर ओढकर घूमने जाने लगा तरकारी के खेतो के किनारे-किनारे वह घूमता, और प्रतिदिन

नये स्थल से कभी टमाटर तोड लेता, कभी गोभी का अच्छा-सा फूल काटकर या शलगम के चार छ पौदे उखाडकर अपनी चादर के नीचे कर लेता और घूमता हुआ आगे बढ जाता, फिर घर पहुँचकर वह शशि के लिए शाक बनाता और सामने खिलाकर,स्वय खाकर काम पर चला जाता यह चोरी है, इस ओर उसका तब ध्यान ही नही गया, तरकारी शशि के लिए आती है और इस प्रकार जो पैसे बचते है उनसे दवाएँ लाने मे सुविधा होती है, इतना ही सोचकर वह गया था। केवल एक दिन जब वह गोभी का फूल तोडकर उसने चादर मे छिपाया तब आहट-सी पाकर वह चौका और कुछ घबराया-सा, तब उस घबराहट को लक्ष्य करके उसने सोचा कि वह जानता है कि वह पाप कर रहा है, किन्तु आखिर कितनी हानि वह पहुँचाता है किसी को ? इतना तो चिडियाँ चुग जाती है या ढोर चर जाते है ——इतने बडे खेत मे दो-एक गोभी के फूलो से क्या होता है, और टमाटर तो हाट तक जाते-जाते कितने ही पिचक जाते है——इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से उसने अपने को शान्त कर लिया

किन्तु शशि की अवस्था मे फिर भी कोई विशेष सुधार नही दीखा, डाक्टर ने केवल फलो के रस की व्यवस्था दी, और शशि की पारदर्शी त्वचा और भी स्वच्छ और कान्तिमान हो आई, आँखे और बडी दीखने लगी, प्रतिदिन शेखर के काम से लौटने पर शशि की स्वागत की आतुरता बढने लगी घर लौटकर अपनी इतनी उत्कण्ठित प्रतीक्षा और इतना आश्वस्त अभिनन्दन देखकर उसका हृदय सहसा द्रवित हो आता——शशि के वहाँ होने मात्र से दुनिया कितनी भिन्न है कारखाने मे पेटरी के काम के साथ-साथ और भी काम उस पर आ पडा था——राजनैतिक तनाव के इन दिनो मे उसके दल ने भी अपना कार्यक्षेत्र प्रसारित करने का निश्चय किया था और उसे प्रतिदिन किसी-न-किसी विषय पर अपील या पैम्फ-लेट लिखकर देना पडता था, यह भी उसे मालूम हुआ था कि उसके सहकारी जेल पर आक्रमण करके अपने कुछ विशिष्ट सदस्यो को छुडाने की योजना बना रहे है और इसमे उसके लिए भी कार्य निश्चित कर दिया गया है, शीघ्र ही उसे एक पिस्तौल भी दी जायगी, इन सब सूचनाओ से उसका मन उद्वेलित रहता और अनेक प्रकार के प्रश्न, दुविधाएँ और दुश्चिन्ताएँ उसके मन मे भरी रहती, पर लौटकर शशि का मुँह देखते ही जैसे यह सब अन-निवार्य, अमौलिक, अनात्यन्तिक सूखे पत्ते-सा झर जाता और रह जाता शिशिर-वासती आकाश——शशि की आँखो का आकाश

कभी वह बोल भी न सकता, उठकर बैठी हुई शशि को लिटा देता और सिरहाने बैठ-कर चुपचाप उसका माथा थपकाता रहता, उठकर काम करने की, आग जलाने और भोजन तय्यार करने की बाध्यता उसे अखर जाती, वह सोचने लगता कि खाना ही क्यो आवश्यक है, शशि के लिए फलो का रस और गर्म दूध ज़रा-सी देर मे तय्यार हो जायगा, वह योही रह लेगा या बासी खा लेगा—आगे से वह एक ही वक्त अधिक बना लिया करेगा कभी शशि कहती, "शेखर, तुम खुश नही दीखते, क्या बात है ?" तब जैसे वह भीतर-भीतर उमड आता शशि का माथा थपकते-थपकते जैसे उसके ताल पर प्राण एक विषण्ण सगीत

से गूँज जाते, शेखर का मन उलझे हुए विचारो से भर जाता और कभी ये विचार मुखर भी हो उठते, शेखर धीरे-धीरे अपना मन शशि को वताने लगता और वह चुपचाप सुनती रहती .



एक दिन अचानक शेखर को वताया गया कि उसके 'सहकारियो' मे से एक जो युक्तप्रात के किसी नगर से भागा हुआ एक इनामी षडयत्रकारी है, शहर मे पुलिस द्वारा पहचाना गया है, अत सम्भव है कि पुलिस उस 'कारखाने' का भी पता पा जाय, और उसे चौकन्ना रहना चाहिए। उस दिन तीनो सहकारियो का सहकार समाप्त होगा—दो उसी दिन कही चले गए—बाद मे शेखर को मालूम हुआ कि कानपुर चले गए थे—और तीसरे का, जो शहर मे पहचाना गया था, तत्काल बाहर जाना सम्भव और उचित न समझा जाने के कारण निश्चय हुआ कि वह दो-तीन दिन शेखर के यहाँ रहेगा और मौका लगते ही अन्यत्र चला जायगा। फलत दोपहर को ही शेखर घर लौट आया—तय यह हुआ था कि अपराह्न में किसी समय मेहमान उसके यहाँ पहुँच जायगा, उसके साथ ही शहर पार करके नही आयेगा।

जल्दी लौट आने से शशि प्रसन्न होगी—मेहमान के आने से दो-तीन दिन तक उनके सख्य मे वाधा पडेगी, इन दो विरोधी विचारो को लेकर शेखर जव घर पहुँचा तो शशि ने अचकचाकर अपने आगे फैले हुए पन्ने समेटते हुए पूछा, "आज अभी कैसे—"

"क्या लिख रही हो—छिप-छिपकर कोई पोथा लिख रही हो क्या ? मुझे तो मालूम ही नही—"

"कुछ नही, चिट्ठी लिख रही थी—"

"इतनी लम्बी चिट्ठी ? किस पर इतनी कृपा—"

शेखर उसे चिढाना चाहता था, पर उसके मुँह पर सकोच के भाव को लक्षित करके चुप रह गया। यह भी उसने देखा कि शशि का चेहरा असाधारण पीला है, और थकान के चिह्न उस पर स्पष्ट है एक द्रुत छाया-सी उसके मन में दौड गई कि शायद रामेश्वर को पत्र लिख रही हो—क्योकि मौसी को होता तो छिपाती क्यो, पर क्या मालूम इसलिए छिपाती हो कि शेखर की वात लिखी हो—जो हो. वोला, "योही जल्दी आना हो गया, एक मेहमान आनेवाले है।"

"मेहमान—हमारे यहाँ ? कौन ?"

"है एक। और शशि, वड़े सकोची जीव है—मेरे साथ नही आये, वोले कि पहले जाकर शशिजी को वता दो नही तो मुझे डर लगता है और सामने परिचय कराओगे तो शर्म आयेगी!"

"धत्! आखिर है कौन ? इतने सकोची है तो सीढियो के ऊपर के आले मे टिका देना—मेरे सामने ही नही आना पडेगा!"

शेखर हँसने लगा। फिर उसने पूरी घटना शशि को वता दी।

शशि ने कुछ चिंतित स्वर से पूछा, "वे सदिग्ध व्यक्ति है—तो पुलिस यहाँ भी आ सकती है ?"

"हाँ, अन्देशा तो नही है, पर सम्भावना तो है ही—क्यो, घबराती हो ?"

शशि ने अनमने भाव से कहा, "नही, घबराना क्या—" पर तब स्वय शेखर के मन मे यह सम्भावना दौड गई कि यदि सचमुच पुलिस आकर मेहमान के साथ उसे भी ले जाय, तो अकेली शशि इस विचार ने आतिथ्य के मामले को एक नया रूप दे दिया, शेखर चुपका-सा हो गया, फिर थोडी देर बाद बोला, "शशि, छोडो सोच को—जल्दी से कुछ व्यवस्था कर डालूँ—"

"क्या व्यवस्था करोगे ?"

"पहले तुम लेट जाओ, देखती रहो कि मै सब कामो मे कितना दक्ष हो गया हूँ।"

बहस के बाद तय हुआ कि शेखर के कमरे मे मेहमान और शेखर दोनो फर्श पर सोएँगे—यदि मेहमान शेखर की चारपाई लेकर उसे अकेले नीचे सोने देना न पसन्द करेगे। शशि का आग्रह था कि वह नीचे सोएगी और उसकी चारपाई ले ली जाय, पर उसने अधिक हठ नही किया। बिस्तर मेहमान अपना लावेगे—न लावेगे तो उस समय कही से माँग लिया जायगा। भोजन का निश्चय उनके आने के बाद होगा—सम्भव है, वे खाने अन्यत्र चले जाया करे। यहाँ तक फैसला होने के बाद शशि ने हँसकर पूछा, "तो व्यवस्था क्या करनी है ?"

व्यवस्था की बात केवल एक निकली कि अपने कमरे से कापियाँ और पुस्तके शेखर लाकर शशि के कमरे मे डाल देगा, और इधर से एक छोटी चौकी उठाकर उधर रख लेगा जो मेज, तिपाई और डेस्क का काम देगी

मेहमान आकर टिक गये। नाम मात्र बिस्तर वे साथ लाये थे, और कुछ सामान नही था, मालूम हुआ कि साँझ का भोजन वे घर पर किया करेगे, किन्तु दिन-भर उनका कोई भरोसा न किया जाय, वे दिल्ली से निकलने के प्रबन्ध मे घूमते फिरेगे और जहाँ मौका लगेगा खा-पी लेगे .

भोजन करके वे बहुत जल्दी सो गए, अगले दिन सवेरे शेखर की नीद खुली तो उसने देखा कि वे बाहर जाने के लिए तय्यार है। शाम को लौटने को कहकर वे चले गए। जाने लगे तो शशि ने अचानक कहा, "देखिए, आप दिन-भर इसलिए बाहर रहने की सोचते हो कि मै यहाँ अकेली हूँ, तो आपको जता दूँ कि मुझे कोई दिक्कत नही होगी, आप दिन-भर यहाँ रह सकते है, मै कोई आतिथ्य नही कर सकूँगी, इसका ज़रूर मुझे खेद है, शेखर की अनुमति नही है—"

शेखर ने भी कहा, "हाँ, कही सचमुच इसीलिए तो नही—"

मेहमान कुछ झेपकर बोले, "थोडा-सा सकोच तो था, पर—" शशि की ओर देखकर,

"आपका कृतज्ञ हूँ। अगर यहाँ आना ही ठीक जान पडा तो अब सकोच के कारण नही रुकूँगा।"

कारखाने मे शेखर अकेला था, काम हाथ मे होने से वह बराबर उसमे जुटा रहा, किन्तु मन उसका वहाँ नही था, शशि का चिन्तित पीला चेहरा बार-बार उसके सामने आ जाता, और बार-बार यह विचार उठता कि शशि की और उसकी यह समस्या केवल आन्तरिक नही है, बाह्य भी है, आध्यात्मिक प्यार की ही नही, लौकिक जीवन की भी है, इतना ही नही, वह केवल उन दोनो की नही, बल्कि उस सारे जीवनपुञ्ज की समस्या है जिससे उनकी परिचिति है और इससे आगे बढकर कि यही प्यार नही, सभी प्यार—प्यार-मात्र—मूलत एक समस्या है और दो इकाइयो तक सीमित नही है कितने सूत्र—पक्के और दुर्बल, मोटे और सूक्ष्म, सीधे और आडे, उस समस्या मे उलझे हुए है और उसे विकट बनाते है मूल समस्या सामजस्य की है, प्यार एक आकर्षण है, एक शक्ति, जिससे जीवन की स्थितिशीलता विचलित हो जाती है, यह विचलन ही समस्या है, क्योकि यह व्यापक है, मौलिक है, जीवन के 'तरवार की धार पर'—असख्य धारो पर!—सधे हुए समतोल को डगमगा जाती है तब तक समस्या है जब तक कि उतना ही व्यापक सामजस्य फिर न खोज निकाला जाय. समस्या है और साधना है, तपस्या है और समस्या के इस निरूपण तक पहुँचकर उसका मन फिर लौट जाता शशि के पीले चेहरे की ओर, और इतनी बडी उलझन मे गुँथी हुई तात्कालिक छोटी-छोटी उलझनो की ओर

पाँच बजने से कुछ पहले ही उसने जल्दी-जल्दी दुकान बन्द की और घर चला। दिन कुछ लम्बे हो गए थे, अब वह घर ऐसे समय पर पहुँचता था कि बरामदे मे शशि के लिए शीतलपाटी और तकिया रखकर उसे वहाँ बिठाकर पास खडा होकर यमुना के पानी के लोहित हो उठने की प्रतीक्षा कर सके

घर से कुछ दूर पर से ही उसने देखा, शशि द्वार पर खडी बाट देख रही है। उसे देख और पहचानकर वह तुरत भीतर चली गई और चारपाई पर बैठ गई। शेखर ने आकर पूछा, "क्यो, शशि?"

"कुछ नही—"

"कुछ तकलीफ है?"

"नही तो, अच्छी भली तो बैठी हूँ—"

"अभी तो बाहर खडी थी—मैने देख लिया था—"

"ओह, योही, सोच रही थी कि तुम कब लौटोगे, कही बहुत देर हो जाय—"

"क्यो?" कहकर शेखर समझ गया कि मेहमान की उपस्थिति के कारण चिंतित है। थोडी देर चुप रहकर बोला, "कल से और जल्दी आ जाया करूँगा—"

"नही, काम तो करना ही है। हाँ, लौटकर कुछ लिख-पढ सको—"

शेखर ने जैसे रहस्योद्‌घाटन करते हुए कहा, "कुछ तो कारखाने मे भी लिखता रहा हूँ —काम तो और था नही—"

शशि ने किंचित् खिलकर कहा, "अच्छा—मुझे नही बताया !" फिर कुछ रुककर, "यहाँ क्यो नही ले आते—जल्दी पूरा कर लेते—"

"नही शशि, अब यहाँ नही लिखता। तुम्हारे पास और कुछ नही करना चाहता—लिखना भी नही। ध्यान बट जाता है—"

शशि ने धीरे से कहा "पागल !" और चुप हो गई।

थोडी देर बाद मेहमान आ गए। भीतर आकर उन्होने किवाड सतर्कता से बन्द कर लिए और शेखर की ओर देखकर कहा, "तुम आ गए यह अच्छा हुआ।"

कमरे मे जाकर उन्होने कोट के नीचे से दो-एक बडल निकालकर बिस्तरे पर रखे और फिर स्वय बैठ गए। शेखर से कहा, "मेरी राय मे किवाड उढका ही दीजिए—" और शेखर के वैसा कर देने पर धीरे-धीरे बडल खोलने लगे। साथ-साथ बोले, "मैने जाने का प्रबन्ध लगभग ठीक कर लिया है। परसो तडके ही चला जाऊँगा—अगर कोई विशेष बाधा न हुई तो। पर कल कुछ आवश्यक काम करना है—और उसमे आपको मदद करनी होगी। इनको परखना है—"

शेखर ने देखा, एक बडल मे से तीन पिस्तौल, दूसरे मे से विभिन्न साइज के दो रिवाल्वर और तीसरे मे से अनेक छोटी-बडी गोलियाँ निकल आई है। कुछ अचकचाकर उसने कहा, "मुझे क्या करना होगा—"

एक रिवाल्वर को हाथ से दुलराते हुए अतिथि बोले, "यह मेरा विश्वासी साथी है—इसे तो जानता हूँ। बाकी नये है। उन्हे टेस्ट करना है। यमुना के पार कही जगह देखकर कर लेगे। उधर मौका ठीक है। फिर भी 'लुक-आउट' रखना ज़रूरी है, इसलिए—"

शेखर समझ गया। "कब चलना होगा ?"

"तुम दोपहर को आ सकोगे ?"

"अच्छा।"

भोजन करने के बाद मेहमान शेखर से क्षमा माँगकर फिर जल्दी सो गए। शेखर अनमना जागता हुआ लेटा रहा, फिर सोना असम्भव पाकर देखने उठा कि शशि न सोई हो तो उसके पास जा बैठे। पर शशि के कमरे मे प्रकाश था—वह भीतर चला गया। शशि चुपचाप लेटी छत की ओर देख रही थी, उसकी चारपाई के पास नीचे दवात और कलम पडी थी और सिरहाने दो-चार कागज़—

"क्या कुछ लिखने जा रही हो ? मुझे लिखा दो—"

"नही, ये तो योही रखे है कि कुछ काम याद आ जाय तो—आजकल बहुत भुलक्कड हो गई हूँ—"

शेखर ने तीखी दृष्टि से उसकी ओर देखा, फिर पूछा, "नीद आ रही है ?—मै थोडी देर बैठ जाऊँ—"

शशि ने चारपाई की बाही पर से कम्बल समेटकर जगह कर दी।

"मै इधर सिरहाने बैठूंगा", कहकर शेखर तकिये के कोने के पास बैठने लगा।

"नही, उधर मुझे दीखता नही, सामने बैठो।"

शेखर बाही पर आकर बैठ गया।

आया था वह साहचर्य के लिए, और वह निस्सदेह उसे मिला, किन्तु कितना गूंगा साहचर्य ! वह स्वय भी कुछ नही बोल सका, शशि भी नही बोली, बल्कि अब उसने धीरे से आँखें भी बन्द कर ली।

"सोती हो ?"

"नही, रोशनी चुभती है—" और फिर मौन

बात चलाने के लिए शेखर ने कहा, "मौसी का कोई समाचार नही आया—न जाने कैसी है और क्या सोचती है "

"हमने भी तो नही लिखा—उन्हे ठीक पता मालूम है ?"

"उन्हे तो डाकघर का ही पता दिया था, यहाँ डाकघरवालो को सूचना दी थी, पर चिट्ठी तो कोई आई नही।"

"ठीक ही होगी। लिखेगी भी क्या—मैंने उन्हे तोड दिया है "

शेखर ने धीरे से एक हाथ उसकी बाँह पर रख दिया।

"सोचती हूँ, गौरा को लिखूं कि मुझे पता देती रहे। वह कर सकती है—अब तो बडी है और समझदार तो है ही।" फिर जैसे किसी अव्यक्त विचार का अनुसरण करते हुए, "तुम्हारी तो भक्त है।"

"मेरी—क्यो ?"

"जबसे जेल गये हो तबसे। वह बोलती-बालती कुछ नही, पर सोचती बहुत है।"

फिर सन्नाटा छा गया। एकाएक शशि ने पूछा, "किवाड बन्द करके क्या कर रहे थे ?"

"कुछ नही—वे परसो जा रहे है।"

"इसलिए किवाड बन्द किए थे ? कमरे से अन्तर्धान होगे ? और फिर अभी तो दो दिन है—"

कुछ रुककर शेखर ने बता दिया। "शशि, तुम्हारे ही बचाव की बात सोची होगी उन्होंने—पिस्तौल वगैरह छिपा रहे थे।"

"पिस्तौल किसलिए लाए है ?"

"पास रखते है—जरूरत पड सकती है।"

थोडी देर बाद, "परसो कब जायँगे ?"

"तडके।"

"कैसे ?"

"पता नही—यहाँ से चले जायँगे। पूछना उचित भी नही है—बे-मतलब बात जितनी कम जानी जाय उतना ही अच्छा है—"

"हूँ।"

फिर बातचीत बद हो गई।

"शेखर, तुम पर सकट हो तो तुम भी पिस्तौल लिए फिरो ?"

"   "

"अपने को खतरा हो सकता है, इसलिए दूसरे को मारने को हरवक्त तय्यार रहना मुझे तो ठीक नही लगता—"

"युद्ध का तो यही नियम है—"

"युद्ध ही क्या ठीक है ? पर अन्तर भी है—युद्ध असाधारण बात होती है और आदमी जानता है कि समाप्त होते ही वह साधारण शान्तिपूर्ण जीवन मे लौट आएगा। पर यह तो रोजमर्रा के नागरिक जीवन की बात है—हर किसी को हरवक्त मारने को तय्यार रहना—"

"क्यो—यहाँ भी तो केवल शत्रु को ही खतरा है—हमें-तुम्हे थोडे ही उठकर मार देगे ? और असाधारण परिस्थिति तो—"

"यह तो ठीक है, मै नही कहती कि चाहे जिसके मार देगे, पर इसका मनोवृत्ति पर तो बुरा असर पडता होगा—यह आदमी के लिए अच्छा नही है।"

"वे शायद यह कहेगे कि अपने उद्योग का दाम हम अपने जीवन से चुकाते है। महँगा सौदा है तो दाम तो हमारे ही लगते है, हम भुगत लेगे।"

"छोडो, खैर—कल कब जाओगे ?"

"कहाँ—कारखाने ? उसी वक्त—"

फिर मौन हो गया और बहुत देर तक रहा। शेखर बहुत धीरे-धीरे उठने लगा तो शशि ने एकाएक आँखे खोली, उसके कुछ कहने से पहले ही शेखर बोला, "नही, अभी जाता नही—" उठकर उसने बत्ती बन्द कर दी और अब आकर सिरहाने बैठ गया। एक हाथ शशि के माथे पर रख दिया। शशि ने आँखें बन्द कर ली।

दूर कही से खेतो के किसी रखवाले की पुकार का धीमा-सा स्वर आया, उसके कुछ देर बाद गीदडो का 'हुआ-हुआ' और उत्तर मे कुत्तो का भौंकना, फिर दो-तीन बार किसीजल-चारी पक्षी का तीखा चीत्कार, फिर सन्नाटा, जिसमे रात की आन्तरिक नीरवता का स्वर गूंज रहा था

शशि शायद सो गई थी—सीधी वह अब कभी नही लेटती थी, इस या उस करवट ही रहती थी और टाँगे सदा सिकुडी रहती थी। अब भी वह ऐसे ही सोई थी, शेखर का हाथ उसके माथे पर नही, कनपटी पर था, और उसकी हथेली कनपटी पर शशि के नाडी-स्पन्दन का हल्का-सा अनुभव कर सकती थी ..

एकाएक शशि ने चौंककर कहा, "शेखर !" और उसका हाथ पकड लिया—शेखर ने कोमल स्वर से कहा, "क्यो, जाग गई—" शशि ने उत्तर नही दिया, उसका हाथ पकडकर, आगे मुँह पर खीच लिया और उसकी उँगलियो को धीरे-धीरे अपने निश्चल ओठो पर फिराती रही थोडी देर वाद हाथ छोडकर उसने कहा, "शेखर, अव जाकर सो जाओ, देर हो गई है। मैं योही जाग गई, अभी फिर सो जाऊँगी।"

वह फिर पूर्ववत् निश्चल हो गई, तव शेखर धीरे-धीरे उठा, एक वार मुँह शशि के सिर के वहुत पास लाकर उसने जैसे शशि के केश सूँघे और फिर दवे-पाँव अपने कमरे मे चला गया।

सवेरे-सवेरे ही एक युवक ने आकर पूछा, "दादा कहाँ है—"

"कौन दादा ?" शेखर ने रुखाई के साथ कहा। इतने मे अतिथि आ गए और वोले, "ओह—अच्छा। शेखर, ये मेरे लिए आए है।"

'दादा' ने अपना रिवाल्वर और गोलियाँ रखकर वाकी शस्त्र और गोलियाँ युवक को दी और कुछ आदेश देकर विदा कर दिया। फिर स्वय भी चले, जाते वक्त शेखर से फिर कह गए, "दोपहर को तय्यार रहिएगा—"

शेखर ने पहले सोचा था शशि से कुछ नही कहेगा, किन्तु दोपहर को जल्दी लौटने और फिर जाने पर वह पूछेगी, और तव वताने से अभी कहना अच्छा है, यह सोचकर उसने शशि को वता दिया कि दोपहर को वह लौट आएगा, क्योकि 'दादा' के साथ कही जाना है।

"कहाँ ? क्या करने ?"

"यमुना के पार कही। क्यो, यह तो मालूम नही।"

"यानी न पूछूँ ?"

"नही, शशि, सचमुच मेरा क्या काम है मुझे नही मालूम।"

दोपहर को शेखर आवश्यकता मे भी पहले लौट आया, और दादा की प्रतीक्षा करने लगा।

दादा नही आए। लगभग तीन वजे सवेरेवाला युवक आया और वोला, "दादा आपको वही वुला रहे है, वे स्वय अभी नही आएँगे।"

शेखर चुपचाप तय्यार होकर साथ हो लिया। चलते समय शशि ने पूछा, "कव तक लौटोगे ?"

शेखर ने अनुमान से कहा, "दिन छिपे तक लौट आऊँगा—घवराना मत।" और चला गया।

पुल पार करके दोनो नदी के किनारे हो लिए। एक गाँव पार करके मील-भर जाने के वाद सरकडे के एक झुरमुट की ओट में 'दादा' मिले। देखते ही उन्होने युवक से पूछा, 'आल क्लियर ?"

"मेरे ख्याल से तो ठीक ही है। पुल पर एक दीखा था, पर यहाँ तो ठीक है।"

झुरमुट से आगे रेती का ढाल था जिससे एक सूखी खाई-सी बन गई थी, उससे आगे फिर ऊँची जगह थी। खाई मे आदमी किसी ओर से नही दीखता था, और चाँदमारी के लिए दोनो ओर की रेत की दीवार मानो खास बनाई गई थी। एक ओर को यमुना की दुबली धारा थी—कुछ विस्मय से शेखर ने जाना कि वहाँ से लगभग सामने परली पार उसका घर था

शेखर को एक ओर पहरा देने को नियुक्त किया गया, युवक को दूसरी ओर। दादा खाई मे चले गये। थोडी देर बाद एक फायर सुनाई दिया, फिर थोडी-थोडी देर बाद इक्के-दुक्के कई एक फायर, कुछ तीखे और चिडचिडे, कुछ गम्भीर

थोडी देर बाद दादा लौट आए, बोले, "सब ठीक ही है। बल्कि कारतूसो मे कुछ पुराने है—धोखा दे सकते है।"

तीनो वापस लौटने लगे। किन्तु जब सडक के पास पहुँचे तो दादा अचानक ठिठक गए, शेखर ने देखा, पुल की ओर से एक खाकी रग की लारी आ रही है जिसमे कई एक पुलिस के सिपाही है। लारी रुकी नही, धीमी चाल से शहादरे की ओर बढती रही, किन्तु दादा ने कहा, "मामला कुछ गडबड दीखता है", और थोडा चक्कर-सा काटकर वापस वीरान की ओर लौट चले। शेखर और तीसरा युवक भी पीछे-पीछे मुड गए।

वीरान के एक ओर रास्ता था, दादा ने उसी को पकडा।

"यह कहाँ जाता है ?"

"कही बस्ती की ओर ही जाता होगा—शाम तक यहाँ थोडे ही बैठा जा सकता है ?"

शेखर ने पूछना चाहा कि शाम तक बैठना क्यो जरूरी है, और उसके बाद क्या होगा, पर सब बात दादा पर छोडकर चुप रहा। लगभग तीन मील जाकर एक गाँव आया, तब सूर्यास्त मे अधिक देर नही थी, इसलिए दादा ने गाँव मे जाना व्यर्थ समझा और एक बगल हो लिए।

"शेखर, तैरना जानते हो ?"

"हाँ, थोडा-बहुत, क्यो ?"

"यही कही से यमुना पार की जायगी—पुल से खतरा है।"

"अच्छा, आजकल पानी तो ज्यादा नही होगा—शायद तैरने की जरूरत न पडे—"

"तब तो अच्छा है, पर अगर पड जाय तो—और इन चीजो को भी तो पानी से बचाना है न—पर वह मैं कर लूँगा, मुझे हाथ उठाकर तैरने का अभ्यास है। नदी कितनी दूर होगी ?"

"मील-भर तो होगी—रास्ते से दो मील—"

"रास्ते से क्यो, यहाँ से सीधे निकल चलेगे—"

"बीच मे नाला-सा दीखता है—कीचड होगा—"

प्रश्नात्मक "हूँ—" कहकर दादा मुडे और एक खेत की बगल से चलने लगे।

सामने से खेत की मेड़ पर अपने को तौलती हुई एक किसान लड़की चली आ रही थी, सिर पर उसके एक गट्ठर था जिसको सँभालने के लिए एक बाँह उठी थी, पर गट्ठर को छूती नहीं थी, उसकी चाल के साथ-साथ झूलती जाती थी। लड़की धीरे-धीरे कुछ गुन-गुना भी रही थी।

दादा ने क्षणभर रुककर पूछा, "यमुनाजी कितनी दूर होंगी?"

लड़की ठिठक गई। "ऐं—जमनाजी? लौट के फिरके सीधे चले जाओ, एक कोई डेढ़ कोस होगी। इधर कहाँ जा रहे हो—"

"इधर से रास्ता नहीं है?"

"ना"।

शेखर ने पूछा, "इधर से काटकर नहीं जा सकते—अगर रास्ता बन जाय—"

लड़की ने एक बार शेखर की ओर देखा, फिर एक बार धीरे-धीरे दादा को सिर से पैर तक, फिर शेखर की ओर उन्मुख होकर बोली, "कीचड़ है, और बड़े ऊँचे करारे हैं। तुम तो चले जाओगे, पर इन फफसनाथ से कैसे चला जायगा?"

शेखर स्तब्ध रह गया। दादा शरीर से काफी भारी थे, पर अपनी काया की इतनी स्पष्ट आलोचना उन्होंने कभी सुनी या नहीं, न मालूम। कटाक्ष को मुस्कराकर स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा, "बिटिया, बखत सब करा लेता है, देखें—" और बढ़े।

लड़की ने आगे जाते हुए कहा, "फँस जाओगे!" और मानो उनकी उस परिस्थिति की कल्पना करते हुए हँस पड़ी।

तीनों नाले की ओर उतरे, जब रेती नरम हो चली तब जूते उतारकर उन्होंने हाथ में पकड़ लिये और चुपचाप बढ़ने लगे। कीचड़ सचमुच दलदल से कम नहीं थी। सूर्य अस्त हो गया था, सामने नाले का ऊँचा करारा धीमा-सा दीख रहा था और साँझ की हवा से झाऊ सरसरा उठे थे।

जब कगारा बिल्कुल सामने आ गया तब दादा ने सोचते हुए-से कहा, "साठ-साठ मील का पैंडा मैंने किया है, छोकरी कहती थी फफसनाथ!" फिर थोड़ा हँसकर, "हो ही गया हूँ कुछ मोटा—" और मानो लड़की द्वारा लगाए गए लाञ्छन का प्रतिवाद करने के लिए सबसे पहले ऊपर चढ़ने लगे।

ऊपर से यमुना दीखने लगी; पार बत्तियाँ जल रही थीं। शेखर का मन एकाएक शशि के लिए अत्यन्त चिन्तित हो उठा. नदी पार करके भी कम-से-कम दो मील लौटना होगा..

*

तब दादा ने कहा, "शेखर, मैं ज़रा एक जगह होता हुआ आऊँगा", और उसे अनुमति दे दी कि वह सीधा घर लौट जाय, तब शेखर प्रसन्न ही नहीं कृतज्ञ-सा हो आया—क्योंकि अब वह तेज़ी से चलकर लौट सकेगा और किसी के आने से पहले शशि से क्षमा भी माँग सकेगा.

सिर झुकाए हुए बडी तेज़ गति से वह चलने लगा—बीच-बीच मे एकान्त सडक देखकर थोडा दौड लेता और फिर चलने लगता एकाएक अपने घर के चौखटे पर पैर रखते हुए ही उसने सिर ऊपर उठाया क्योकि अन्धेरे मे कोई निश्चल खडा था—शशि आँचल हाथ से उठाये हुए उसने नाक और मुँह ढँक रखा था, केवल आँखे खुली थी

शेखर का हृदय धक् से हो गया। बिना एक शब्द बोले उसने एक बाँह से शशि को घेर लिया और लगभग धकेलता-खीचता हुआ भीतर ले गया—शशि का शरीर शीत से काँप रहा था जब वह उसे खाट पर बिठाने लगा, तब उसे लगा कि शशि की आँखो से दो बूँदे गिरी है—घर मे बत्ती नही जली थी—उसने लज्जित, चिंतित और स्नेह-भरे स्वर मे कहा, "शशि—"

इतना पर्याप्त था। शशि ने टूटती हुई आवाज मे कहा, "आ गए तुम—" और फूट पडी

शेखर लज्जा से गड गया, कुछ बोल नही सका फिर सहसा कर्त्तव्य याद करके शशि को कम्बल उढा दिए, और लपककर अँगीठी जलाने चला। कोयलो को जल्दी भडकाने के लिए ज़ोरो से फूँकता हुआ वह शशि के सिसकने का धीमा स्वर सुनता रहा, वह स्वर उसके भीतर बहुत गहरे मे कही भोडी छुरी की तरह चुभता रहा जब आग कुछ सुलग गई तब वह अँगीठी लेकर शशि के कमरे मे पहुँचा, अँगीठी रखकर शशि को धीरे-धीरे लिटाने का प्रयत्न करते हुए बोला, "बच्चे, सर्दी क्यो लगा ली—इतनी फिक्र काहे की थी—"

शशि शरीर कडा करके बैठी रही, कन्धे से उसका हाथ परे धकेलती हुई बोली, "हटो—"

शेखर अप्रतिभ कुछ देर तक खडा रहा। फिर उसने दुबारा कहा, "शशि, बच्चे, लेट-कर कम्बल ओढ लो—मेरे अपराध की सजा अपने को क्यो देती हो—"

शशि कुछ बोली नही, हिली नही। शेखर हताश-सा खडा रहा।

थोडी देर बाद शशि एक लम्बी साँस लेकर अपने आप लेट गई—हाथ-पाँव सिकोडकर, स्थिर आँखो से अँगीठी के कोयलो की ओर देखती हुई—

"शशि, मैंने जान-बूझकर देर नही की, बहुत दूर से नदी पार करके यहाँ आना पडा इसलिए देर लग गई—"

वही आँखें गडाए हुए, "क्यो क्या हुआ था—"

"कुछ नही, हम लोग लौटने लगे तो एक पुलिस की लारी देखकर दादा ने कहा, पुल पर से नही जायँगे। तब पाँच-छ मील भटककर नदी पार करके आए।"

"गए क्या करने थे ?"

शेखर चुप रहा। थोडी देर बाद शशि बोली, "चलो, लौट तो आए—"

"क्यो, शशि, तुम इतना घबरा क्यो गई—"

आग की ओर देखते-देखते शशि ने फीकी हँसी हँस दी। "हुँ—घबरा क्यो गई।

तुम्हे क्या मालूम घबराना क्या होता है मैं तो समझी थी कि अब--तुम नही आओगे--"

"क्यो, शशि, ऐसी क्या बात थी भला--"

शशि ने जैसे अपनी भीतर की ओर देखते हुए, सोचते-से स्वर मे कहा, "तुम पार गए थे, यह मुझे मालूम था। पीछे मै बाहर खडी थी तो मुझे लगा, पार कही से गोलियाँ चलने की आवाज आ रही है। तुम्हारे बारे मे विशेष कभी नही डरती—मुझे लगता है कि तुम्हारा अनिष्ट कुछ होगा तो अपने-आप जान जाऊँगी, पर आज न जाने क्यो मैंने समझा कि अब तुम्हे नही देखूंगी——कि तुम गए अब शायद इसलिए कि अब—मै ही जा रही हूँ।"

"क्या, शशि—"

"हाँ, शेखर, घबराहट बुरी चीज है; पर कभी-कभी उससे दिव्य-दृष्टि मिलती है। तुम्हारी बाट देखते-देखते—तुम्हारी क्या, तुम्हारे कुछ समाचार की प्रतीक्षा करते—मैंने बहुत कुछ देखा है, जो पहले नही देखा था—इतना स्पष्ट नही।"

"क्या, शशि ?"

"बहुत कुछ किसी विदेशी उपन्यास मे पढा था कि प्यार एक कला है, और कला सयम का दूसरा नाम है। और इसकी व्याख्या की गई थी किसी भी एक व्यक्ति को इतना प्यार नही करना चाहिए कि जीवन मे किसी दूसरे उद्देश्य की गुजाइश न रह जाय—कि जीवन एक स्वतन्त्र इकाई है और यदि वह बिल्कुल पराधीन हो जाय तो यह कला नही है क्योकि कला के आदर्श से उतरकर है। तब नही समझी थी कि यह सब क्या है"

शेखर भी चुपचाप आग की ओर देखने लगा।

"स्वीकार तो अब भी नही किया—पर समझ आज गई. मै—कला मे आगे चली गई हूँ और—मैंने देखा, यह ठीक है—मेरे लिए ठीक है। जीवन मे दूसरे उद्देश्य की गुंजाइश मुझे नही चाहिए—क्योकि—अब जीवन भी और नही है।"

शेखर ने आहत होकर कहा, "शशि, तुम्हें बहुत क्लेश पहुँचा है, इसीलिए ऐसी बातें कर रही हो—"

"नही, शेखर, नही। तुम्हारे बारे मे जो कुछ मैंने आज देखा, उसमे चाहे भूल की हो, पर इस बारे मे—नही। मेरा काम पूरा हो गया"

शशि के स्वर मे इतनी निश्चयात्मकता थी कि प्रतिवाद में शेखर कुछ बोल नही सका। अब तक खडा था, अब सहसा शशि की चारपाई पर बैठ गया। उसका स्तब्ध मन शशि की बात का पूरा अभिप्राय समझने का प्रयास करने लगा—पर इससे आगे नहीं बढ सका कि शशि कहती है, वह अधिक नही जिएगी

शशि ने धीरे-धीरे आँखें बन्द कर लीं। शेखर आग की ओर देखता रहा। बहुत-सा समय बीत गया—कोयलों पर राख की परत पड गई शेखर अँगीठी को हिलाने के लिए उठनेवाला था कि उसे लगा, शशि की साँस काफी तेज चल रही है। उसने धीमे से पुकारा, "शशि—" और उसके माथे पर हाथ रखा और तत्काल खीच लिया। शशि को ज्वर हो आया था..

शशि ने कहा, "अभी चढ रहा मालूम होता है।"

शेखर ने एक कम्बल अपने बिस्तर से लाकर और उढा दिया, अँगीठी मे आग भडका दी, और फिर कमरे मे टहलने लगा

एक बार सूचनात्मक खडका करके उढकाए हुए किवाड खोलकर दादा घर मे आ गए, शेखर शशि के कमरे से निकलकर स्वागत करने बढा और एक साथ ही आतिथ्य के अनेक दायित्व उसे याद आ गए—

पर दादा ने कहा, "यह लो, तुम दोनो के लिए खाना बाजार से लेता आया हूँ—बहुत देर हो गई थी—"

शेखर कृतज्ञ-भाव से चुप रह गया।

"शशिजी की तबीयत ठीक है?"

"ऊँ—नही—उन्हे कुछ ज्वर है।"

दादा शेखर के कमरे मे जाकर सामान आदि रखने लगे, शेखर तश्तरियाँ लेने बढा।

*　　　*　　　*
* *　　　* *　　　* *

दादा ने बताया कि बडे तडके वहाँ से चले जायँगे—दिन निकलने से पहले दिल्ली से बाहर चले जायँगे और किसी छोटे से स्टेशन से गाडी पर सवार हो जायँगे। उनके जाते समय शेखर के जागने की जरूरत नही है, वे चुपचाप चले जायँगे, फिर कभी मिलना होगा तो अच्छा, नही तो—'नही तो फिर जैसा हो!'

जब सोने का उपक्रम करके वे नियमित साँसे लेने लगे तब शेखर चुपके से बाहर आया और शशि के कमरे मे गया। शशि का माथा छूकर देखा, ज्वर था। शशि सोई नही थी, शिथिल पडी थी थोडी देर उसका माथा सहलाकर वह फिर बाहर आया, अँगीठी मे कुछ और कोयले डालकर आँच भडकाकर शशि के कमरे मे रख दी, सिरहाने के पास चौकी पर पानी रखा, शशि से धीरे से कहा, "शशि, कुछ जरूरत हो तो मुझे बुला लेना—योही उठना मत" और क्षण-भर अनिश्चित खडा रहकर अपने कमरे मे जाकर लेट गया।

उसे लगा कि उसे रात-भर नीद नही आएगी, वह सोचता रहेगा—पर न जाने कब दिन की भटकन की प्रतिक्रिया ने उसे धर दबाया और वह सो गया। जब जागा तो हडबडाकर दादा के सिरहाने पडी रेडियम घडी देखी, चार बज रहे थे वह रात का सबसे ठण्डा समय होता है, यह सोचकर वह अँगीठी मे फिर से आग जलाकर शशि के कमरे मे रखने के विचार से उठा तो देखा, वहाँ लैम्प का तीखा प्रकाश है यद्यपि वह बत्ती धीमी कर आया था. लपककर वहाँ पहुँचा तो देखा, शशि एक कोहनी पर शरीर साधे लेटी-लेटी लिख रही है—लिख नही, लिखती रही है, और अब मानो थककर सिर झुकाकर विश्राम कर रही है, कलम अभी उसके हाथ मे है। पहली प्रवृत्ति हुई कि पढे, क्या लिख रही है, किन्तु उसे दबाकर

वह शशि को आराम से लिटाने के लिए आगे बढ़ा तो वह उठ गई, बैठी होकर उसने थकी हुई बाँह को सीधा किया और कागज उठाने लगी।

शेखर ने गहरे उपालम्भ के स्वर में कहा, "शशि."

शशि सहज भाव से बोली, "बस अब तो लिख चुकी—" पर शेखर के मुँह का पीड़ित-भाव देखकर कुछ लज्जित-सी हो गई "यह लिखना जरूरी हो गया था—अब और कुछ शैतानी नही करूँगी—शेखर, मैं बड़ी आज्ञाकारिणी हो गई हूँ अब तो—"

निरस्त्र-भाव से शेखर ने अँगीठी उठाई और जलाने ले चला।

खड़के से दादा जाग गए। उठकर बाहर आए और बोले, "मैं तो चुपचाप खिसकने-वाला था, आप मुझसे पहले जाग गए!"

शेखर अभी अँगीठी सुलगा ही रहा था कि वे मुँह-हाथ धोकर तय्यार हो गए। "अच्छा, शेखर, मैं तो अब चला। फिर कही मिलना अवश्य होगा—हमे तुम्हे अभी बहुत कुछ करना है!" तनिक हँसकर, "शशिजी से मेरा प्रणाम कह देना। उनका मैं कृतज्ञ हूँ—हालाँकि कृतज्ञता मे मैंने कष्ट-ही-कष्ट दिया है अच्छा—"

जल्दी से काले हाथ धोकर शेखर उन्हे द्वार तक पहुँचाने आया, पर विदाएँ लेने के अभ्यस्त दादा रुके नही, एक भागती मुस्कान उसे देकर चले गए।

शेखर ने धीरे-धीरे द्वार बन्द कर दिया, लौटकर अँगीठी उठाई और फूंकता हुआ शशि के कमरे की ओर चला।

अँगीठी रखकर कमरे का द्वार भी उसने उढका दिया, केवल खिड़की किंचित् खुली रह गई, फिर मानो वह सोचने-सा लगा कि अब क्या करे—

शशि हिली, अपने शरीर को ढीला छोडकर और फैलाकर उसने एक लम्बी साँस ली, कम्बल ठोढी तक खीच लिया और शेखर की ओर देखने लगी।

शेखर ने पूछा, "शशि, तुम आराम से हो? इस वक्त ठण्ड बढ जाती है, अँगीठी—" और रुक गया। शशि सुन नही रही थी, उसकी खोई-सी मुद्रा एक हल्की मुस्कान में घुल गई थी और उसने आँखे मूँद ली थी। शेखर चुपचाप उसका मुँह देखने लगा। एकाएक शशि ने आँखे खोली, स्थिर दृष्टि से शेखर पर टिकाईं और देखती रही। उसकी दीर्घ-भेदकता के आगे शेखर का अन्तर उद्वेलित हो उठा, उसने देखा—कुछ परम-सत्य, सीमातीत, परिव्याप्त

"शेखर, यहाँ आओ।"

शेखर बढकर चारपाई के पास आ गया।

"मेरे पास बैठ जाओ।"

किसी अज्ञात भावना से प्रेरित शेखर बढकर शशि के पैताने बैठ गया—शशि इतनी दूर, लोकातीत-स्वप्नमय, अशरीरी लग रही थी, मानो छूने से वायु मे घुल जायगी—

"नही",—कौन-सा रहस्य उसके स्वर में बोलता है!—"वहाँ नही, पास आओ!"

मन्त्रचालित शेखर आगे सरक आता है।

तब विना एक शब्द और कहे शशि अपनी ठोडी उठाती है, उसकी ऑखे अर्धनिमीलित है और ओठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती नही ---

क्षण-भर शेखर कुछ नही समझता, फिर एक बाढ उसके भीतर उमड आती है, और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओठो की ओर झुकता है---झुकते-झुकते उसकी आप्लवन-कारी आतुरता ही उसे सयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमे जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठो के निकट पहुँचते-पहुँचते वह ग्रीवा कुछ मोडकर अपना कर्णमूल शशि के ओठो से छुआ देता है। ओठ तप्त है---ज्वर से, उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे मे दौड जाती है, तब चेतना की एक नयी लहर से बाधित वह फिर झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु बे-झिझक ओठ चूम लेता है---निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन

शशि ने एक गहरी साँस ली और ऑखे बन्द कर ली, शेखर विमूढ और निश्चल, नीरव साँस लेता हुआ बैठा रहा। नीरवता मे वह अपना नाडी-स्पन्दन सुनने लगा, फिर उसे भ्रम हुआ कि वह उसका नही, शशि का हृत्स्पन्दन है---फिर लगा कि वह उन दोनो का नही, प्रत्यूष की आन्तरिक परिव्याप्त नीरवता का स्पन्दन है

रात की धूसर आच्छन्नता मे भोर की अरुणाली घुल आई

"शेखर ?"

"हूँ---"

"तुम मुझसे गाना सुना करते हो, अब मै कहूँ तो कुछ सुनाओगे-"

"मै, ? . "

"हाँ, गाकर नही, पढकर", आँख के इशारे से अलमारी जताते हुए शशि ने कहा, "वहाँ से एक काली-सी कापी निकालो---निचले खाने मे---"

शेखर ने कापी निकाली।

"मुझे दो---"

शशि ने कापी खोली, एक हाथ और ठोढी के सहारे कुछ पन्ने उलटकर एक स्थल चुना और कहा, "लो---यहाँ से---"

शेखर ने विस्मय से कापी ले ली---उसमे शशि के अक्षरो मे कविताएँ नकल की हुई थी---हिन्दी अग्रेजी, बँगला---

"और मत देखो---पढो---"

शेखर पढने को हुआ, आधी पक्ति पढकर रुक गया; फिर एक बार शशि के चेहरे की ओर देखकर धीरे-धीरे पढने लगा।

"I want to die while you love me
While yet you hold me fair,

While laughter lies upon my lips
And lights are in my hair.

I want to die while you love me.
Oh who would care to live
Till love has nothing more to ask
And nothing more to give?
I want to die—" *

एकाएक रुककर उसने कहा, "नही, शशि, मै नही पढूँगा यह—" और कविता की टेक का, और शशि के उस समय उसे पढवाने का गूढतर गुरुतर अभिप्राय उसकी आत्मा मे पैठ गया। I want to die while you love me.. "नही, बिल्कुल नही!"

"डरते क्यो हो, शेखर, यह तो पुरानी कविता है—मेरी हँसी तो पहले ही जा चुकी!—नही, शेखर, तुम्हें दु:ख नही पहुँचाना चाहती, ऐसे मत देखो मेरी ओर—हमने जाना ही बहुत देर से—मैंने तो कल रात मे—कल शाम को, जब तुम यमुनापार गए थे—"

शेखर ने कापी बन्द कर दी, उसे एक ओर रखकर हाथ बढाकर शशि के दोनो हाथ कसकर पकड लिए

देर बाद शशि ने कहा, "छोडो, मै अभी थोडे ही मर चली हूँ—" और मुस्करा दी। फिर स्वर बदलकर, "शेखर, तुम अब काम-धाम करना चाहो तो करो, जाओ, मै सो जाऊँगी।"

शेखर ने आँख उठाकर दिन की ओर देखा, कहना चाहा कि मुझे अब कोई काम नही है, सोचा कि सो सके तो शशि के लिए हितकर है, और चुपचाप उठकर बाहर आ गया, यद्यपि उसका निश्चय था कि वह आज कारखाने नही जायगा

नित्यकर्म के बाद चूल्हा जलाकर उसने दूध मे थोडा-सा दलिया बनाया, तीन सन्तरो

---

* "तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मै मर जाना चाहती हूँ—
जब कि मेरा रूप तुम्हारी आँखों मे सुन्दर है,
और मेरे ओठो पर हँसी है,
मेरे केशो मे कान्ति
तुम्हारे प्यार के रहते हुए ही मै मर जाना चाहती हूँ—
तब तक कौन जीना चाहेगा
जब कि प्यार के पास शेष रह जाय—
न कुछ माँगने को, न कुछ देने को?
मै मर जाना चाहती हूँ—"

का रस निकाला, फिर शशि के कमरे की ओर दबे-पाँव देखने गया। खिडकी से झाँककर देखा, शशि स्निग्ध नीद मे सोई थी

शशि ने वह कविता क्यो उस समय उससे पढवाई? I want to die while you love me शशि निरी भावुकता की बाते तो नही किया करती—तब क्या यह—सन्देश है? कि केवल सम्भावना है? कि भावना है—प्यार के प्रति कृतज्ञता की कि—पूर्व-सूचना है

उसने अपने कमरे मे जाकर मौसी को एक छोटा-सा पत्र लिखा कि बहुत दिन से समाचार न मिलने से वे दोनो चिन्तित है, कि और सब ठीक चल रहा है, कि शशि अस्वस्थ है, और हो सके तो वे थोडा-सा रुपया भेज दे। एक बार उसका हाथ अटका कि वह पहले का अभिमान क्या हुआ, किन्तु उस अभिमान की यथार्थता उस समय किसी तरह उसके मन के आगे स्पष्ट न हो सकी उसने लिफाफे पर पता लिखा, एक बार फिर शशि की ओर झाँककर देखा, फिर धीरे से बाहर निकलकर कुछ दूर पर लेटर-बक्स मे डालने चला।

शशि अभी जागी नही थी, उसके माथे पर प्रस्वेद की बूँदे थी ज्वर उतर रहा है शेखर धीरे से कमरे के भीतर गया और शशि के सिरहाने जमीन पर बैठ गया। बाहर कई-एक काम करने को थे, कमरे मे कोई काम नही था जब तक शशि सो रही थी, किन्तु शेखर को उस सोए हुए चेहरे से तत्काल ही बहुत कुछ कहना था

* * *

यह क्यो है कि जीवन के तीव्रतम इन दिनो की स्मृति मे मै बार-बार दुविधा मे पड़ जाता हूँ कि क्या सचमुच हुआ, और क्या हुआ नही, केवल सोचा गया? बाहरी और भीतरी जीवन ऐसे उलझ गए है कि उनको अलग-अलग नही कर पाता—शायद आतरिक जीवन का दबाव इतना तीव्र हो गया था कि वह बाह्य की भौतिक सीमाएँ तोड-तोडकर फूटा पडता था—न होकर भी तीव्रतर सत्य था, यथार्थ था—यथार्थ है

"सुनो, शशि, मुझे तुमसे बहुत कुछ कहना है। तुम जागो नही, सोई रहो, तुम सोई-सोई भी सुन लोगी जो मै कहना चाहता हूँ—क्योकि मुझे वह तुम्हारे कानो से नही कहना, तुम्हारे ओठो से कहना है—जो आज मेरी ओर बे-झिझक उठे है, जिन्हे कुछ भी कहने मे झिझक मुझे नही है—जब वे सोते है, तब और भी नही

"शशि, तुमने मुझे प्यार दिया है—तुमने मुझे वर दिया है वर देने से पहले परीक्षा क्यो नही ली? लो परीक्षा मेरी—देखो कि मै अधिकारी भी हूँ कि नही

"शशि, शक्ति मेरे पास रही है, पर मैने उसे जाना नही, आजीवन मै विद्रोही रहा

हूँ, पर वरावर मैं अपनी विद्रोही शक्ति को व्यर्थ बिखेरता रहा हूँ एक दिन तुम्हारे ही मुख ने मुझे यह दिखाया—वताया कि लडना स्वयसाध्य नही है, लडने के लिए लडना निष्परिणाम है, कि विद्रोही किसी के विरुद्ध होना चाहिए—ईश्वर, समाज, रोग, मृत्यु, माता, पिता, अपना-आप, प्यार, कुछ भी हो जिसके विरुद्ध विद्रोह किया जा सके तव मेरे विद्रोह को धार मिली—वह विरुद्ध हुआ मै प्रतिद्वन्द्वी हुआ

"किन्तु वह आधा ज्ञान था, इसलिए मेरा विद्रोह भी आधा था फिर—फिर तुम्ही ने सिखाया कि विरुद्ध लडना ही पर्याप्त नही है मैने देखा, सर्वत्र कलुष है, ह्रास है, पतन है—कि एक अकेला समाज ही नही, जीवन आमूल दूपित है—ईश्वर, मानव, सब कुछ आमूल दूषित—दूषित और सडा हुआ, विरुद्ध लडने के लिए कुछ भी नही है। या सब कुछ है, जो कि एक ही वात है—मिट्टी को काटा जा सकता है, पर दलदल को नही—उसमे धँसना ही धँसना है किसी के विरुद्ध लडना पर्याप्त नही है, किसी के लिए लडना भी जरूरी है

"किसी के लिए लडना किन्तु किसके ? जव सभी कुछ सडा है, तो क्या है जिसके लिए लडा जाय "

"तव तुमने क्या निश्चय किया, शेखर ?"

"मुझे आवश्यकता नही पडी—तुम फिर आ गई—तुम मेरे जीवन मे चली आई मै नही जानता था कि किसके लिए लडूँ, पर तुम मेरे पास थी, तुम्हारे लिए मै लडने लगा—या उद्योग करने लगा लडने का। शशि, मै निरन्तर सघर्ष करता आया हूँ—तुमसे भी लडता आया हूँ, पर अव स्वीकार करता हूँ कि मैने तुम्हे प्यार किया है। लडने मे अपना श्रेष्ठतम मै देता आया हूँ, क्योकि मैने तुम्हारे लिए दिया है। वीच मे शका हुई थी कि यह आदर्श घटिया है, फिर दूर हो गई, क्योकि तुम किसी कोरे आदर्श से कम नही थी किन्तु फिर मेरे भीतर एक भूख जागी, और उससे फिर एक नया सदेह शशि, क्या मैने पाप किया है ?"

"शेखर, मैने सदा तुम्हे प्यार किया है। पाप मैने कभी नही किया।"

दो असम्बद्ध वाक्य इनका अभिप्राय धीरे-धीरे ही शेखर के प्राणो मे उतरा किन्तु जव पूर्ण-रूपेण उतर गया, तव—

"और शशि—अव जव मैने लडने के लिए साध्य पाया तो—शशि, शशि, तुम क्या सचमुच चली जाओगी, शशि—"

हठात् शेखर ने शशि का माथा जोर से पकड लिया शशि जाग गई, उसकी उँगलियाँ शशि के हाथो को टटोलती हुई आई—

"शशि, क्या तुम सचमुच चली जाओगी—क्या मेरे जीवन मे कभी कुछ सार नही होगा—"

शशि ने उसके हाथ को थपकते हुए कहा, "होगा, शेखर, है। मेरे बाद भी होगा। तुम नही हारोगे—कभी नही हारोगे—मेरे लिए शेखर, मेरे लिए "

"मैं जानता हूँ, शशि रुकना मेरे लिए नही है—तुमने मुझे दिया नही। पर चलूँगा कैसे, मैं नही जानता—मुझे नही दीखता—किसके लिए या कि तुम्हारे ही लिए होना—मेरे बिना देखे, बिना जाने किसी तरह तुम्हारे लिए, तुम्हारे ही लिए, शशि "

शशि का माथा शीतल, चेहरा स्निग्ध और प्रशान्त, इतना शान्त, इतना स्तब्ध कि शेखर आतंकित भर्राए स्वर मे, "शशि, तुम—चली गई?" फिर अपने प्रश्न की मूर्खता पर लज्जित, चकित पर शशि नही चौंकती, उसकी उँगलियाँ शेखर के हाथ पर फिर आती है—

क्या वातावरण बदल गया है? क्या धूप-छाँह के कारण भ्रम होता है? क्यो शशि के माथे पर हल्की-हल्की छायाएँ थिरककर दौड़ जाती है जब कि उसकी अनझिप आँखे बिलकुल स्वच्छ है और उसके ओठ निश्चल स्निग्ध? क्यो उसके बाएँ हाथ की उँगलियाँ कभी-कभी छाती पर पड़ी-पड़ी ही सिकुड-सी जाती है जब कि वक्ष की गति नियमित है?

"शशि, दर्द होता है?"

आँखो की झपक कि नही।

किन्तु क्यो उसके हाथ के नीचे शशि के शीतल माथे पर बल आते-आते रह जाते है, क्यो उसे लगता है कि शशि काँप-सी रही है?

"बताओ, शशि, क्यो, क्या होता है? क्या होता है "

तब शशि हाथ उठाकर उसके बाल पकडकर उसका सिर अपनी ओर खीच लेती है और कहती है, "सुख, शेखर, सुख "

दिन, दोपहर, साँझ, रात, सवेरा, दिन, दोपहर, साँझ, रात, प्रत्यूष ज्वर, प्रस्वेद, क्लाति, स्निग्ध ताप, कँपकँपी, ज्वर, स्नेह-श्लथ हाथ, ज्वर, प्रस्वेद, शैथिल्य होलियो की हवाएँ, स्निग्ध-शीतल, अनवरत पतझार, छिटफुट रूई के गाले-से सफेद बादल, आवारे, निश्चिन्त, निर्मोही, धूल-धूसर चक्रवात डाक्टर, राख-भरी चिलमची, चार्ट और बोतले, फलो का रस मौसी की ओर से गौरा के हाथ की लिखी हुई चिट्ठी, —'माँ की आँखो मे घोर कष्ट है इसलिए वे स्वय नही लिख रही, तुम दोनो को बहुत-बहुत आशीर्वाद दे रही है और कहती है कि शशि का हाल जल्दी-जल्दी लिखना, इतनी-इतनी देर से पत्र लिखना अच्छी बात नही है। परमात्मा करे वह जल्दी अच्छी हो जाय सौ रुपया भेजा है ' फिर गौरा का अपनी ओर से, 'मौसी कहती थी कि रुपया मनीआर्डर से भेज दूँ, पर मै चिट्ठी मे नोट डालकर रजिस्ट्री से भेज रही हूँ क्योकि यहाँ से मनीआर्डर शायद तुम न चाहो। शशि के स्वास्थ्य की मुझे बहुत चिन्ता है, चिन्ता की बात न होती तो तुम भला लिखते? मै शुश्रूषा के लिए आ जाऊँ? माँ से नही पूछा, पर तुम कहोगे तो जरूर आ जाऊँगी चाहे

जो हो—सब हाल जल्दी लिखना 'गौरा बडी समझदार हो गई है—इतनी-सी लडकी—हल्ला-गुल्ला, मोटरो की दौड और घरघराहट, नारे, सफेद टोपियाँ, लाल कमीजे, 'काला कानून', 'भगतसिह को फाँसी हो गई।' 'गाधीजी की भिक्षा अस्वीकार !'.

दोपहर, साँझ, रात, और सब असत्, मिथ्या, भ्रान्ति—बडी दूर की मरीचिका निकट केवल दो बडी-बडी स्वाति-सी आँखे, तारे-सी तरल झिलमिलाहट जो व्यथा को छिपा लेती है, व्यथा, चिन्ता, चिन्ता, डर

मै शेखर की कहानी लिख रहा हूँ, क्योकि मुझे उसमे से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने है, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मै अपनी और शेखर की दूरी बनाए नही रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्तकार दोनो एक हो जाते है, क्योकि अन्तत उसके जीवन का अर्थ मेरे ही जीवन का तो अर्थ है, और जो सूत्र मुझे पकडने है, खोजने है, और उनके प्रति मै अनासक्त नही हूँ, नही हूँ।

इसमे इतिहासकार की पराजय है तो हो। इतिहास मेरे लिए कुछ नही है, घटनाओ का अनुक्रम भी कुछ नही है। जीवन का अन्तिम मान है जीव—हमारे जीवन का मान है यह अद्भुत सृष्टि मानव-प्राणी—और प्राणी की प्राणवत्ता का मान है उसका प्यार—उसकी अपने आपसे बाहर प्रसारित होने की, निछावर होने की शक्ति कथा का महत्त्व मेरे लिए नही है, जिस चरित्र की कथा कहता हूँ, उसीका महत्त्व है, और इस बात का कि मै स्वय जाने से पहले उसका स्वीकार कर जाऊँ, साक्षी दे जाऊँ जब मै नही रहूँगा, तो यही एक स्मारक मै उसके नाम पर खडा कर सकता हूँ। अगर उसके जीवन की परिस्थितियाँ भिन्न रही होती, तो उसका भविष्य भी रहा होता—शायद वह एक कुटुम्ब की अधिष्ठात्री होती और उन सबके जीवन मे प्रकट होता वरदान-सा वह पुनीत वत्सल प्यार जो एक विशाल आत्मा की देन होता है पर वह नही हुआ, उस विशाल आत्मा की सामर्थ्य को निकट से केवल मैने देखा, मैने जो कि उसके टूटने का निमित्त हुआ

किन्तु यह साक्षी, यह ज्ञापना, अपने अपराध के धोने के लिए नही है, प्रायश्चित्त के लिए नही है। उस प्यार मे अपराध भी डूब सकते थे इतना विशाल था वह. मै शेखर का अपराध छोटा करके नही दिखाता, क्योकि उसके पीछे शेखर के प्यार की तन्मयता थी, उस शेखर की जो मै हूँ

चिन्ता, चिन्ता, डर निश्चय शशि शायद पहले जान गई थी, किन्तु एक दिन एकाएक शेखर ने जान लिया अनदेखी दिखाना शायद उचित या आवश्यक हो, अनदेखी करना लक्ष्य नही है कारखाने जाना उसने कई दिन से छोड दिया था, अब उसने शशि के पास से हिलना ही छोड दिया, उसी कमरे मे अपना बिस्तर ले आया, दो घण्टे रात मे और एक-डेढ़ घण्टा दिन मे कभी अवसर मिलने पर वह सो लेता, नही तो निरन्तर शशि के

सिरहाने निश्चल बैठा रहता, वह जागती तो उसका माथा या छाती पर पडा हुआ हाथ सहलाता रहता, सोने लगती तो सिमटकर अचल हो जाता कि बाधक न हो, अनिश्चिन तन्द्रा मे होती तो एकदम उसका चेहरा देखा करता—और ऐसे देखने के अवसर क्रमश बढते जाते थे या कभी शशि उसे आराम करने को कहती, तो अपनी चारपाई पर औधा लेटकर, कोहनियाँ टेककर और हथेलियो पर ठोडी जमाकर उसे देखा करता

रोगी की शुश्रूषा एक विज्ञान है, बुद्धि पर आश्रित है, उसमे भावना के लिए स्थान नही है। पाश्चात्य सभ्यता से आक्रान्त लोग उस भारतीय माँ पर हँसते है जो रोगी बच्चे को डाक्टर के पास नही ले जाती, छाती से चिपटाकर रात-भर सुन्न बैठी रहती है निरा प्रवृत्तिजन्य प्रेम—पशु-माता की आहत शिशु के लिए निर्बुद्धि व्याकुलता—ये वैज्ञानिक शुश्रूषा नही है, पर प्राणी को प्राणी की पुकार भी एक औषध है जो एकमात्र औषध नही है, पर अनिवार्य तो है—कम-से-कम विज्ञान-सी अनिवार्य—धमनी के स्पन्दन-सी अनिवार्य और जहाँ विज्ञान अपनी लाचारी जानता है वहाँ इस मूल वृत्ति की शक्ति है जो लाचार नही है—मृत्यु के आगे भी नही क्योकि मृत्यु सबसे पहले मृत्यु-भय है, और प्यार के वातावरण से घिरे हुए प्राण को वह भय छू नही पाता

डाक्टर दिन मे दो बार आते, दवा दे जाते या भेज देते, शेखर के दल के दो युवक बारी-बारी से खाना पहुँचा जाते और समाचार पूछ जाते, कभी बाहर के समाचार बता जाते, जो शेखर के मन मे बैठकर भी न बैठते, क्योकि वहाँ उनके लिए स्थान न होता

शेखर बहुत कम बोलता, शशि लगभग बिलकुल नही बोलती, केवल जब-तब आँखो से एक आश्वासन का सँदेसा शेखर को दे देती रोग के प्रत्येक नये आक्रमण के बाद—जब कम्पन के बाद ज्वर और ज्वर के बाद प्रस्वेद और शिथिलता का एक चक्र पूरा हो जाता—जब शशि के क्लान्त हाथ उसके वक्ष पर पडे-पडे काँप-से जाते, उँगलियाँ सकुचकर खुल जाती और बन्द आँखो पर पलके सिकुडकर फिर पूर्ववत् हो आती, तब शेखर को ध्यान आता कि शशि को प्रसन्न रखने के लिए और पीडा से उसका ध्यान हटाने के लिए कुछ मनोरजक बातचीत करना आवश्यक है। वह यत्न करता कि कुछ ऐसी बात करे, पर उसका मन सूना हो जाता, मनोरजक कोई बात ही उसे न सूझती। तब वह टटोलकर शशि का हाथ पकड लेता और धीरे मे कहता, "शशि, घबरा मत, मै तेरे पास हूँ—" शशि आँखे खोलकर एक बार उसकी ओर देख लेती, उस दृष्टि मे बडी हल्की-सी हँसती करुणा होती—"मै घबराती हूँ ? तू मत डर, मै तेरे पास हूँ "

और इस प्रकार दीप की बाती चुकती जाती, पर शेखर बैठा आलोक को देखता जाता

रात लम्बी थी, पर बीत चली थी, अँगीठी बुझ गई थी, शेखर जागता था शशि ने धीरे से पुकारा, "शेखर—"

शेखर उसकी ओर झुक गया कि शशि की बात अच्छी तरह सुन ले, कुछ उसे दोहराना न पड़े।

"शेखर—अलमारी में—चिट्ठी।"

आशय समझकर शेखर ने अलमारी खोली, निचले खाने में मोड़कर रखे हुए कई-एक पन्ने निकाले और पूछा, "यह पत्र कहीं भेजना या किसी को देना चाहती हो?"

आँख की झपकी कि हाँ।

"किसे—मैं भेज दूँगा—"

आँखें शेखर पर स्थिर, ओठ धीरे से खुलते हैं, "पढ़ो।"

न जाने किसे शशि ने पत्र लिखा है—क्या पढ़ना उचित है? दुविधा में वह पन्ने खोलता है, अटकते हुए पहली पंक्ति पढ़ता है (—क्या शशि ने रामेश्वर को लिखा है—कैसे लिख सकती है—) कि एक बिजली उसके शरीर में दौड़ जाती है, इतना अन्धा वह कैसे हो सका शशि ने उसे लिखा है, शेखर को—शेखर को!

इस ज्ञान तक पहुँचकर शेखर रुक गया, उसका हाथ काँपने लगा, आगे न पढ़कर उसने दृष्टि शशि पर टिकाई—

"नहीं, पीछे नहीं, अभी—"

एक साँस में शेखर पढ़ गया—इतनी जल्दी पढ़ने से उसका अभिप्राय कम समझ में आया हो, सो नहीं, उसके शब्द—वाक्य-के वाक्य तपी हुई धातु की तरह उसकी चेतना को दाग गए और उसके कानों में गूँजने लगे साथ-साथ घटनाएँ भी घटने लगीं, उन घटनाओं में शेखर अपने पूरे व्यक्तित्व के साथ भागी था, पर वह गूँज भी साथ-साथ थी, मानो दो जीवन साथ-साथ जिए जा रहे हों, एक तीव्र क्योंकि वह तत्काल का जीवन है, दूसरा तीव्रतर क्योंकि वह तत्क्षण से पिछड़ा हुआ था और उस क्षण को पकड़ लेना चाहता है

' तुम कुछ ही घण्टों के लिए गए थे, लौट आए, पर इतनी देर में मैंने कितनी बार तुम्हें खोया और पाया, विसर्जन किया और फिर अपने हाथों बना खड़ा किया तुम्हारे स्नेह को मैं क्षण-भर भी नहीं भूली, शेखर, पर जब क्षण का उद्वेग चला गया तब मैंने तुम्हारे स्नेह से भी बड़ा कुछ देखा, शेखर, तुम्हारा भवितव्य। स्नेह से बड़ा इसलिए कहती हूँ कि वह स्नेह उसका एक अंग है उस क्षण की मैं कृतज्ञ हूँ

'शेखर, यह पत्र तुम्हें लिख रही हूँ कि तुम मेरे बाद पढ़ो—बाद में जब तुम पढ़ोगे तब शायद पूछोगे कि शशि ने यह सब मुझे पहले क्यों न बताया जब यह इतना तीखा अभिशाप न होता—पर यही ठीक है शेखर यदि मुझे बहुत जीना होता, तब और बात थी, पर उस स्पष्ट दृष्टि में मैंने यह भी देखा कि कुछ दिन ही और बाकी हैं इसीलिए अब भी इस पत्र में अपने प्यार की बात नहीं करूँगी—जो चला गया है, उसका प्यार केवल वेदना है और वेदना को चुप रहना चाहिए केवल तुम्हारे प्यार की बात करूँगी

'प्यार कला भी हो सकता है, शेखर, वह आदर्श बुरा नहीं है, कल्याणकर है, मैं

मानूँगी, पर मेरे लिए वह कला से भी अधिक अन्तरग और जरूरी हो गया था—इसे अह-कार से नही कहती, अपनी लाचारी मानती हूँ कला का आनन्द सयत आनन्द है, मैंने अपना समूचा व्यक्तित्व, समूचा इह एक ही बार स्रुवा मे भरकर उँडेल दिया—वह सयत नही था, इसीलिए शायद—आनन्द भी नही हुआ—यद्यपि इतनी वडी वेदना हुई कि उसे ट्रेजेडी भी नही कह सकती।

'एक बार मैंने मान से कहा था, "क्या मेरे लिए लिख सकते हो ?" तुमने कहा था कि आदर्श पर्याप्त नही है, आदर्शो का एक स्थूल प्रतीक चाहिए, और तव मै प्रतीक बनने को आ खडी हुई थी शेखर, उसमे अहकार नही था—यह दावा नही था कि मै तुम्हारे जीवन का अथ और इति हूँ—अपने को अन्त मानने का दुस्साहस मैंने नही किया केवल इतना था कि अपना जीवन नष्ट करके—होम कर देकर, राख कर देकर—मैंने माँगा था, चाहा था, कि वह तुममे फलित हो, तुममे अपनी सिद्धि पाए। तुम हो गए थे प्रतीक, मेरे लिए मेरे अपने जीवन के प्रतीक—हमारे आस-पास हहराते हुए वैफल्य और कुण्ठा और निराशा और खण्डन के सागर मे मेरे अवस्थान के, मेरे सतरण के प्रतीक इसीलिए मैंने कहा था कि मेरे लिए लिखो—तुम्हारे जीवन मे आशा देने के लिए नही, तुमसे आशा माँगने के लिए

'तुमने मुझे जो दिया, वह मैंने कृतज्ञ होकर स्वीकार किया—वर मानकर, अधिकार मानकर नही, यह कल्पना मैंने नही की कि मै उसे सदा के लिए बाँध रखूँगी। तुम्हारी आवश्यकता मुझे है, क्योकि मेरा खण्डित व्यक्तित्व तुम्हारे द्वारा अभिव्यजना का मार्ग पाता है—तुम्हारे द्वारा, और तुम्हारे लिए मै जो स्वप्न देखती हूँ उनके द्वारा, किन्तु मै जानती हूँ, देखती हूँ, कि तुम खण्डित नही हो, और इसलिए मेरा निश्चय है कि जहाँ तक मेरा वश है, वह मेरा प्यार नही होगा जो तुम्हे वन्दी बनाने का यत्न करेगा शेखर, मेरा तुम पर अगाध स्नेह है, पर मै चाहती हूँ कि तुम जानो कि मैंने तुम्हे बाँधा नही, बाँधती नही— न अब, जब मै हूँ, और न—पीछे

'तुम्हारा अपना भविष्य है, शेखर, मेरा भविष्य तुम और केवल तुम थे। उम अपने भविष्य की खोज मे यदि—'

शेखर शशि की ओर देखता है कि यह सब अभी तुम्हारे सामने पढना अनिवार्य है या—पर देखता है, उस पत्र से भी कुछ अधिक, तात्कालिक शशि की आँखे कह रही है, वह उसके बहुत पास चला आता है, शशि के ओठ कुछ कहना चाहते है, पर निश्शब्द है, शायद निश्शब्द ही कुछ कहना चाहते है—शेखर उन पर अपने ओठ रख देता है और उनका कम्पन स्थिर हो जाता है, शेखर शशि की आँखो से आँखे मिलाता है और धीरे-धीरे उठता है—जानता है कि शशि की बात उसने सुन ली, चूमे जाने-भर की क्षमता उन ओठो मे शेष थी—उसके बाद और शब्द नही, केवल स्नायविक कम्पन, जिन्हे मानो वश

करने का उद्योग सकल्पना धीरे-धीरे व्यर्थ मानकर छोड़ देती है—सब तनाव और खिचाव और कर्पणो के एक परम शमन मे—

'उस अपने भविष्य की खोज मे यदि तुम्हे मेरी याद आए तो अपने को इसलिए अपराधी मत ठहराना कि मेरे बिना तुम अकेले आगे चल सके, तुम चल सके, यह मेरी पराजय नही, मेरी अन्तिम विजय होगी '

शशि का सारा शरीर नि स्पन्द जड हो गया था सिवाय आँखो के—

'कभी, एक दिन, एक क्षण-भर के आदर्श माने जाने का सौभाग्य हर किसी को मिल जाता है, पर चिरन्तन आदर्श कोई नही है, न हो सकता है। इसलिए जो अपने प्रिय के प्रति 'चिरन्तन' सच्चा है, वह अवश्य किसी आदर्श से च्युत है, और जो आदर्श के प्रति निष्ठावान् है, वह अवश्य कभी-न-कभी प्रिय को झर जाने देगा साधारण मानव और कलाकार—विद्रोही मे यही अन्तर है. मै नही चाहती कि तुम मानव कम होओ, शेखर, किन्तु अगर तुममे उसकी क्षमता है, तो उससे बडे होने की अनुमति—स्वाधीनता मै तुम्हे सहर्ष देती हूँ '

आँखे शशि की मरी नही, उनके भीतर का उदार निर्भय आलोक, समिधा चुक गई देखकर अपने भीतर तिरोभूत हो गया

'हम दोनो वर्षो से एक भवन बनाते रहे है, तुम और मै, जिसमे न तुम रहोगे, न मै किन्तु हम उसमे नही रहेगे, इसी मात्र से वह कम सुन्दर नही होगा '

इस प्रशान्ति मे, सिमटे हुए आलोक मे भी क्या क्रन्दन है, चीत्कार है ? स्तब्ध-प्राण शेखर का देह-यन्त्र खिडकी की ओर बढा, खिडकी खुल गई, दिन का प्रकाश भीतर भर आया शेखर ने मुडकर देखा, लाल किरणो से धुलकर शशि का चेहरा जीवन के रग से चमक उठा था

शेखर ठिठका रह गया—स्तब्ध, किसी अतिमानवी अलौकिक परिव्याप्ति के बोध से आप्लावित, किसी अन्तर्भव सत्य के उदय का प्रतीक्षमाण

सहसा ज्ञान आया

*　　　*　　　*
**　　　**　　　**

किन्तु इससे आगे कहानी नही है। अनुक्रम नही है। जीवन ने अर्थ खो दिया है, यथार्थता, व्यवस्था, गति सब कुछ खो दिया है। निरा अस्तित्व—एक क्षण से दूसरे क्षण तक एक अणु-पुंज का बने रहना—वह भी मिट गया है। मै एक छाया हूँ, एक स्वप्न, एक निराकार आक्रोश, एक वियोग, एक रहस्य भावना से भावना तक भटकता हुआ एक विचार—हर जगह आग देता हुआ और स्वय ज्वाला मे झुलसता हुआ, जल उठता हुआ—निरन्तर उठता हुआ, उठता हुआ, न बुझता हुआ, न मरता हुआ

'मृत्यु, तू भी तो छाया है—ग्रस ले इस छाया को यदि सकत है तुझमें—यदि साहस

है मशाल को तोड दे, कुचल दे, मटियामेट कर दे—देह मशाल है और उसे एक दिन जलकर मिटना ही है, पर उसकी लौ तो ऊपर उठती है —वह, और वह, और वह—तेरे चगुल से परे, तुझे चुनौती देती हुई, अक्षय, मुक्त

ग्रस उसे, छू उसे यदि सकत है तुझमे, यदि साहस है

* * *
** ** **

एक युवक आया।

लाहौर से दादा ने दस्ती चिट्ठी भेजकर शेखर से अपील की थी कि अगर हो सके तो वह लाहौर आ जाय—दल के कुछ सदस्य जो बन्दी थे, कुछ दिनो बाद काले पानी भेजे जानेवाले है, यदि स्वाधीनता के आन्दोलन को जीवित रखना है, तो इस जीवित समाधि से उन्हे बचाना आवश्यक है, और इस कार्य मे शेखर का सहयोग अनिवार्य है शशि की तबीयत कैसी है, वे नही जानते, पर वे उसकी देख-रेख और चिकित्सा का पूरा प्रबन्ध करने को तय्यार है—

युवक ने समवेदना के स्वर मे कहा, "दादा ने चिट्ठी दी तब वे नही जानते थे आपको गहरा आघात पहुँचा है पर आप चलिए, काम मे आपको सान्त्वना मिलेगी, और काम बडी तपस्या का है यदि शशि बहिन होती तो वे जरूर यही कहती—और मेरा विश्वास है कि अब भी इससे उनकी आत्मा को शान्ति मिलेगी—"

शेखर ने पहले सुना नही था, अन्तिम वाक्य सुना, चाहा कि एक थप्पड मार दे इस युवक के मुँह पर जो इतनी आसानी से बात कर सकता है, फिर कहा केवल इतना कि 'यह सब सँभालना होगा—और कारखाना—'

* * *
** ** **

प्रणाम, यमुना, प्रणाम, पूर्वदिशा, प्रणाम, वैशाख के फूले हुए पलाश और बबूल, प्रणाम, झाऊ के उदास मर्मर और धूल के बगूले, प्रणाम, दो पैरो से लाख बार रौंदे हुए रेतीले नदी-तट, प्रणाम, बही हुई मुट्ठी भर राख मैं सोचता था, कि यदि ऐसा न होकर वैसा होता, और वैसा होता, और वैसा होता, तो पर आज सोचता हूँ कि नही, आज लगभग माँग रहा हूँ कि यदि फिर कुछ हो तो ऐसा ही हो, छाया, हम-तुम भी ऐसे ही हो—अलग पर सदा एक दूसरे की ओर अग्रसर होने मे सचेष्ट, साधारण अभिधा मे गैर, पर वास्तव मे अखण्ड विश्वास मे बँधे, धमनी के एक

छाया, तुम्हे भूलने नही जाता, तुम साथ चलो—पहले मौसी के पास और गौरा के पास, फिर—आगे, कर्म में विस्मरण नही है, शशि, कर्म मे तुम हो, चिरन्तन प्रेरणा—चिरन्तन क्योकि मुक्त और—मोक्षदा

———